

महादर्शन

मूल कन्नड

देवुडु नरसिंह शास्त्री

हिंदी अनुवाद

एच. वी. रामचंद्रराव

महादर्शन देवुडु नरसिंह शास्त्री की अंतिम महत्त्वपूर्ण कृति है। *महादर्शन* याज्ञवल्क्य प्रवर की गाथा है। वैदिक मंत्रद्रष्टा ऋषियों तथा उपदेष्टा आचार्यों में महर्षि याज्ञवल्क्य का स्थान सर्वोपरि है। महान अध्यात्म-वेत्ता, योगी, ज्ञानी, धर्मात्मा तथा रामकथा के मुख्य प्रवक्ता याज्ञवल्क्य को सूर्यदेव की प्रत्यक्ष कृपा प्राप्त थी। पुराणों में इन्हें ब्रह्मा का अवतार बताया गया है। श्रीमद्भागवत में आया है कि ये देवरात के पुत्र हैं। तुलसीदास जी ने याज्ञवल्क्य को परम विवेकी कहा है।

इन्होंने वैशंपायन जी से यजुर्वेद संहिता एवं वाष्कल मुनि से ऋग्वेद संहिता पढ़ी; किंतु वैशंपायन के रुष्ट हो जाने पर यजु: श्रुतियों को वमन कर दिया तब सुरम्य मंत्रों को अन्य ऋषियों ने तीतर बनकर ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात आपने सूर्यदेव से वेदाध्ययन किया। यजुर्वेद की वही शाखा जो तीतर बनकर ग्रहण की गई थी, 'तैत्तिरीय शाखा' के नाम से विख्यात है।

सूर्यदेव ने उन्हें दर्शन दिया, अश्व रूप में, इसी कारण यजुर्वेद की एक शाखा 'वाजसनेय' और मध्य दिन के समय प्राप्त होने से 'माध्यंदिन' शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस शुक्ल यजुर्वेद-संहिता के मुख्य मंत्रद्रष्टा ऋषि आचार्य याज्ञवल्क्य हैं।

शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि कृतियाँ याज्ञवल्क्य जी का लोक को उपहार है।

महादर्शन उपन्यास याज्ञवल्क्य के जीवन के विभिन्न सोपानों की न सिर्फ़ व्याख्या करता है, बल्कि वाद-विवाद-संवाद की मीमांसा भी उपस्थित करता है। याज्ञवल्क्य-गार्गी संवाद तो इस कृति की उपलब्धि है ही, साथ ही ऐसे अनेक प्रसंग और कथाएँ हैं जिनमें 'महामानव के निर्माण' एवं 'परम मुक्ति' के अभीष्ट प्रश्न अपने समस्त उत्तरों के साथ कथारूप प्राप्त कर सके हैं।



महादर्शन

मूल कन्नड

देवुडु नरसिंह शास्त्री

हिंदी अनुवाद

एच.वी. रामचंद्र राव

साहित्य अकादेमी

Mahadarshan: Hindi translation by H.V. Ramchandra Rao of Kannada novel by Devudu Narsimha Shastri, Sahitya Akademi, New Delhi (2012), ₹ 225.

प्रथम संस्करण : 2012

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001

विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001

वेबसाइट: www.sahitya-akademi.gov.in

ई-मेल: sahityaakademisales@vsnl.net

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई-400 014

4, डी.एल. ख़ान मार्ग, कोलकाता-700025

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरु-560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 978-81-260-3233-4

मूल्य : दो सौ पच्चीस रुपये

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दि

अनुवादक की ओर से

देवुडु नरसिंह शास्त्री जी कन्नड के मूर्धन्य लेखक हैं जिन्होंने वेदकालीन सामग्री का बड़ी गंभीरता से अध्ययन किया । उसे उपन्यास विधा में कन्नड सारस्वत लोक को उपहार–रूप में अर्पित किया। इस क्रम में उनके तीन उपन्यास हैं– *महाब्राह्मण, महाक्षत्रिय* तथा *महादर्शन* । *महाब्राह्मण* क्षत्रिय कश्यप की कहानी है जो साधना से महाब्राह्मण बना। *महाक्षत्रिय* नहुष की कहानी है जो मानव होते हुए भी अपनी योग्यता के बल पर स्वर्ग का अधिपति देवेंद्र बना। *महादर्शन* याज्ञवल्क्य प्रवर की गाथा है जिन्होंने वेदों को नया आयाम दिया और बृहदारण्यक जैसे उपनिषद की रचना की । मैंने *महाब्राह्मण* का अनुवाद हिंदी में किया तो 'देवुडु प्रतिष्ठान' ने उसे प्रकाशित किया। *महाक्षत्रिय* का मेरा अनुवाद उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने छापा है। अब श्री देवुडुजी की अंतिम कृति *महादर्शन* आपके हाथों में है। मुझे भरोसा है कि इन तीनों अनूठी कृतियों का हिंदी के सुविज्ञ पाठक स्वागत करेंगे।

कन्नड भाषा की इस अपूर्व कृति का हिंदी अनुवाद साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली से प्रकाशित हो रहा है तो इसका श्रेय अकादेमी के प्रधान सचिव श्री ए. कृष्णमूर्ति जी एवं *दस्तावेज़* पत्रिका के संपादक हिंदी के प्रकांड विद्वान श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जी को मिलना चाहिए। मैं इन दोनों सुहृदों के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद देवुडुजी के सुपुत्र श्री देवुडु गंगाधर जी की प्रेरणा से किया गया। मैं उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

एच.वी. रामचंद्र राव

महादर्शन

दो प्रहर व्यतीत हो चुके थे; रात्रि तृतीय प्रहर में पदार्पण कर चुकी थी। संसार का जनसमूह शांत हो निद्रा देवी की कृपा-नीड़ में सोया हुआ था। चहुँओर नीरवता का राज्य था; सारा वातावरण मौन में स्नात था। वृक्ष स्वयं में आश्रित पक्षिसंकुल को अपने क्रोड में छिपाए थे, जो भयभीत शिशु सदृश किसी कोने में दुबके मूक हो चुके थे। कुछ दूर पर एक छोटी-सी झरनी बालुका के बीच में से बड़े घर की पुत्र-वधू सरीखी लुक-छिपकर बहुत मद्धिम शोर करती हुई बह रही थी। ऊपर नक्षत्र अशंक प्रकाश बिखेरे, घुप्प अंधकार को चीरने का प्रयास कर रहे थे। किंतु निर्धनों की पूँजी की तरह वह प्रकाश अपर्याप्त सिद्ध हो रहा था।

देवरात कुशासन पर लेटे हुए थे। बायाँ हाथ हस्त सिर के नीचे कुछ इस भंगिमा में था मानो वह उनके कान से कुछ एकांत बरत रहा हो। वे यों तो जाग जाने पर भी नेत्र मूँदे पड़े रहने के आदी थे, किंतु आज न जाने क्यों नेत्र निमीलित थे। अरंड के तेल-भरे छोटे से दीये के प्रकाश में सामनेवाली दीवार पर टँगा कृष्णाजिन दीख पड़ा। उन्होंने दृग बंद किए, पार्श्व बदला। फिर पीठ के बल लेट गए, दोनों हाथ छाती पर मोड़ लिए। चारों ओर अंधकार फैला था। इससे पूर्व कि वे भाँप लें कि क्या हो रहा है, एक अलौकिक दृश्य उपस्थित हो गया। अनजाना-सा वनप्रांतर, वहाँ वृक्षों के घने आवरण के बीचों-बीच एक ऋष्याश्रम; उसके पास ही एक झरनी, उसमें जल बह रहा था। यह झरनी झरनी ही थी, न कि झरना। तथापि प्रतीत होता था कि आश्रमवासियों के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए जल-देवियाँ वहाँ ईषत् समय निश्चल खड़ी होकर हाथ जोड़ देतीं। फिर आगे बढ़ जातीं। इसी आश्रम से कोई प्रवर बड़ी आतुरता के साथ चल चुके थे। श्वेत दाढ़ी एवं श्मश्रु, श्वेत हिमाच्छादित-सा सर्वशुभ्र जटा-मंडल, जैसे उद्घोषित करते हों कि ये वृद्ध कोई तपस्वी हैं। मुख पर उद्भासित अपूर्व शांति इस उद्घोषणा के

समर्थन रूप में प्रमाण प्रस्तुत कर रही थी। वदन पर प्रफुल्लित अकारण स्मित हास हृदयस्थ आनंद-सागर की लहरें बन विराज रहा था। उनकी रत्नदीप समान दमक रही नेत्र-ज्योति समस्त संसार पर आच्छादित अंधकार को ध्वस्त कर देना चाहती थी। उनके मध्यभाग का नासादंड इंगित कर रहा था कि वे लोक-कल्याणार्थ धरा पर अवतरित हो रहे हैं। पर्वत के अग्रभाग पर स्थित विशाल चट्टान सदृश उनका मस्तक उनके हृदय की विशालता को दर्शा रहा था। उनकी चलने की गति में आतुरता व्यंजित थी ; प्राय: वे किसी शुभेच्छित कार्य को संपन्न करने के लिए नियमित समय का अतिक्रमण होने की आशंका में थे। अतएव चाल में हड़बड़ी थी। वे आश्रम के द्वार पर पहुँचे; प्रणाम किया और आश्रम में प्रविष्ट हो गए।

अभी आश्रम पर उषा-पूर्व अंधकार आवृत था। वे आए हैं। अब सर्वत्र प्रकाश फैल चुका है। किंतु वह प्रकाश उनको स्पर्श नहीं कर रहा। वे बिना लपटोंवाली अग्नि-सदृश प्रज्वलित हैं, पर हैं शांत। पर्वतारोहण कर पुन: खाई में अवतीर्ण होते हैं। वृक्षों की झुरमुट को पारकर मनोवेग से देवरात के सम्मुख उपस्थित होते हैं। उनको प्रणाम करते हैं और कहते हैं-''मैं आपका पुत्र बनकर जन्म लेना चाहता हूँ।'' देवरात को लगता है कि पूछ लूँ-'आप कौन है ? हमीं को क्यों चुना है ?' प्रश्न आकार ग्रहण कर रहा है। अभी वदन से निकलनेवाला है कि वे महापुरुष एक लघु तेजो पिंड बनकर पार्श्व में लेटी उनकी पत्नी आलंबिनी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं।

देवरात को आश्चर्य ! पत्नी के गर्भ-धारण के उपरांत विधिपूर्वक जो कुछ करने योग्य था वे सारे संस्कार उचित समय पर संपन्न किए जा चुके हैं। पुंसवन समाप्त हुआ है।

गर्भिणी की इच्छाएँ पूर्ण की जा चुकी हैं। अब आठेक दिन बाद उसका सीमांतोत्सव भी हो जाएगा। यह जो देखा, एक अद्भुत घटना है। उन्हें यह सब कुछ अपूर्व लगा। उनके मन में प्रश्न-उपप्रश्न उठने लगे-''तो क्या हमारी मनोकामनाएँ व्यर्थ नहीं गईं, वेदकर्म निरर्थक नहीं हुए ? क्या हमारे वंश में लोकोत्तर ब्रह्मर्षि जन्म ले रहे हैं ? आत्मोद्धार प्राप्त उनके कारण क्या हमारे वंश का तारण होगा? संसार सुपथगामी होकर उद्धृत होगा।'' इन विचारों से उनका मन प्रफुल्लित हो उठा।

आनंद की बात हो या दुख की अनुभूति, उसे जब तक आत्मीय व्यक्तियों में बाँट नहीं लेंगे तब तक मन शांत नहीं होगा। एक से उसमें वृद्धि होती है तो दूसरे

से हास होकर सांत्वना प्राप्त होती है। प्राय: यही कारण है कि मानव संघजीवी रहना चाहता है तथा संगति की कामना करता है।

देवरात ने पार्श्व में लेटी पत्नी को पुकारा। वह भी जाग गई। देवरात को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा–''अरी, तुम तो जगी हुई हो? क्या कोई विचित्र संघटना देखी ?'' पत्नी ने कहा–''हाँ !'' उसने आगे बात की–''हाँ, मैंने जो देखा वह आपको कह सुनानेवाली थी। इतने में आपने पुकारा। मैंने देखा- नदी तीरवाले आश्रम से श्वेत वस्त्रधारी एक साधु पधारे। वे मेरे गर्भ में प्रविष्ट हुए।''

देवरात के आश्चर्य की सीमा न रही। तत्क्षण प्रतिक्रिया की–''ऐसा?'' थोड़े समय तक मौन रहकर कहा–''सुनो, जो कुछ तुमने देखा वह मुझे भी दीख पड़ा। उसके विषय में तुमसे बात करने के लिए ही तुम्हें जगाना चाहा। तुम तो जग चुकी थी। तो मैंने जो देखा वह तुमने भी देखा।''

आलंबिनी देवी ने स्त्री सहज कौतूहलवश पूछा–'' तो इसका तात्पर्य क्या है?'' देवरात हँसे और कहा–''तात्पर्य सुस्पष्ट है, मैंने अपने से भी बड़े प्रभावी पुत्र की कामना कर तपस्या की थी, प्रतीत होता है कि तप फलित हुआ। कोई तपस्वी तुम्हारे गर्भ में प्रविष्ट हुआ है। जन्म लेकर संसार को तारना चाहता है।''

''क्या कहा ? आपसे भी बढ़कर प्रभावी ? मैं कैसे विश्वास करूँ? पास-पड़ोस के लोगों की बात रहने दो। देश-देशांतरों से भी यज्ञ आदि के संबंध में सभी प्रकार के संदेहों का समाहार पाने के लिए आपकी सन्निधि में आते हैं। आपसे भी अधिक प्रभावी कह रहे हैं तो वह किस भाँति का होगा ?''

''सुनो; तुमने जो कहा वह असत्य नहीं ; किंतु मेरा क्षेत्र कर्मकांड है। भाँति-भाँति की कामनाओं की पूर्ति के लिए किए जानेवाले कर्मों की गाथा है यह कर्मकांड। किंतु ज्ञानी कहा करते हैं कि इससे भी आगे कुछ और ही है तथा वह संपूर्ण विश्व में व्यापा हुआ है। मच्छर, चींटी जैसे अदना-से कृमि-कीटों से लेकर हाथी एवं ऊँटों तक सी सचेत प्राणियों में वही चेतना बनकर अवस्थित है। कहते हैं, सूर्य तथा चंद्र में भी प्रकाश के रूप में जो स्थित है वह भी वही है। सुन रही हो न ? हाँ, इसी कारण से कहते हैं कि जैसे इस गाँव को छोड़ अन्य गाँव में जाया जाता है उसी भाँति हम अपना सब कुछ तजकर उद्यम करेंगे तो वह हमें भी प्राप्त होगा। यदि इस कथन में कुछ तथ्य है तो उस जानकार को मुझसे भी प्रभावी एवं समर्थ बनना पड़ेगा।''

''आपने आज तक इस विषय का उल्लेख तक नहीं किया था-''

''हाँ, सत्य है कि मैंने कोई उल्लेख नहीं किया था। यह बात नहीं कि मुझे उसके अस्तित्व में कोई संदेह है, किंतु उसकी प्राप्ति के लिए सर्वस्व तजने की बात मुझे मान्य नहीं। सुनो, आलंबी, यज्ञ के समय अध्वर्यु उस-उस देवता को आवाहित करने के लिए 'प्रेष' देता है। उद्गातृ उसे साम में गाकर उस देवता को सूक्ष्म इंद्रियों की दृष्टि को उपलब्ध कराता है। इसमें यदि कोई लोप हो गया तो 'ब्रह्म' उसको ठीक कर देता है। तब अध्वर्यु उस देवता को होम देकर अपने अभीष्ट को अर्जित कर लेता है।[1] अब इन सारे विभवों में पैठे हुए व्यक्ति से कहो कि सब छोड़-छाड़ बैठे रहो तो उसे वह अच्छा लगेगा क्या? हाँ उस पथ पर चलनेवाले को ब्रह्मज्ञ कहते हैं; उस विद्या को 'ब्रह्म विद्या'-कहा जाता है।''

''ब्रह्म विद्या ? अर्थात् ?''

''ब्रह्म विद्या माने महान्, महनीय। इससे बड़ा कुछ भी नहीं अर्थात् वह महनीय है। किंतु 'वह' क्या है, वह तो उसके विषय में कहनेवाला भी नहीं जानता। श्रोता की बात तो छोड़ो। वह 'ब्रह्म' होता है। उसको प्राप्त करानेवाली विद्या ब्रह्म विद्या है। जानती हो उसके बारे में एक और अद्भुत बात ?''

''कहिए न ?''

''कहते हैं, कि सब छोड़-छाड़कर आँखें फाड़े, उसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा में बैठे रहो ! कहते हैं, वह तपस्या द्वारा प्राप्य नहीं, दान से नहीं, अध्ययन[2] से भी नहीं। कुछ भी कर लो, वह तो मिलने से रहा ! स्वयं जब तक उसका अनुग्रह न हो तब तक आँखें बिछाए पड़े रहो। इसीलिए मुझे यह पथ रुचा नहीं। चूँकि श्रुति इस संबंध में कहती है तो उसका आदर करना चाहिए। आदर करेंगे। मान्य भी करेंगे। किंतु मैं नहीं चाहता कि वह हमारे जीवन को ढाले। इसीलिए मैं उस ओर से विमुख ही रहा।''

''किंतु अब आप कह रहे हैं कि आपका यह पुत्र आपसे अधिक समर्थ होगा। यह कैसे कह सकते हैं?''

---

1. प्रत्येक यज्ञ के लिए चारों वेदों की आवश्यकता होती है। यजुर्वेदी को अध्वर्यु, ऋग्वेदी को होतृ, सामवेदी को उद्गातृ, अथर्ववेदी को ब्रह्म कहा जाता है।
2. स्वप्रयत्न से अभ्यास अध्ययन कहलाता है। प्रवचन अन्यों के लिए है।

''संभव है, वह कर्मकांड को मानते हुए आगे भी बढ़ जाए। किंतु एक बात स्पष्ट है। मैं तो अपने पुत्र को कर्मकांड का तिरस्कार करने नहीं दूँगा। यदि वह ब्रह्मविद्या सीखना भी चाहे तो उसे वह अवश्य कहना होगा–'देवरात के पुत्र को आमंत्रण दो, अन्यथा यज्ञ परिपूर्ण नहीं होगा।' चाहे राजाधिराज क्यों न हो, उसको पालकी में बिठाकर ले जाना होगा तथा बहुत–बहुत दक्षिणा देनी होगी। तब उसकी प्रसिद्धि यज्ञवल्क्य के पुत्र याज्ञवल्क्य के रूप में होनी चाहिए। वह ब्रह्मविद्या के लिए हमारे श्रोत विद्या को तजना चाहेगा तो नहीं होगा। हमारा पुत्र हमारे विरुद्ध कुछ नहीं कहेगा, मैंने अग्नि से वरदान पाया है कि हमारा पुत्र सदा हमारा आज्ञाकारी बना रहे।''

''आपने तो ब्रह्म विद्या के बारे में कभी उल्लेख नहीं किया था न?''

''ऐसा अवसर ही नहीं आया था। और तो और, इस बारे में मेरे पास समय कहाँ ! मैं तो प्रजापत्यकर्म में निरत रहता हूँ। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त–पर्यंत, संवत्सर के प्रारंभ से उसके पूर्ण होने तक प्रतिदिन बिला नागा किसी इष्टि या यागक्रिया में व्यस्त रहता हूँ। यागार्थ कुश–संग्रह, इष्टि के लिए समिधा एकत्र करना, तथा अपने पास आनेवालों के संदेहों का निवारण– इसी में मेरा सारा समय व्यतीत हो जाता है। हाँ, आज यह स्वप्न जो देखा, इसीलिए इस रात्रिवेला में हमारे मध्य इस प्रकार के संवाद का अवसर निकल आया। अपने जाग जाने पर भी मैं तुम्हें नहीं जगाता, क्योंकि प्रात: से संध्या तक तुम लगातार कोल्हू के बैल की भाँति गृहस्थी के कार्यों में पिसती रहती हो। किंतु आज सब प्रकार की विधियों * का प्रतिप्रसव** जो हो गया, उस अद्‌भुत संघटना को देखकर तुम्हें बताने के लिए जगाया। किंतु संयोग था कि तुम भी जग गई थी। हाँ, एक और बात भी है आलंबी।

तब तक देवरात को बोलते रहने की ललक हो गई थी। यदि वे उठ बैठते होते तो उनके लिए यह उपयुक्त मुद्रा होती ; किंतु वे उठे नहीं।

पार्श्व बदलकर कुहनियों के बल अधलेटे सिर उठाकर पत्नी की ओर उन्मुख होकर कहा–''सुनो, मेरे लिए एक असहनीय विचार भी है । कहते हैं, इस ब्रह्मविद्या के ज्ञाता को चाहिए कि वह श्वान, सियार, चंडाल आदि सभी को समभाव से देखा

* 'विधि' कर्म को निर्धारित करने वाले शास्त्र का नियमन होता है।

** 'प्रतिप्रसव' का अर्थ होता है, उसको रोकने का शास्त्रावरोध। एक 'इंजन' हो तो दूसरा 'ब्रेक' है। दोनों की जानकारी के अभाव में शास्त्रज्ञान अपूर्ण होता है।

करें। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ होता है। हमारे द्वारा आराधित देवताओं तथा हमारा आदर करनेवालों के साथ-साथ स्पर्श एवं दर्शन के लिए भी अयोग्य समझे जानेवालों को एक ही श्रेणी में रखकर समभाव से देखना– यह कैसे संभव होगा? यह तो बड़ी जटिल समस्या है। अतएव मैं ब्रह्मविद्या के संबंध में सिर खपाता ही नहीं। मेरे लिए स्वीकार्य यही है सर्वेषमविरोधन ब्रह्म कर्म करना। अर्थात् हम इस बारे में सदा जागरूक रहें कि हमारे द्वारा संपन्न किसी भी कर्म से किसी चेतन-अचेतन प्राणी पर किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। 'शं अस्नोतु द्विपदेशुंचतुष्पदे' अर्थात् दो पैरोंवाले , चार पैरोंवाले सभी प्राणियों को सुख पहुँचे, यह सोचकर कर्म करना।''

''हाँ, हाँ, अब आप जिस प्रकार का कर्म किया करते हैं वह तो कुछ ऐसा ही है। आपकी जीव-कारुण्य-प्रवृत्ति पर किसी को संदेह नहीं। यदि इससे किसी को कष्ट होता है तो वह केवल आपके लिए है। किंतु आप तो इसके अभ्यस्त हो चुके हैं।''

''क्या किया जाए ? इससे तुम्हें तो कष्ट होगा भी। किंतु तुमने मेरा हाथ जो थामा है, इतना कष्ट तो उठाना पड़ेगा।''

''मुझे कोई कष्ट-वष्ट नहीं, मुझे इसकी आदत हो गई है।''

अब उदयकालीन प्रहर आसन्न हुआ है, मुर्गी की बाँग सुनाई पड़ी। यह सुना तो दोनों की प्रतिक्रिया हुई– ''अरे मुर्गी की बाँग। अब तो स्नान का समय हो आया।'' देवरात ने पूछा–''आज भोजनोपरांत तुम पूछो तो मैं अपने भविष्य की योजनाओं के बारे में तुम्हें अवगत कराऊँगा। ठीक है न ?'' आलंबिनी ने प्रतिक्रिया में कहा–''तो, आज, वैश्वदेव का आयोजन कुछ शीघ्र ही कर देना होगा। आपके साथ संवाद तो मिठास घोल देता है। आज तो पुराणश्रवण का कार्यक्रम भी नहीं, अतएव संध्या तक आपके संग संवाद प्रसंग हो सकता है।''

दोनों थोड़े समय तक वैसे ही लेटे रहे ताकि 'स्वर' * समर्पक बने। फिर उठे।

---

* स्वर : नाक में जो श्वास क्रिया होती है उसको 'स्वर' कहा जाता है। नाक में दक्षिण में चलती श्वास सूर्य है , वाम भाग में चंद्र है। दोनों में जिसका संचरण होता है वह जीव होता है। इस प्रकार स्वर तीन प्रकार का होता है। उन तिथियों उन-उन वारों में वह-वह स्वर ही होना चाहिए, इस प्रकार का नियम है। स्वर-शास्त्र में इस संबंध में विस्तार से चर्चा है।

सीमांत कर्म

मध्याह्न समाप्ति पर है; तीसरे प्रहर का सूर्य अपने प्रचंड किरणों का उपसंहरण कर चुका है। सवेरे से ही आकाश मेघाच्छादित है, संक्रमण-सा वातावरण निर्मित हो चुका है। पर अब बादल छँट चुके हैं। तिस पर भी दिगंत की ओर का मेघाच्छादन भयावह है या यों कहें कि वह और गहरा गया है। बादल तो एक ऐंद्रजालिक के समान सूर्य के साथ आँखमिचौनी खेल रहे हैं।

उषाकालीन स्वप्न ने देवरात को विचार में डाल दिया है। उन्होंने माध्याह्निक कर्म संपन्न कर भोजन किया है। वे उस समय में पहने जाने वाले पवित्र वस्त्रों में ही हैं। कंधे पर एक छोटा-सा अंगवस्त्र है। सोचते हैं–'धावळी (उपरैनी) क्यों न ओढ़ लूँ।' मुँह में तांबूल है। अन्यमनस्क हैं। सोच रहे हैं–'अब पत्नी आएगी। घर में आ रहे नए अतिथि के बारे में बात करनी होगी। पत्नी को समझाना पड़ेगा कि गर्भावस्था में उसके लिए क्या कुछ करने योग्य है। माता बनकर शिशु के साथ किस प्रकार का आचरण करना होगा।'

उनकी आँखें अधखुली थीं। वे विचार-मग्न थे। तभी उनका एक शिष्य भीतर प्रविष्ट हुआ। उसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। वह भार्गव जी के आगमन की सूचना देने के लिए आया था। भार्गव जी स्वयं भीतर प्रविष्ट हुए और पूछा–''आचार्य जी से मिलने के लिए समय है ?''

भार्गव जी का यों अचानक टपक पड़ना देवरात के लिए कोई नई बात नहीं थी। किंतु आज उनका आना उन्हें अच्छा नहीं लगा। अब आ चुके हैं तो स्वागत करना है ही। इसलिए उस ओर उन्मुख हुए। मुख पर मंदहास खिल गया। पर मौन ही साधे रहे। प्राय: भावी पुत्र के संबंध में विचार चल रहा था। वे आगत भार्गव जी को निहारते रह गए।

भार्गव ने पुन: प्रश्न किया–''लगता है, आचार्य किसी अन्य लोक में विचर रहे हैं, बात तक नहीं की ?''

देवरात हँसे–''हाँ, जब भार्गव पधारते हैं तब यदि मैं स्वागत न करूँ तो उन्हें लगेगा कि हम यहाँ उपस्थित ही नहीं। किंतु सच कहूँ तो आपकी भव्य आकृति, उसके अनुकूल आपका पहरावा, आपके चले आने का अंदाज़–यह सब देख मैं अचंभे में आ गया हूँ। लगता है, आपसे डरकर मेरी वार्ता-शक्ति चंपत हो गई थी?

उसे लौटाने के लिए मन उसके पीछे पड़ा था। बुद्धि भी इधर–उधर भटक गई थी। अस्तु, पधारिए, यहीं बैठें ? या भीतर बैठक में चला जाए ?''

''हम घोड़ागाड़ी से आए। हमने सोचा था उसके पहियों की गड़गड़ाहट सुनकर ही आप द्वार पर आएँगे। पर आए नहीं तो सोचा कि कुछ अहम बात होगी, अतएव हम स्वयं भीतर आ पहुँचे। आपके शिष्यों में से एक ने मुझे देख लिया तो वह भीतर आ गया। वह अब यहीं खड़ा है। लगता है, आपने उसे देखा नहीं, यह सब देखकर मैंने आपसे पूछा कि आप यहीं उपस्थित हैं या किन्हीं लोकांतरों में जा पहुँचे हैं। मेरा यों पूछना आपको अन्यथा तो नहीं लगा ?''

''भार्गव जो भी करें उसमें दोष कहाँ से आएगा? ऐसे में मैं दोष क्यों दूँ ? पधारें , भीतर चलें।'' देवरात ने वहीं खड़े शिष्य को आँखों के संकेत से कुछ बता दिया, भार्गव को लेकर भीतर पहुँच गए।

बैठक में कृष्णाजिन से आच्छादित वेत्रासन थे। दोनों उनपर बैठ गए। भार्गव ने विजय–सूचक स्मित बिखेरते हुए पूछा–''आचार्य, क्या आप कह पाएँगे कि हम किस प्रयोजन से यहाँ आए हैं ?''

आचार्य ने उसी भंगिमा में, पर विनय को त्यागे बिना, हँसते हुए कहा–''आप बता देंगे तो मैं भी अवगत हो लूँगा। मैं स्वयं आपके सम्मुख उपस्थित होनेवाला था। इतने में आप पधारे। तो आप स्वयं कह सुनाएँ। उसके उपरांत मुझे जो भी कहना होगा, कह दूँगा।''

भार्गव कहने लगे–''आज प्रात: मैं अपने सारे नैमित्तिक कर्म संपन्न कर राजप्रासाद में गया। वहाँ के सारे कार्य संपन्न हो गए तो महाराजा एकांत में बैठकर कुछ इधर–उधर की बातें करने लगे। मैंने उस समय का लाभ उठाते हुए उनसे निवेदन किया–हमारे आचार्य जी के घर में सीमंतोन्नयन उत्सव का आयोजन होगा । राजभवन से उनके और राजसन्निधि के योग्य कुछ भेंट आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। तब उन्होंने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा–हमें इसकी सूचना तक नहीं ।' तब मैंने कहा–सन्निधान तो आचार्यजी के संकोचशील स्वभाव से अवगत हैं। वे तो सर्वदा संतुष्ट रहते हैं। अपने पास जो उपलब्ध है उसी में निभा लेंगे। कहते हैं, भगवान चाहेंगे तो वे स्वयं करा लेंगे। किंतु हम तो निष्क्रिय रह नहीं सकते। महाराजा ने तत्काल आदेश दिया–सौ निष्क, एक बोरा चावल, उसके लिए आवश्यक अन्य सामग्री आदि भिजवा दिया जाए। वह आजकल में मिल जाएगा। जब वह आ जाए तो यह कहकर कहीं लौटा न दीजिएगा कि यह सब हमें क्यों ?

इसीलिए मैं आपको पूर्व सूचना देने आ गया। क्यों, मेरा आचरण आपको सही लगता है कि नहीं ? ''

आचार्य जी हँस पड़े–''यह लो, आप भी क्या कहते हैं ? मैं विचार कर रहा था कि सीमंतोन्नयन में कुछ अधिक धूमधाम हो या वैदिक कर्म सरलता से संपन्न करूँ। अस्तु, राजा की ओर से सहायता प्राप्त होने पर वैभवपूर्ण रीति से ही करना उचित होगा। ठीक है, वैसे ही कर लेंगे।''

भार्गव जी ने फिर कहा–''यदि आप अपना ही आश्रम बनाकर रह लेते तो अलग बात थी। तब हम स्वयं कह देते कि आश्रमवासियों के योग्य सरलता बरतें। किंतु अब तो आप राजधानी के आग्रहारिक हैं। अब निर्धन के समान अपने लिए सीमित रूप में मना लेंगे तो हम सब को नीचा देखना पड़ेगा। राजभवन-सदृश वैभव नहीं चाहिए। किंतु आपके गौरव के अनुकूल तो करना होगा। आप कहते होंगे – 'अरे यह तो वैदिक कर्म है, उसमें प्रदर्शन क्यों ?' किंतु मानव स्वभाव से उत्सवप्रिय होता है। वह कोई कार्य करे, ढोल बजाकर दस लोगों को बता देगा। वेदों में भी कहा गया है– 'बृहद्वदेव वितथे सुवीरा: ?' अर्थात् समस्त संतान को संग लेकर पूर्णघोष के साथ मंत्रोच्चार करते हुए यज्ञ का आचरण करें।' अतएव जैसा मैं कहूँ वैसा करें।''

आचार्य की मुखमुद्रा से झलक रहा था कि उन्होंने भार्गव के परामर्श पर सहमति व्यक्त की है, ''राज पुरोहित श्री भार्गव भट्ट आदेश दे रहे हैं तो न कैसे कहा जाए ? किंतु सीमंतोन्नयन में जो कुछ करना होता है वे सारी क्रियाएँ क्रमोचित रीति से संपन्न हो चुकी हैं। अब समस्या यही है कि सीमंतोन्नयन संपन्न करना होगा कि नहीं। मैं इसी के बारे में विचार कर रहा था; तभी आपका आना हुआ तब मैं विचारों में खोया हुआ था।''

''अर्थात् ! ''

अब शिष्य ने एक आसंदी[1] रखकर उसपर शुद्ध 'धावळी'[2] रख दी तथा एक कलश में कुनकुनाता जल धर दिया। आचार्य ने कहा–''पहले यह कार्यक्रम संपन्न हो जाए, बाद में विस्तार से बता दूँगा।'' भार्गव जी ने स्नानागार में जाकर हाथ-मुँह धोए, शुद्ध धावळी धारण कर उपरैनी ओढ़कर बैठे; तबतक फलाहार

---

1. आसंदी = एक आसन, 2. धावळी = धोती

प्रस्तुत किया गया। उसे ग्रहण किया। राजपुरोहित के आग्रह पर आचार्य जी को भी फलाहार करना पड़ा। दोनों ने गरम दूध पिया। पुनश्च वार्ता प्रारंभ हुई।

आचार्य ने गत रात्रिवाले स्वप्न दर्शन के बारे में बताते हुए कहा—''भार्गव जी, मैंने अपने से भी प्रभावी पुत्र की प्राप्ति की आकांक्षा से होम–हवनादि संपन्न किए। कल जो दर्शन मुझे हुआ, उसके अनुसार जन्म लेनेवाला यदि ब्रह्मज्ञ होगा तो मेरा क्या होगा ? यज्ञवल्क्य नाम से ख्यात हमारे वंश का क्या होगा ? यही चिंता मुझे खाए जा रही है।''

''छोड़िए न! इस पर इतना चिंतित क्यों होएँ ? आपका आवास मिथिला नगर में है। ब्रह्म–विद्या का प्रचार तो कुरु, पांचाल एवं काशी प्रदेशों में है, पर उसका आदर तो जनक महाराजा के यहाँ होता है। यथा राजा तथा प्रजा। आपने कर्म विद्या में जो यश कमाया है वही यश आपका पुत्र ब्रह्म–विद्या में पाए तो आपकी इच्छा–पूर्ति होगी ही।''

''तो मेरा ज्ञान सर्वस्व मटियामेट हो जाए ? मैंने जो कुछ अर्जित किया वह सब व्यर्थ हो जाए?''

''ऐसा क्यों होगा ? ब्रह्मवादी कहा करते हैं कि हर विद्या का उद्‍गम–स्थान ब्रह्म–विद्या ही है। आपकी शंका है कि कल को आपका पुत्र कर्म–विद्या को छोड़ दे तो ? उपनयन संस्कार के अवसर पर उसे प्रतिज्ञाबद्ध करा दीजिए कि मैं सर्व महायज्ञों का अनुष्ठान करूँगा। जब वे पूर्ण हो जाएँ तब देखें कि कैसी स्थिति होगी?''

देवरात को उनकी बात सही लगी—''वही हो। अन्य कोई उपाय नहीं।'' अपनी सम्मति भी व्यक्त कर दी—''आचार्य, महामहिम प्रविष्ट हुए हैं , तो यह न समझें कि अब सीमंत क्यों ? सीमंतोन्नयन करें, गर्भिणी की माँग सहेजकर वीणानाद के साथ मंत्रोच्चारण करेंगे तो वह नाद तरंगायित होकर गर्भिणी के गर्भ में प्रवेश कर, वहाँ स्थित पिंड में चेतना का उदय होगा वह वैदिक रूप प्राप्त कर लेगा। जब वह पिंड शिशु बनकर जन्म लेगा तब उसकी प्रवृत्ति वैदिक मार्ग में होगी। आप चिंता न करें।''

आचार्य जी ने गतरात्रि को जो देखा था उसे विस्मृत कर नहीं पाए थे। तथापि राजपुरोहित के शास्त्रसम्मत परामर्श का तिरस्कार न कर पाए। उन्होंने कहा—''सत्य है, वही हो, संस्कारों को कोई तज सकता है ? निभाना ही पड़ेगा।''

भार्गव जी कुछ समय तक उनसे बातें करते वहीं रह गए। तत्पश्चात् वहाँ से निकल पड़े।

त्रेताग्नियाँ

देवरात को दिनभर पत्नी से बतियाने का अवसर नहीं मिला। भार्गव के चले जाने पर स्नान, संध्या, अग्निहोत्र, रात्रि-भोजन—यों एक के बाद एक होता रहा तो अवसर ही कहाँ !

इधर पति के स्नानादि की व्यवस्था में आलंबिनी देवी को विस्मरण हो गया था कि पति उनसे कुछ कहनेवाले थे। अब स्नान के लिए पानी देने के समय उस बात का स्मरण हो आया। किंतु स्नान करते वक़्त रुद्र का पाठ कर रहे पति से कैसे पूछा जाता ! इसलिए वह मौन रही। पुन: भोजन से पूर्व पति को स्मरण दिलाया। आचार्य ने कहा—''दुपहर को अवकाश नहीं मिला था। आज सोने से पूर्व कुछ शीघ्र ही आ जाना। तभी मैं विस्तार से कहूँगा।'' यों कहते हुए भोजन किया, वहाँ से चल दिए। आलंबिनी ने शुद्ध वस्त्रों में ही अग्नि के लिए 'मूढ'* रखकर उसकी परिचर्या समाप्त कर भोजन किया। दूध को जमाने के लिए उसमें दही देकर, तांबूल साथ में लिए संभ्रम शय्यागृह में प्रविष्ट हुईं। शय्यागृह से लगकर ही विशाल बैठक है। वहीं आचार्य ने भार्गव जी से भेंट की थी। वे प्रात: समय यहीं अपने दसों शिष्यों को पाठ-प्रवचन आदि शिक्षा दिया करते थे। यों प्रात: एवं संध्या समय अपने अस्तित्व का परिचय देकर शेष समय में विराम कर रही गृहणी की भाँति यह स्थान निर्लिप्त हो जाता। कभी-कभार देवरात भोजनोपरांत वहाँ के वेत्रासन पर बैठे विचारमग्न हो सुख का अनुभव करते होते।

पत्नी ने देखा पति शय्यागृह में हैं नहीं, शय्या शून्य है, अतएव वे बैठक में लौटीं। पति को कोने में बैठे पाया, तो अपने आगमन की सूचना देने के लिए धीमे से खाँसा। उनका आशय फलीभूत हुआ, पति ने पत्नी की ओर दृष्टि फेरी। उन्होंने कहा-''मैं सोच रहा था कि तुम शीघ्र नहीं आनेवाली। इसलिए उदित चंद्र की शोभा को निहार रहा था। अब चंद्र प्रवाल की कली-सा लाल-लाल दीख रहा है। यही चंद्र थोड़े समय बाद ऊपर चढ़कर धवल हो जाएगा। इसी पर विचार चल रहा था। तुम्हारे गर्भ में जो पुत्र है वह भी कुछ यही करेगा। उसका जन्म तो होगा एक

---

* मूढ : अग्नि प्रज्वलित कराने के लिए प्रयुक्त होनेवाले उपले। ये दीवार पर थापे हुए आकार के साधारण उपले नहीं, अपितु गोल-गोल आकार के बने धूप में सुखाए हुए होते हैं।

निर्बल शिशु के समान ही, परंतु मन में संशय है कि बड़ा होकर क्या बनेगा—कौन जाने ?''

''हमारी कोख से जन्मा पुत्र हमारी बात नहीं सुनेगा तो और किसकी सुनेगा? अतएव आप ऐसे संदेह को मन से निकाल दीजिए।''

''मेरा संशय वह नहीं। मुझसे भी प्रबल, प्रभावी पुत्र जन्म लेगा—इसमें मुझे तिल-भर भी संदेह नहीं,किंतु यदि वह ब्रह्मविद् होकर कर्म त्याग कर कर्म-भ्रष्ट बनेगा तो क्या करें ?- यही संशय है।''

''दुपहर के समय आपके मित्रवर कुछ कह रहे थे न ?''

''तुम खड़ी हो, मैं बैठा हूँ, अतएव चर्चा यहाँ नहीं । चलो, मैं इसके बारे में विस्तार से कहूँगा।'' देवरात उठे, शय्यागार में प्रविष्ट हुए, पत्नी ने उनका अनुसरण किया। अब वहाँ तांबूल चर्वण हुआ; पुनः बात निकली। उनके मन के संदेह के निवारणार्थ भार्गव ने जो कहा था, वह सब कह सुनाया। फिर कहा—''सुनो आलंबी, गत रात हमने जो देखा, वह मुझे भयभीत कर रहा है। जो तुम्हारे गर्भ में प्रविष्ट हुआ, उसने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, अतएव मुझे लगा कि वे संन्यासी थे। तदर्थ मुझे भय हो रहा है कि तुम्हारे गर्भ से जन्म लेनेवाला यदि संन्यासी ही बने तो?''

आलंबी भूल गई कि उसके मुँह में चर्वित तांबूल है। वह हँस पड़ी। तांबूल रस की छींटें देवरात की उपरनी पर पड़ीं। पति ने थोड़ा अप्रसन्न हो उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट किया। पत्नी ने हाथ जोड़े, कहा—''समझिए कि अग्निहोत्र के समय चिनगारियाँ उड़ीं, क्षम्य समझना । '' उसने उन छींटों को पोंछ डाला।

''हाँ, हाँ, आपका राज्य जो है ! यहाँ आप जो भी उत्पात करें, सहन कर लेना पड़ता है। '' मानो अधिकार खोया पति पत्नी को उलाहना दे रहा था।

''यदि जानबूझकर ऐसा कुछ करती तो आपका आक्षेप सही बैठता। किंतु यह तो आकस्मिक घट गया। ऐसे तो इसके लिए आप ही उत्तरदायी हैं। आप जो किसी से भी नहीं डरते, अब यह निश्चय कर चुके हैं कि गर्भस्थ शिशु पुत्र ही होगा और वह संन्यासी बनेगा—इसपर मुझे हँसी आई। आपकी अप्रसन्नता तो मेरे हाथ जोड़ने तक ही रहेगी न ? हाँ, मेरा एक संदेह है, गर्भस्थ शिशु यदि बालिका हो तो?''

''यही कारण है कि हम तुम स्त्रियों को अयोग्य ठहराते हैं। पुंसवन के बाद वह बालिका कैसे बने ? तुम्हारे गर्भ से पुत्र ही जन्म लेगा— इसमें तिलभर भी संदेह नहीं। क्या संस्कार में वह बल नहीं होता? आप लोग तो सिर काटकर सम्मुख

रखने पर भी विश्वास नहीं करतीं। गोवत्स लाकर सम्मुख खड़ा कर देने पर भी संशय व्यक्त करेंगी—क्या इसके तीन पैर तो नहीं हैं? यह सब उचित नहीं। संस्कार के अनुकूल ही होगा, अतएव गर्भस्थ पिंड पुरुष ही होगा। यही नहीं, मुझ से प्रबल होगा, किंतु मुझे डर है कि कर्म–त्याग कर कहीं संन्यासी न बन जाए !''

''कर्म एवं संस्कार में इतनी आस्था है तो एक होम का अनुष्ठान करें जिससे पुत्र संन्यासी न हो।''

''वह इतना सरल नहीं आलंबी; हाँ यह भी सत्य है कि मुझे यज्ञवल्क्य उपाधि प्राप्त है— क्योंकि मैं नव्य यज्ञों की योजना करता हूँ। किसी के संन्यासी बनने में अवरोध प्रस्तुत करने के लिए एक यज्ञ का आविष्कार हो सकता है। किंतु तुम जानती हो संन्यास क्या होता है ? वह तो कर्मठ ब्राह्मणों की संस्कृति का सार सर्वस्व है। गोपुर का कलश समान है। किंतु वहाँ उक्त कर्म त्याग ही होता है। किंतु मेरे मन को वह स्वीकार्य नहीं। अतएव स्वतंत्र रूप से कुछ करना चाहता हूँ। पर संन्यास तो शास्त्र–सम्मत है, निषिद्ध नहीं। यही मेरी पेचीदगी का कारण है। यही मेरे लिए धर्म–संकट का विषय है।''

''तो मेरा कहा मानिए। गर्भ पंचम में उसका उपनयन संस्कार कर दीजिए। एक वेद का सक्रम अध्ययन पूर्ण होते ही समावर्तन संपन्न कराकर विवाह करा दीजिए। आपका पुत्र है तो धर्ममार्ग का अतिक्रमण नहीं करेगा। गृहस्थ बनकर रह लेगा।''

देवरात ने नकारात्मक भाव में सिर हिलाते हुए कहा—'' एकमात्र वेद अध्ययन से क्या होगा ? तुम्हारे गर्भ में जो है उसे स्वयं अन्य एक वेद का प्रणेता होना पड़ेगा। हाँ आलंबी, मेरे कथन पर ध्यान दो। उसे यज्ञेश्वर–सदृश बनना होगा। कर्मकांड एवं ब्रह्मकांड दोनों में उपपाद्य यज्ञेश्वर ज्यों, अर्थात् जातवेद न होते हुए भी तत्सम सर्वज्ञ–कल्प बनना होगा। यदि ऐसा पुत्र न पा सकूँ तो मेरी यज्ञवल्क्य ख्याति का कोई महत्त्व नहीं। किंतु केवल कथन से ब्रह्मवादी बन जाना हमारे लिए हितकर नहीं होगा। प्रत्येक कथन अनुभव द्वारा श्रुति–सदृश अवधारणा प्राप्त करनी होगी। यदि ऐसी दशा प्राप्त करनी है तो ब्रह्मसाक्षात्कार को साधना होगा। ऐसी स्थिति में कर्मकांड को तजना होगा। मेरी चिंता यही है कि कर्मकांड प्रवर अभिदान से सुख्यात यज्ञवल्क्य की यशोगाथा मेरी पीढ़ी के साथ ही पूर्णतः समाप्त हो जाएगी ? मेरे मन के आतंक का भान तुम्हें हो चुका होगा न? बात समझ में आई न?''

आलंबिनी की एक दीर्घ साँस निकली, फीकी हँसी के साथ उसने कहा- ''हाँ, आपके मन का आतंक मुझे विदित हुआ है। किंतु यह आतंक तो कन्या - पितृओं जैसा आतंक ही है। प्रत्येक पुत्री पराए घर की पुत्रवधू बनती है; उसे पितृगृह में ही रोकना अनुचित होता है। यह यथार्थ कभी-कभी कचोटता है न ? हाँ, कन्यादान के समय हम मनोसंकल्प तो किया करते हैं कि इसका जो पुत्र होगा, वह हम दोनों वंशों को तारनेवाला द्वामुष्यायण* बने। इसी प्रकार आप भी संकल्प करें कि आपका पुत्र कर्मकांड एवं ब्रह्मकांड दोनों में अद्वितीय बने।'' यज्ञवल्क्य आतंक मुक्त नहीं हुए। उन्होंने उसी मुद्रा में कहा-''तुम लोगों को इस स्थिति का परिपूर्ण ज्ञान नहीं है कि कर्मत्याग करनेवाले किस भाँति का विद्वत्-संन्यास ग्रहण कर लेता है। इसीलिए ऐसा समाधान अभिव्यक्त कर रही हो। अस्तु, इसके लिए एक मात्र मार्ग है। देवता-शरणत्व ! उनकी इच्छा के अनुसार ही होगा। मेरे लिए यह बड़ा शूल बना हुआ है।''

रात चढ़ चुकी थी। यह देखकर दोनों शय्या पर लेटे। चादर ढाँप लिया ताकि शीघ्र निद्रादेवी की कृपा हो। किंतु केवल एक को उसकी कृपा प्राप्त हुई। दूसरे जागे ही रहे। बहुत देर तक अनबूझे सोच में करवटें बदलते रहे; थकान के कारण आ घेरनेवाली निष्क्रिय-सी धुंध में न जाने कब सो गए।

कुछ समय ऐसे ही बीता। दोनों तंद्रा में डूबे हैं। सारा का सारा लोकव्यापार विस्मृत हो चुका है। तभी उन्होंने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में तीन ब्राह्मण आ खड़े हैं, तीनों हैं तेजस्वी। चेहरे को देखने से यद्यपि उनका परिचय नहीं प्राप्त हो रहा, तथापि प्रतीत हो रहा है कि ये जाने-पहचाने ही हैं। माथा खपाने पर भी स्मरण नहीं हो रहा कि ये कौन हैं, इनको कहाँ देखा हुआ है ? तथापि गृहस्थ होने से देवरात उन्हें यथोचित अर्घ्य पाद्यादि समर्पित करते हैं । मधुपर्क देने के लिए तत्परता दिखा रहे हैं। उन्हें लगता है कि पत्नी रसोई-घर में कुछ सँजो रही है। यद्यपि वह जो भी कर रही है वह इनकी इच्छा के अनुकूल है, तथापि उन्हें पुकारकर उनके कार्य में विघ्न भी डालना नहीं चाहते। यों असमंजस में इनको छटपटाते देखकर उन तीनों में से जो ज्येष्ठ थे वे ही हँसते हुए बात आरंभ करते हैं-''हम तो आपके घर के ही लोग हैं। अतएव हमें मधुपर्क की आवश्यकता नहीं, आपसे कुछ निवेदन करने के लिए हम इस रूप में यहाँ उपस्थित हुए हैं। यहाँ

---

* द्वामुष्यायण : दोनों वंशों के ज्ञान का अर्जन करनेवाले ।

पधारें, यों कहकर उन्हें संग बिठा लेते हैं। पुनः धृष्टता-भरी हँसी के साथ प्रश्न करते हैं-

''क्यों आप जान गए कि हम आपके कौन हैं?''

आचार्य जी को न हाँ कहते बनता है, न न कहते; क्योंकि स्मरण नहीं आ रहा कि ये कौन हैं ? उनके इस असमंजस को देखकर वे स्वयं अपना परिचय देते हैं-''अस्तु, आपकी उलझन हमारी समझ में आ गई। हम तो सदा से परोक्षप्रिय ही रहे हैं। अतएव परिचय-अपरिचयवाली बीच की यह दशा प्रस्तुत हो जाती है तो कोई आश्चर्य नहीं। सुनिए, हम प्रतिदिन आप दंपती द्वारा उपासित अग्नि ही हैं, मैं हूँ गार्हपत्य, आप हैं दक्षिणाग्नि और आप अहवनीय। आप यह न समझें कि हम आपके द्वारा प्रज्वलित कुंडों में ही बसते हैं। हम आपकी देह में भी अवस्थित हैं। हमारे अनुग्रह के कारण ही आप दंपती को आपकी पत्नी के गर्भ में प्रविष्ट महापुरुष का दर्शन प्राप्त हुआ था।''

आचार्य खड़े थे। अब प्रवरोच्चारण* कर तीनों को एक साथ नमस्कार किया। पुनः प्रत्येक को क्रम से नमस्कार किया, हाथ जोड़कर निवेदन किया-''आदेश हो महानुभावो, आपके स्वकथन से बढ़कर मैं यदि कुछ कहने की धृष्टता करूँ तो मुझे क्षम्य समझें।''

तीनों हँसे ; ज्येष्ठ ने कहा-''हम और आप घुल-मिल गए हैं। अतएव आप जो भी करते हैं वह हमें धृष्टता नहीं लगती। कल जो दर्शन हुआ वह हमारे अनुग्रह से हुआ। आज प्रातःकाल से जिस भाँति त्रस्त हैं, उसका कष्ट आपके देह के भीतर हमें भी भुगतना पड़ रहा है। अतएव हम आपसे कहने आए हैं कि ऐसा कुछ न करें। हाँ, ठहरिए, आप कहने जा रहे हैं कि हमारे जाने बिना आप स्वयं इसका निवारण कर सकते थे। ठीक है, यह हमसे हो सकता था, बिना प्रकट हुए हम यह भी कर पाते, किंतु आप हमारे भक्त हैं, सगे हैं, सखा हैं। अतएव प्रकट होकर सम्मुख स्पष्ट करना चाहते थे। आपको प्रसन्न करना चाहते थे। आपके सुख से हम सुखी होते हैं। आप दुखी होंगे तो हमें भी दुख पहुँचेगा। अतएव यदि हमारे द्वारा संपन्न इस कार्य को स्वार्थमूलक भी कहें तो कह लें। क्या इस संसार में बिना स्वार्थ के कोई क्रिया होती है ? हाँ, स्वार्थ-परार्थ का भेद जबतक मन में शेष रहता है तबतक

---

* प्रवरोच्चारण : अपने गोत्र-सूत्र एवं तीन पीढ़ियों के विवरण के साथ अपना परिचय देने की प्रक्रिया।

वह कर्मकांड होता है, जब यह भेद मिट जाता है तो वही ज्ञानकांड होता है। क्या समझ गए ?''

देवरात को आश्चर्य हुआ कि 'ये भी कर्मकांड एवं ज्ञानकांड की ही चर्चा कर मेरे मन के आतंक को और बढ़ा रहे हैं। किंतु ये हैं त्रेताग्नि। कहते हैं—आपकी प्रसन्नता से हमारी प्रसन्नता है, आपके दुख से हमें दुख होता है।' अतएव वे स्वयं जो कुछ कहना चाहते थे उसको केवल एक ही शब्द— अस्तु—में समेट लिया और चुप्पी साध ली।

उनमें से जो ज्येष्ठ थे, वे ही यह सब कुछ कहते रहे। उन्होंने अपना वक्तव्य आगे बढ़ाया—''दो नदियाँ एक स्थान पर मिल जाती हैं। जब तक वे एक न हो जाएँ तब तक 'वह नदी' 'यह नदी' कहकर उसको पृथक रूप में पहचान लिया करते हैं। किंतु जब दोनों एकाकार हो जाती हैं तब उनमें से कौन नदी यह कहते हुए दुख करेगी कि हाय मैं खो गई।''

देवरात ने मन-ही-मन कुछ गुना—'मैंने सोचा था कि ये कुछ और ही समझाने जा रहे हैं। पर ये तो कर्मकांड एवं ज्ञानकांड की ही चर्चा कर रहे हैं। तो क्या इन दोनों में कोई अंतर है नहीं ?'

ज्येष्ठ मानो उसके मन की शंका को ताड़ गए। उन्होंने कहा—''हाँ, दोनों में कोई अंतर है ही नहीं। तुम दोनों में भेद मान रहे हो, अतएव प्रात:काल से लेकर अबतक उसी पर दुख करते रहे। जातवेद अभिदान से प्रसिद्ध मुझे (तबतक अन्य दो अग्नि अदृश्य हो चुके थे) उद्देश्य कर नमस्कार करते समय तुम्हारे वदन से निकलता है—'कांडद्वयोपपाद्याय कर्मब्रह्म स्वरूपिणे।' तो इसके अर्थ की ओर तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं गया ? अपने मन के संदेह को निकालो। क्यों ? अभी उसका समाधान प्राप्त नहीं हुआ है। तो सीमंतोन्नयन तक प्रतीक्षा करो। सीमंतोन्नयन संपन्न हो जाने पर गर्भस्थ शिशु को उद्देश्य कर चर्चा करो। वही तुम्हारे मन के संदेह को दूर करेगा। हम देवता कर्मकांड के ऋषि हैं। तुम्हारे वंश के पितृगण ने एकत्र होकर तुम्हारे वंश को ही नहीं अपितु संपूर्ण संसार को तार देनेवाले महापुरुष को तुम्हें पुत्र के रूप में अनुग्रहीत किया है। तुम्हारे विश्वास के लिए कह रहा हूँ। कल तुम्हारे यहाँ राजप्रासाद से सोपस्कर प्राप्त होगा न, उसके संग-संग दो दुधारू गायें भी आएँगी। उनमें एक लालिम होगी; दूसरी काली। राजपुरोहित ने सोपस्कर के बारे में तुमसे बतियाते समय इसका उल्लेख नहीं किया था। क्यों ?''

''हाँ, गायों के बारे में उन्होंने बात नहीं की थी।''

''अभी मैं सब कुछ तुम पर प्रकट कर सकता हूँ। किंतु मेरे कहने के स्थान पर गर्भस्थ शिशु ही तुम्हें कह सुनाएँ तो तुम्हें संपूर्ण विश्वास होगा। अतएव उसी से कहलवाऊँगा। अब तो दुख छोड़ स्वस्थ हो जाओ। तुम जितना अधिक दुख करोगे न, उतना ही अधिक ताप होगा ?''

देवरात को लगा कि उसके ऊपर से एक आवरण विदीर्ण होकर ध्वस्त हो गया। मन प्रसन्न हुआ; चित्त प्रखर हुआ। बिना प्रयास के उसकी वाणी स्वयं सक्रिय हो गई–''यथाज्ञपयति भगवान् ; अब दुख मुक्त हुआ।''

यज्ञेश्वर ने कहा–''देखा,तुम कितने दुखी थे !'' यों कह उन्होंने अपना हाथ उनकी ओर बढ़ाया। देवरात ने उधर देखा। वहाँ पर लगभग छह हाथ का जो टीला था, जलकर भस्म हो गया।

अब पुनश्च उसके कानों में गूँजा–''आचार्य, यह न भूलना कि यह शरीर तुम्हारा नहीं है। वह तुम्हें हमारे द्वारा प्रदत्त है तथा हम उसमें निवसित हैं। तुम जिन सुख–दुखों को अपना समझकर भोगते हो वे सब हम पर प्रभावी होते हैं, अतएव तुम्हें हमेशा प्रसन्न–चित्त रहना चाहिए।''

आचार्य यह सुनकर भयभीत हुए। अबतक वे अदृश्य हो चुके थे, मन में एक के बाद एक प्रश्न हावी होने लगे–''तो क्या हम सुखों–दुखों को अनुभूत करने में भी स्वतंत्र नहीं ? क्या यहाँ भी हमें देवताओं के अंकुश में रहना पड़ेगा?'' तभी वे स्वप्न से जागे।

इसने तो भाग्य लूट लिया !

श्रावण शुद्ध सप्तमी को आचार्य के घर पर सीमंतोन्नयन है। राजपुरोहित से लेकर राजधानी के सारे ब्राह्मण–श्रेष्ठ पधारे हुए हैं। आश्रमवासियों में से केवल प्रमुखों को ही आमंत्रित किया गया है। उनमें से उद्दालक एवं वैशंपायन प्रमुख हैं।

समय पर संस्कार–कर्म संपन्न हुए। राजप्रासाद के वैणिक ने मंत्रोच्चारण से वीणावादन का साथ दिया। सामगान हुआ, ऋक् पाठ कर ब्राह्मणों ने दंपती को आशीर्वाद दिया। सबके हृदय में एक प्रकार की विशिष्ट भावना घर कर गई थी, मानो बाहर से कोई पधारे हुए हैं तथा उनकी सन्निधि सब के लिए परम प्रिय है। प्रश्न

करने पर भी कोई समाधान नहीं दे पा रहा। पर मन में पैठी दृढ़ धारणा को वे हटा भी नहीं पाए थे।

कर्मांत पर ब्राह्मणाशीर्वचन के समय ब्राह्मणियाँ सस्वर गायन करने लगीं। नवोढ़ा-सी, नए परिधानों में सजी-सँवरी आलंबिनी देवी एवं गर्भ-दीक्षा-तेज-संपन्न आचार्य-दोनों की आरती उतारी गई। सब कुछ सक्रम संपन्न हो गया। सभी भोजन-तांबूलादि सत्कारों से समादृत हो अपने-अपने निवास लौटे।

यज्ञेश्वर के कथन को देवरात नहीं भूले थे। वे भी सीमंतोन्नयन की प्रतीक्षा में थे। तब तक अर्थात् कर्म समाप्ति तक गर्भस्थ शिशु पर पिता का अधिकार नहीं होता। सीमंतोपरांत गर्भस्थ जीव उस वंश का हो जाता है तो उस पर पिता का अधिकार हो जाता है। तब जो भी पूछना चाहे, अधिकार मिल जाता है।

'अब यह जीव मेरा पुत्र बन चुका है। क्या मुझे उससे संवाद करना होगा ? या उसका उपक्रम वही करेगा ? हममें से जो भी ज्ञान वृद्ध होगा, उसके साथ ही वह बात करे। पर इस व्यवस्था का ज्ञान उसे कैसे होगा ? पिंड आकार में छोटा होने पर भी उसमें अवस्थित जीव को छोटा कैसे कहा जाए ? देह की दृष्टि से यों कहा जा सकता है। पर देह में जो अदेही अवस्थित है उसके श्रेष्ठ या कनिष्ठ होने का निर्णय कौन करे ?' आचार्य को ये ही चिंताएँ सताने लगीं।

साथ-साथ और भी एक चिंता थी। 'पुत्र तो माता-शिष्य होता है। माता से जो भी सीखना होता है वह सब यदि सीखना हो तो माता को ही उसे ब्रह्म-विद्या सिखानी पड़ेगी। आज तक पत्नी को अपने लिए उपयोगी होने योग्य रीति से कर्मकांड की शिक्षा दी है, न कि ब्रह्म-विद्या की। ब्रह्म-विद्या तो एक नया अनुभव होती है। मुझे यही भय था कि यदि वह ब्रह्म-विद्या सीखे तो गृहस्थी के लिए अनुकूल नहीं रह जाएगी। मेरा यह भय अगली पीढ़ी के कुंठित हो जाने में परिणत हो जाता है तो अन्याय होगा। जिसका होना निश्चित है वह होकर ही रहेगा। वह भी विशेषकर विश्व के बारे में यह सत्य सिद्ध होता है क्योंकि विश्व सर्वसंबद्ध होता है। विश्व के एक कोने में कहीं कुछ बुरा या भला घट जाए तो उसका प्रभाव सारे विश्व में हो जाता है। यदि किसी पात्र में (बरतन में) पानी भरकर उसमें एक डली नमक या शक्कर छोड़ दें तो वह गल कर पात्र में भरे पानी भर में व्याप जाता है। यदि उसका अंश अधिक है तो अपना स्वाद उसको देगा। यदि वह मात्रा में कम होगा तो अपनी रुचि से पूर्ण रूप से प्रभावित तो नहीं कर पाता, तथापि जल की रुचि में थोड़ा-सा परिवर्तन तो ला ही देता है। आचार्य का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति

का कार्यकलाप विश्व के व्यवहार पर प्रभाव डाल सकता है, अतएव यह कैसे भूला जा सकता है कि गर्भावस्था में ही शिशु की शिक्षा का आरंभ कर देना चाहिए। इस तथ्य का निराकरण कैसे किया जाए ?

'स्वयं यज्ञेश्वर ने कहा है—देवर्षि एवं पितृओं ने पृथ्वी पर उस जीव के अवतरण के लिए तुम्हें चुना है। तो ऐसी स्थिति में मेरा आचरण कैसा रहे ? कहा गया है—गर्भस्थ शिशु आपके वंश को ही नहीं, अपितु समस्त संसार को तार देगा। तो शिशु की शिक्षा को कुंठित क्यों करूँ ? अतएव शिशु को शिक्षा प्रदान करने भर की सामर्थ्य माता के लिए उपलब्ध कराना होगा। अन्यथा मेरे द्वारा कर्तव्यलोप हो जाएगा। यह तो होना नहीं चाहिए।'

''सुनो, आलंबी मैं भूल चुका था। तुम्हारी माता तुम्हारी प्रथम जचगी की देख-रेख के लिए आ चुकी हैं। उन्हें कर्म स्वरूप एवं उसके फल से अवगत करा देना। शेष बातों की ओर वे स्वयं क्रियाशील होंगी।''

आलंबिनी को यह परामर्श जँच गया। उसने कहा—''अस्तु।'' पति -पत्नी दोनों को लगा कि अपने ऊपर का कोई बोझ हलका हुआ है। आलंबिनी को तत्क्षण कुछ स्मरण हो आया। जाने को उद्यत पति से कहा—''आपने कहा था कि पुत्र जन्म पर 'भद्रं कर्णेभिः' मंत्र का उपदेश देंगे। यह कार्य प्रायः संभव न हो।''

देवरात ने संतोष की हँसी हँसकर कहा—''मैंने जिस मंत्र का उल्लेख किया, वह तो कर्मबीज मंत्र है। जपादि उसके लिए दी जानेवाली खाद है।''

पत्नी ने पति के इस कथन पर अपनी स्वीकृति दी। वे वहाँ से चल पड़ीं।

'तो मेरे भय एवं संशय का क्या होगा ? जब तक गर्भस्थ शिशु से चर्चा न कर लूँ तब तक इसका निवारण नहीं होगा। तो उससे पूर्व जो चल रहा है, जैसे चल रहा है चलने दूँ। विश्व को तारने में समर्थ कोई जीव हमारे गर्भ में प्रविष्ट हुआ है। उसके जन्मोपरांत बड़े होने की प्रक्रिया में उसकी सामर्थ्य में कोई लोप न होए—ऐसी व्यवस्था करना मेरा दायित्व बनता है। यह तो मुझे अपने पत्नी द्वारा संपन्न करवाना होगा। इसका पूरा दायित्व मुझे वहन करना होगा।'

'अस्तु, वह जीव स्वयं आकर बात करेगा तब मैं उसे बुलाऊँगा। हाँ, हाँ, वही सटीक होगा। जब मुझे इसका निश्चित ज्ञान है कि यहाँ ज्ञान में वरिष्ठ कौन है तब विकल्प कहाँ ? हाँ, यह तो है कि यज्ञेश्वर के कथन से यह स्पष्ट नहीं है कि वही ज्ञान-श्रेष्ठ है। अतएव उसके स्वयं आने तक प्रतीक्षा करनी होगी। तब उससे पूछा भी जा सकता है कि मातृतः अर्थात् मातृ द्वारा तुम्हें किस प्रकार की शिक्षा चाहिए। जो विश्व के तारण के लिए जन्म ले रहा है, क्या वह यह नहीं जानता कि

आत्मोद्धार के लिए क्या चाहिए? आत्मोद्धार होने से ही विश्वोद्धार संभव होगा न?'

यद्यपि वे आज सबसे हँस-बोल रहे थे, तथापि भोजन के समय एवं भोजनोपरांत तांबूल वितरण करते समय उन्हें वही चिंता खाए जा रही थी। यद्यपि संशय शेष था तथापि संध्या होते-होते वे एक निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे। अब मन हलका हुआ था।

संध्या हो चली है। देवरात के स्नान का समय हो चला है। तब एक ब्राह्मण आचार्य को आवाज़ देते हुए भीतर प्रविष्ट हुए। तब तक चिंतामुक्त आचार्य ने उनकी ध्वनि से ही आगत व्यक्ति को पहचान लिया। उनका स्वागत करने बाहर आए। ''पधारें,हमारा सौभाग्य है कि हमारे घर बुडलजी पधारे हैं।'' ये आगंतुक बुडिलजी राजपुरोहित एवं निकट बंधु हैं। यद्यपि अध्ययन एवं अध्यापन में सुख्यात रहे हैं, तथापि प्राय: राजाश्रय में अनासक्त होने से या किसी और कारण से जैसे-तैसे रह गए हैं। किंतु बाह्मण-मंडली में इनका बड़ा आदर है।

बुडिलजी भीतर आते हुए बोले-''देवरात, तुमने तो भाग्य लूट लिया। क्यों सच कह रहा हूँ न?''

देवरात ने चरण प्रक्षालन के लिए उनको जल दिया। उसके बाद उन्हें भीतर लिवा लाए तथा वेत्रासन पर बिठा दिया। हँसते हुए कहा-''आपका कथन प्राय: सत्य है,अन्यथा आप क्योंकर पधारते ?''

''मेरे आने का कारण जानते हो? अब तक मुझे स्नान करके नाक पकड़कर बैठ जाना चाहिए था। तथापि घर जाते-जाते तुम्हें एक समाचार देना था। प्राय: पूछोगे, तभी क्यों नहीं बताया ? वह तो यों ही सबके सामने कहनेवाली बात नहीं थी। वह एक रहस्य है, इसीलिए अब यहाँ आया हूँ। आज जब उत्सव के समय पीढ़े पर बैठे थे तभी मुझे कुछ सूझ गया। जब कर्म संपन्न हो रहा था तभी मैंने 'संयम'* किया था। यों कहिए कि किसी बलवती शक्ति ने मुझसे संयम करवाया। जानते हो कि मैंने क्या देखा ?कोई एक तपस्वी यहाँ आए हुए हैं। तुम्हारे पिता, पितामह सभी हाथ बाँधे खड़े हैं। मानो शिष्य गुरु के पीछे खड़े हुए हों। मैं यह देखकर आश्चर्य में पड़ा। इतने में आगंतुक का तेज देखा तो लगा कि ऐसे तेजस्वी को आज

* संयम : ध्यानस्थ हो दूसरे के मन में प्रविष्ट हो वार्तालाप करना।

तक नहीं देखा है। मैं खड़ा हो गया, आपके पिताश्री से पूछा–'ये कौन हैं?' उन्होंने कहा–'संसार को तारण देने के लिए देवता एवं ऋषियों ने इन्हें भेजा है। यह हमारा सौभाग्य है कि ये हमारे घर में जन्म ले रहे हैं। हमारे देवरात का भाग्य ही भाग्य है।' यों कहकर वे अदृश्य हो गए। मैंने सिर हिलाते हुए कहा–'अस्तु'। तभी से मैंने तुम्हें यह बात बतानी चाही। किंतु समय नहीं मिला। इसलिए अब लौटा हूँ। स्नान करने से पूर्व ही तुम्हें यह बात बता देना चाहता था। हाँ, अहम बात यह है कि तुम्हारा पुत्र अतिपिता ही नहीं, अतिपितामह बनेगा। इसमें कोई संदेह नहीं। अब बताओ, भाग्य लूटनेवाले तुम ही हो न, क्यों ठीक कह रहा हूँ न? अतिपिता बननेवाले पुत्र के पिता तुम बन रहे हो। तुम भाग्यवान् नहीं तो और क्या?''

''बुडिल-सदृश महानुभाव के आशीर्वाद से यह जो हुआ!'' देवरात ने बुडिलजी को नमस्कार किया। अपनी पत्नी से भी करवाया। दोनों ने उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। बुडिलजी जाने लगे।

देवरात ने कहा–''एक बात का उल्लेख करना था।''

बुडिलजी रुके और कहा–''शीघ्रता करना, मुझे अभी स्नान संध्या एवं अग्निहोत्र करना है ?''

''अस्तु, ब्राह्मण समाज में ज्येष्ठता ज्ञान से ही आँकी जाती है न?''

''इसमें कोई संदेह है ? ब्राह्मणों में ज्ञान-वृद्धों को वरीयता है। क्षत्रियों में पराक्रम से वरिष्ठता है, वैश्यों में संपत्ति के कारण वरिष्ठता है , अन्यों में वय की वृद्धता मानी जाती है।''

''अच्छा, यदि हमारा होनेवाला पुत्र आपके कहे अनुसार अतिपिता है, तथा वह मेरे सम्मुख प्रस्तुत होगा तो मैं उसका पिता उसका नमन कैसे करूँ? पिता होने के नाते मैं ज्येष्ठ हूँ न?''

''यदि ऐसा अवसर आए तो पुत्र देह से प्रणाम करेगा। पिता मन से नमस्कार करेंगे।''

''ठीक है, मेरी समझ में बात स्पष्ट नहीं हुई थी ।''

''भविष्य में सब कुछ समझ जाओगे, तुम्हारे घर में यही क्रम चलेगा। मुझे जाने देना, विलंब हो चुका।'' यों कहकर बुडिलजी शीघ्रता करते हुए विदा हुए। देवरात उनसे विदा हुए। स्नानार्थ चल पड़े।

दर्शन प्राप्त हुआ

श्रावण शुद्ध पूर्णिमा सोमवार था। देवरात दंपती ने पूर्णमासी याग संपन्न किया। यज्ञेश्वर ने तीनों कुंडों में प्रसन्न चित्त बैठ हव्य ग्रहण किया। देवरात पर विशिष्ट प्रसन्नता आच्छादित थी। पिछले आठ–दस दिनों से मन में ठानते आ रहे थे–'आज बिना चूके संयम करूँगा तथा गर्भस्थ शिशु के संग वार्तालाप करूँगा।' किंतु उसे भय होता। जैसे अपने से बड़ों के सम्मुख जाने से मन भयभीत जो होता है यह उसी प्रकार का भय था, देवरात उसे टालने के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढ़ते आ रहे थे। किंतु आज दृढ़ निश्चय कर लिया था–'जो भी हो। आज बात कर लेनी चाहिए। अब कब तक टालता रहूँ ? यदि यों ही निष्क्रिय रह जाऊँगा, तो मुझे स्पष्ट नहीं होगा कि पत्नी से क्या कहूँ। तब वह भी निष्क्रिय ही रह जाएगी। यों हम दोनों कर्तव्य–विमुख हो जाएँगे। 'यह उचित नहीं।' किंतु भय अभी दूर नहीं हुआ था , संयम करूँ कि न करूँ, करूँ तो कुछ अनिष्ट नहीं होगा ? न करूँ तो भी हानि होगी। अंत में संशय की अवस्था में ही उनका मन संयम करने की ओर झुका। हड्डी को कँपाती सर्दी में भी वैदिक ब्राह्मण हठात् जिस प्रकार नदी में स्नानार्थ उतरता है उसी प्रकार वे संयम करने के लिए सन्नद्ध हो गए।

दिन व्यतीत हो गया । संध्या स्नान का समय हो चुका; संध्या–कर्म पूर्ण हुआ । अग्निहोत्र, पुनः फलाहार। देवरात ने पत्नी को बुलाकर कहा–''आज घर का सारा काम अविलंब पूरा करो।'' पत्नी ने कहा–''हाँ, आज मैं भी थक गई हूँ। सारा शरीर टूट रहा है। आपका आदेश मुझे मान्य है। मैं भी विश्राम के लिए अविलंब शयन करना चाहती हूँ।'' तो घर का काम हड़बड़ाकर निबटाने लगी। देवरात ने पत्नी को सावधान किया–''हाँ शीघ्रता में बिना भोजन किए सो न जाना। तुम्हारे गर्भ में एक जीव भी है।'' इसकी प्रतिक्रिया में वह हँसी–''अच्छा ! मैंने सोचा था, एक दो केले खाकर दूध पी लूँ। अब आपका आदेश जो हुआ, भोजन करके ही दूध पिऊँगी।''

देवरात शय्यागृह में पत्नी की प्रतीक्षा कर रहे थे । वह भी अविलंब वहाँ पहुँची, आज पति को तांबूल का उपचार नहीं था।

अतएव वह तांबूल चर्वण कर भीतर आई थी। देवरात जानते थे कि जब तक वे स्वयं नहीं सो जाएँगे, पत्नी नहीं सोएगी। अतएव वे शय्या [illegible] । मन [illegible]

सोच लिया था–''पत्नी सो जाए, आधी रात के समय ही संयम करूँगा।'' पत्नी सो गई; वे जागे ही थे। किंतु कुछ ही समय में वे भी निद्राग्रस्त हो गए।

तीसरे पहर का आधा समय बीत चुका था। तभी देवरात को एक सपना आया। सपने में देवरात अग्निगृह से निकलकर स्नान घर में गए, हाथ-पैर धोकर आए और शुद्धाचमन करने लगे। तभी मुख्यद्वार से कोई भीतर प्रविष्ट हुआ और कहा–'आचार्य अभिवादन।' अब देवरात कहना चाहते थे–'आयुष्मान भो विधि।' किंतु वे उनका नाम नहीं जानते थे। अतएव जहाँ नाम लेना था वहाँ किसी शक्ति की प्रेरणा से कह दिया, ''याज्ञवल्क्य विधि।'' अपनी इस अभिव्यक्ति के प्रति उनका ध्यान नहीं रहा, वे अभी यह सोच ही रहे थे कि मैं क्या कर रहा हूँ, तभी आगत अभिवादक कह उठे–''आपने जो कहा वह उचित ही है। वही मेरा नाम हो, जब हमें ज्ञात है कि नाम रूप सत्य नहीं होते तो व्यवहार के लिए कोई नाम हो तो क्या अंतर होगा।'' देवरात को प्रतीत हुआ कि ये ही हमारे गर्भ में प्रविष्ट हो पुत्र बनेंगे। तभी किसी ने कह दिया, ''हाँ यही है, सर्वप्रथम नमस्कार करो। इसके तेजस को देखा न? यज्ञेश्वर-सदृश प्रकाशमान हैं।'' देवरात को बुडिल जी का कथन स्मरण हो आया। उन्होंने मन से उसको प्रणाम किया तो आगंतुक इससे अवगत हुए। उन्होंने कहा–''मैं तो आपका पुत्र ठहरा। आप मुझे प्रणाम क्यों करते हैं ? मैं तो आपके प्रकाश में लाभान्वित होने आया हूँ।'' देवरात चाहते थे कि पूछें कि वे कहाँ से आए हैं? उनके मुँह से बात निकलने से पूर्व वे उसको जान लेते हैं– ''मैं ही बतानेवाला था। आपने पूछा तो अच्छा हुआ। अब भविष्य में आप मुझे एकवचन में याज्ञवल्क्य ही कहें। आप यज्ञवल्क्य उपाधि से प्रसिद्ध हैं। आपके पुत्र के रूप में मेरा नाम याज्ञवल्क्य ही पड़े। मैं तमोलोक में था; वहाँ नाम रूप का अधिक आदर नहीं होता। जिस दिन मैं आप दंपती का दर्शन कर गर्भ में प्रविष्ट हुआ तभी देवता ऋषि एवं पितृ हमारे आश्रम में आए और कहा–'तुम्हें भूलोक जाना होगा।' मैंने प्रश्न किया–'मुझे वहाँ कब तक रहना होगा?' उन्होंने उत्तर दिया–'एक पुरुषमान (व्यक्ति की जीवनावधि) तक वहाँ रहकर विश्वकल्याण के लिए एक संहिता, एक ब्राह्मण एवं एक उपनिषद का अवतरण करना होगा। अतएव, तुम्हें वहाँ के लिए प्रस्थान करना होगा।' मैंने पुन: प्रश्न किया–'क्या मैं एक अंश में यहाँ रहकर शेष अंश में वहाँ रह लूँ।' उन्होंने कहा–'नहीं, महाविष्णु का आदेश हुआ है कि तुम अपने संपूर्ण तेज के साथ वहाँ जन्म लो। यही बताने हम तीनों आए हुए हैं।' यह महाविष्णु का आदेश है तो बिना प्रतिवाद के मैंने हामी भरी।''

अब तक उसके सामीप्य के कारण देवरात का परिचय आत्मीय होकर उनसे संवाद करने का साहस हुआ–''मुझे प्रतीत हुआ था कि तब आपको शीघ्रता थी।''

''हाँ, उसका भी कारण था। मैंने सोचा था छह मास पूरे हो चुके हैं। गर्भ पल चुका है। हम अवधि की गणना पूर्णिमा से पूर्णिमा तक किया करते हैं , परंतु आप अमावस्या से अमावस्या तक। अतएव एक पक्ष का अंतर हो गया। किंतु उससे आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ न ? चूँकि मैं असमय में ही आ गया था। मुझे आपके घर में संपन्न सीमंतोन्नयन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। तब आपके पिता एवं पितामह दोनों ने साथ आने का आग्रह किया। एक वृद्ध ने उस दिन हमें भी देखा था। लगता है कि आपके पिता के मित्र थे। वे भी आपके समान मेरा नाम जानना चाहते थे। इतने में हम अदृश्य हो गए। आप इस बात से अवगत हैं ही।''

देवरात ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा–''मैं जानता हूँ कि उसी दिन से मुझे देखने के लिए संयम करने की सोच में हैं। किंतु गर्भस्थ पिंड में प्राण अभी सही ढंग से अवस्थित नहीं रहा। वहाँ के करण एवं नाड़ियाँ समाहित नहीं हो पाई थीं। अतएव मैंने सोचा कि मैं स्वयं आपसे मिलूँ, यही विहित होगा। मैंने ही आपको पिछले दस दिनों से संयम का अवसर नहीं दिया। यदि मुझसे अपराध हुआ है तो मुझे क्षमा करें।''

''यदि मैं उन दिनों संयम करता तो परिणाम क्या होता ?''

''पिंड शिथिल हो गिर जाता। पुनः एक गर्भावधि तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।''

''अस्तु, आपने कहा एक और संहिता,एक ब्राह्मण, एक उपनिषद संसार को देने के लिए आपका जन्म हो रहा है। तो वेदों की संख्या पाँच होगी।''

''नहीं, सदा के लिए वेद चार ही होते हैं , प्रायः मेरे द्वारा देय वेद आज के यजुर्वेद का अंगीभूत होगा। चूँकि ब्राह्मण के अंतर्गत उपनिषत् होते हैं उससे कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।''

''इस प्रकार संहिता, ब्राह्मणोपनिषदों को अनुग्रहीत करनेवाले हैं तो आपको हम किस प्रकार की शिक्षा दें ?''

याज्ञवल्क्य ने हँसते हुए कहा–''मेरा जन्म देवकार्य के लिए रहा है। आप संशय करेंगे कि इस कथन का आशय क्या है ? यह संसार काल–देश के लिए अंकित है। काल का सदा से स्वभाव रहा है–पाक बनाना। इस पाक–प्रक्रिया से

प्रत्येक चेतना अपने तेज की सामर्थ्य में ह्रास को देखते आई है। वीणा को सुर में बिठाकर रख दें तो उसका वादन करें या न करें सुर बैठ जाता है न ? जो ह्रास हो चुका है उसकी भरपाई तो देवता कर देते हैं। निकट भविष्य में संसार ह्रास की स्थिति को प्राप्त होगा। उसके व्यक्त होने से पूर्व ही उसकी भरपाई करने में सहायक साधन को जुटाने का विचार कर देवताओं ने इस कार्य के लिए मुझे दर्वी बनाया है। अतएव मेरे जन्म एवं कर्म-करण को सँभालने का दायित्व देवताओं पर होगा। और तो और 'वयमग्नेर्हि मानुषाः' अर्थात् हम तो अग्नि पर विश्वास धारण किए हुए हैं। तथापि आपने पूछा है, इसलिए कहता हूँ आप माताजी को 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' मंत्र का पाठ करा दीजिए। प्रसव तक वे उसका जाप करती रहें। उसके उपरांत पालने में झुलाते समय इस मंत्र के साथ-साथ 'भद्रंकर्णेभिः' मंत्र उपदिष्ट करें, वे शौच-अशौच की स्थिति की परवाह किए बिना ही इन मंत्रों का अपनी सामर्थ्य के अनुसार पाठ किया करें।''

देवरात अपने मन में उठ रहे शंकाओं के बारे में प्रश्न करने के संबंध में अनिश्चित स्थिति में थे। तभी याज्ञवल्क्य ने उसका उत्तर भी दे दिया- ''आपके मन में जो संशय है कि मेरा पुत्र ब्रह्मवादी बनकर ब्रह्म के शोध में जाए तो क्या वह कर्मों को तज देगा ? इसके लिए कोई आधार नहीं है। मैंने तभी कह दिया है। संहिता एवं ब्राह्मणों को विश्व के लिए उपलब्ध कराते समय सभी कर्मों को दर्पण के समान, स्वच्छ बनाकर प्रस्तुत कर दूँगा। कुरु, पांचाल, काशी एवं मद्र देशों में आपके यश का डंका बजा दूँगा। उसके उपरांत ही अवसर मिले तो संन्यास ग्रहण करूँगा। क्यों आपकी सहमति है न ?''

देवरात कुछ भी नहीं कह पाए। पुत्र की बातों को सुनने के बाद उनमें कोई संदेह शेष नहीं रह गया। सूर्य का दर्शन कर लेने पर क्या उसका तेजोराशि होने के सत्य पर किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है ? इसी तरह पुत्र की बातों में स्वप्रमाण की उपस्थिति देख उन्हें मान्य हो गया।

याज्ञवल्क्य उठे-''मुझे अनुमति दें। कालातीत होने जा रहा है। मेरे कथन की सच्चाई का प्रमाण है कि मेरा जन्म होगा कार्तिक शुक्ल सप्तमी के दिन। तब बिना चूके मेधाजनन* संपन्न करें। शेष सब कुछ शास्त्रों के अनुसार संपन्न हो।''

---

* मेधाजनन : शिशु के नालच्छेद से पूर्व ही पिता शिशु की दक्षिण भुजा का स्पर्श कर मंत्रोच्चारण करता है ।

यों कहकर अभिवादन किया। देवरात ने भी वेदोक्त क्रम से पुत्र का आशीर्वाद किया, मंत्र के पूर्ण होने से पूर्व ही वे जाग गए। जागृत अवस्था में उन्होंने मंत्रोच्चार को पूर्ण किया।

आलंबिनी भी मंत्र श्रवण से जाग गई , उसने पूछा– ''यह क्या? शय्या पर लेटे मंत्रोच्चारण कर रहे हैं ? यह भी कोई रीति है ?''

देवरात ने हँसते हुए कहा–''यह सब तेरे पुत्र के प्रभाव से हो रहा है।'' जब उन्होंने अपने देखे स्वप्न के बारे में बताया, उसने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–''आप तो स्वप्न कहते हैं । परंतु मैंने आपको किसी से बातें करते सुना है।''

देवरात ने कहा–''तुम धन्य हो, तुम कृतार्थ हो गई । तुम्हारे पुण्य से इस घर में न जाने क्या-क्या विचित्र संघटनाएँ होंगी। तुम्हारा हाथ थामकर मैं धन्य हो गया।''

आलंबिनी ने यह सुना तो प्रतिक्रिया में कहा–''अहो ! यह क्या उल्टी गंगा बहा रहे हैं; मैं दिन-रात यह सोचकर प्रसन्न हो रही हूँ कि आप का हाथ थामकर, आप जैसे विद्वान के घर में आकर मैं कृतकृत्य हुई हूँ।''

पत्नी के प्रति प्रेम के कारण उसे बाहों में लेते हुए देवरात ने उसको प्यार करते हुए कहा–''बीज कितना भी श्रेष्ठ कोटि का क्यों न हो , उसके फलीभूत होने के लिए संपद्भरित क्षेत्र की आवश्यकता पड़ती है।'' पति की प्रेमाभिव्यक्ति एवं प्रशंसा को स्वीकारने में उसने कोई संकोच नहीं किया।

वह भी दोहद ही तो है

आलंबिनी देवी दिन-रात मंत्रजाप किया करती हैं। प्रायः मंत्र का ही प्रभाव है कि उसे सर्वत्र एक तेजोराशि दीख पड़ती है। और एक विशेषता है, उसे प्रतीत होता है कि उसके संग सदा कोई रह रहा है। उसके मन में उसके बारे में जानने का कौतूहल यदाकदा जाग पड़ता है , किंतु वह कौतूहल प्रयत्न में परिवर्तित होने से पूर्व ही माघमास के शुभ्र मेघ के समान ओझल हो जाता है। रात के समय सोने में भी उसे अनुभूति होती है कि कोई शिशु पार्श्व में लेटा हुआ है। सह[illegible] जाती है पार्श्व

में शिशु को न पाकर इधर–उधर दृष्टि फेरने की ललक होती है। अग्नि–परिचर्या में 'मूढ' देते समय उसे लगता है कि कोई आँचल पकड़े 'अम्मा, अम्मा' पुकार रहा है। प्रातः जब वह दही मथने बैठती है तब लगता है कि कोई कह रहा है 'अम्मा वह ताज़ा मक्खन मुझे देना।' तो मक्खन के गोल से एक टुकड़ा तोड़कर देने के लिए मुड़ती है तो वहाँ कोई दिखाई नहीं देता। तभी उसे ज्ञात होता है कि यह उसका भ्रम था। हाँ, अब उसे सर्वस्व पूर्ण ही पूर्ण, पूर्णमिदं पूर्णमदः की अनुभूति हो रही है।

यों आश्विन माह व्यतीत हो गया। कार्तिक आया। इसके साथ–साथ आलंबिनी के प्रसव के दिन निकट आते गए। अब गर्भ में हरकत भी है, यदि मंत्रोच्चारण किसी कारण भूल जाए तो भीतर से स्पष्ट 'पूर्णमदः' वाली ध्वनि सुनाई देती है। अनुभवी वृद्धाओं से, जिन्होंने आठ–आठ बच्चे जने थे, पूछती है, ''यह क्या हो रहा है'' तो वे हँसते हुए कहती हैं–''आलंबी, तुम्हारा कहना सुनकर हमें यह सब कुछ विचित्र लगता है। हाँ, हमने अपने बड़ों से सुना था कि जब गर्भ में 'महापुरुष' आता है तब ऐसा कुछ होता है। यदि तुम हम पर रुष्ट न हो तो हम कहना चाहती हैं कि तुम्हारे गर्भ को देखने से ऐसा लगता है कि तुम्हें जुड़वे होंगे। जो भी हो, हमारी प्रार्थना है कि भगवान की दया से माँ –शिशु दोनों का भला हो जाए।'' वे आलंबिनी की माता से कहती हैं–''इसका गर्भ इतना बड़ा दीखता है; कितना बड़ा होगा यह शिशु? माता इसे कैसे जनेगी ?'' यही चिंता उनको भयभीत कर रही है। किंतु उनमें एक अटल विश्वास भी है–'नहीं, भय का कोई कारण नहीं। यह तो दिनप्रति जिस श्रद्धा से यज्ञेश्वर की सेवा किया करती है, वे तो इसका कल्याण करेंगे ही।'

एक दिन ऐसा हुआ। देवरात बैठक में बैठे किसी ग्रंथ का अवलोकन कर रहे थे। सहसा उन्हें कार्तिक शुद्ध सप्तमी की बात स्मरण हो आई। किंतु यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि उस दिन का महत्त्व क्या है ? अंत में बहुत सिर खपाने पर उसे याज्ञवल्क्य की कही बात का स्मरण हो आया। तत्काल वे पत्नी के पास गए और कहा–''कल वृहस्पतिवार सप्तमी है, तुम कल माँ बनोगी।'' लज्जा एवं संकोच से उसका सिर अवनत हुआ। लज्जावनत रूपसी पत्नी को रिझाते हुए उन्होंने निवेदन किया–''आलंबी, तुमसे मैं एक वरदान की अपेक्षा करता हूँ।''

नीरव रहकर पत्नी ने सिर उठाकर पति की ओर देखा। उस दृष्टि में भर्त्सना-भरा कटाक्ष था–'क्या आप निवेदन करेंगे!' उनके द्वारा प्रश्न छूटा–''क्या ?''

अब लजाने की बारी पुरुष की थी–''तुम्हारे जने शिशु का मेधाजनन होना होगा। वह भी गर्भनासाच्छेद* से पूर्व में हो जाना चाहिए।''

पत्नी ने कहा–''आप जो चाहते हैं क्या वह संभव हो पाएगा ? दाई का क्या करें ? कहिए न, यह कैसे होगा।'' उसकी बातों में इस बात की सूचना थी कि उसके स्वीकार करने पर भी यह संभव हो नहीं सकता।

आचार्य पत्नी को बैठक में ले आए। वहाँ वे एक वेत्रासन पर बैठे, पत्नी को पार्श्व में ही अन्य वेत्रासन पर बलात् बिठाया और कहने लगे–''सुनो। यह सारा विश्व अग्निष्टोमात्मक है। यहाँ के प्राणियों को खनिज, उद्भिज, अंडज, जरायुज–इन चार वर्गों में विभाजित तो किया गया है, किंतु अंततोगत्वा सभी जरायुज ही होते हैं। अर्थात् सभी आवरणवाले थैले में बड़े हुए होते हैं। शेष तीनों गर्भ से बाहर निकलने पर बड़े होते हैं। किंतु जरायुज तो गर्भ में ही बढ़कर बाहर आता है। पिता द्वारा उत्सृष्ट बीज को माता अपने गर्भ में धारण करती है, प्रेम से अपना रक्त- मांस देकर उसको परिपुष्ट करती है, सभी अवयवों से विशिष्ट होकर, माता-पिता के समान मूर्त बनाती है। जब तक नालच्छेद नहीं होता तब तक उस शिशु को व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता। यों उस शिशु का भिन्न व्यक्ति होने से पूर्व, पिता स्वयं आकर उसकी दक्षिण भुजा का स्पर्श कर शुभप्रद मंत्रोच्चारण करेगा तो उस शिशु का मन एवं बुद्धि पिता की मनो-बुद्धि के स्तर का हो जाएगा। उसके उपरांत शिशु के संवर्द्धन के साथ-साथ उनमें भी संवर्द्धन आएगा। यह दोहद प्राप्त वृक्ष-सा फलदायक होगा। अतएव मैं अपने वंश को अनुलक्ष्य करते हुए, वंशोद्धारक पुत्र को जन रही माता से यह वरदान माँग रहा हूँ।''

''अस्तु, आपने दक्षिण भुजा का उल्लेख किया। वह क्यों ?''

''देवता दक्षिण भुजा से होकर ही देह में प्रविष्ट होते हैं। यह देह यज्ञ-महायज्ञों से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त करती है। उस अवस्था में देह के किसी भाग में भी वे दर्शन दें। किंतु जबतक देह देवायतन नहीं बन जाता तब तक उनको आवाहित करना पड़ता है। यह आवाहन-क्रिया दक्षिण भुजा के स्पर्श से ही हो सकती है। यदि तुम्हें उसे देखने की इच्छा हो , हम जिस दिन अष्टकश्राद्ध किया करते हैं, उस दिन स्मरण दिलाना। विश्वदेव के ब्राह्मण में स्थित होने तथा कर्मांतर पर वहाँ से निष्क्रमित होने का परिदृश्य दिखा सकता हूँ।''

---

* गर्भनासाच्छेद : नाल काटने की क्रिया ।

''यदि हम यह कर्माचरण न करें तो क्या होगा?''

''हमारा पुत्र हमारे वंश के विशिष्ट लक्षणों को प्राप्त नहीं कर पाएगा। इसके विपरीत अपनी पूर्व–वासनाओं के अनुसार बड़ा बनेगा तथा उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व रूपायित होगा। मान लो कि मैंने यह कर्माचरण संपन्न नहीं किया। तो तुम्हारा पुत्र वंशानुगत कर्मठ बनने के बदले और कुछ बन जाएगा। हम राजप्रासाद जाया करते हैं, यदि राजानुग्रह की याचना के लिए नहीं, राजा पर अनुग्रह करने के लिए। उपरोक्त कर्माचरण न करूँ तो आज की दशा में परिवर्तन होगा। इसीलिए तो इस प्रकार की विपरीतता को न होने देने के आशय से मैंने तुमसे वरदान की याचना की है। तुम्हें तो इसे मानना होगा। तुम्हारे पुत्र का आगमन तपोलोक से हुआ है। साथ–साथ दिनरात तुम्हारे द्वारा पूर्णमदः का जाप कराने से वह पूर्ण ध्यान में रत है। यदि उसका मेधा–जनन न हो तो उसकी कर्मश्रद्धा शिथिल होगी। जन्म से ही ब्रह्मज्ञ होने से उसी तरह पल–बढ़कर संन्यासी ही हो जाए। ऐसा होने नहीं दें। मेरा निवेदन इसी हेतु है कि कर्मठों के वंश में कर्मलोप न हो।''

आलंबिनी ने कभी किसी भी रीति से पति की बातों का विरोध नहीं किया था। आज वह निवेदन कर रहा है कि 'मैं स्त्री–सहज लज्जा तजकर आचरण करूँ। यदि मैं हाँ कहूँ तो स्त्रीत्व इसको अपराध मानेगा, न कहूँ तो, पतिद्रोह होगा। क्या किया जाए?'

उसने पलभर के लिए सोचा। एक दृढ़ निर्णय पर पहुँची कि पति जो कह रहे हैं वही उचित है। पति का वंश तो कर्मकांड के लिए सुख्यात है। यद्यपि इनके दस ही शिष्य हैं तथा अध्यापनादि कार्य घर में ही चलते हैं, तथापि ये आचार्य की उपाधि से विभूषित हैं। देश–विदेशों में इनके अध्वर्यु का नाम है ; तथा इसका कारण ब्रह्म, आदि सारे ऋत्विज बड़ी सावधानी बरतते हुए अत्विर्ज्य करते हैं। ऐसे कई यजमान उनके देखने में आए हैं जो विश्वास करते हैं कि आचार्य देवरात अध्वर्यु बनेंगे तो उनके मन की इच्छा सफल होगी। अब वे स्वयं इसके सम्मुख प्रार्थी बने हैं तो न कैसे करें ? लज्जावश मेरे प्राण ही क्यों न सूख जाएँ, मुझे पति के वंश की कीर्ति को बचाए रखना है। उसने पूछा–''किंतु दाई वहाँ रहेगी न ?''

देवरात ने कहा–''तुमने स्वीकृति दी है। अब दाई की बात रहने दो। आज अभी चौथ है। अभी तीन दिन शेष हैं। इस अवधि में उसको कर्मस्वरूप के संबंध में बता देना होगा। उससे कह दिया जाए कि शिशु जन्म के तत्क्षण बाद वह थोड़े समय के लिए बाहर आ जाए।''

आलंबिनी को यह सब इतना सरल नहीं लगा। 'पर जब पतिदेव स्वयं इस दायित्व को वहन कर रहे हैं तो मैं क्यों आनाकानी करूँ?' यह सोचकर कहा, ''तो यह दायित्व आप ही सँभालेंगे न?''

देवरात ने कहा–''हाँ, मैं भूल चुका था ; तुम्हारी माताजी तुम्हारी जचगी के लिए अभी से यहाँ हैं। उन्हें तुम कर्मस्वरूप एवं उसके फल के बारे में कह समझाना। शेष कार्य वे सँभाल लेंगी।''

आलंबिनी को यह परामर्श भा गया। उसने कहा–''ठीक है, यह हो सकता है।'' पति-पत्नी दोनों को संतोष हुआ कि उन पर से एक बोझ उतर गया।

आलंबिनी को कोई बात याद आई–जाने को प्रस्तुत वह रुक गई। पति से पूछा–''शिशु जन्मोपरांत 'भद्रं कर्णेभिः' मंत्र के उपदेश की बात कही थी। तो क्या उससे यह कर्म संपन्न नहीं होगा ?''

देवरात ने अपनी हँसी में संतृप्ति को व्यंजित करते हुए कहा–''मैंने जिस कर्म का उल्लेख किया वही तो बीज-मंत्र है, जप आदि उसके लिए खाद है।''

पत्नी ने उनके कथन पर सहमति प्रकट की।

सुख प्रसव

अगले दिन आलंबिनी ने कर्मविषय संबंधी उल्लेख माँ के सम्मुख किया। पति ने जो कुछ उससे कहा था, वह सब उसे सुना दिया। इस पर माता को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उसने कहा–''तुमने जो किया, ठीक किया। जो देह को ही 'मैं' समझ लेते हैं, उनकी बात अलग है। जो यह मानते हैं कि देह ही मैं नहीं, 'मैं ' तो कुछ और है, उनके लिए यही ठीक है। यह भी सच है कि जन्म से ही स्त्री लज्जा का आवरण ढाँप लेती है। किंतु इसका आशय कदापि नहीं कि पति के वंश के विरुद्ध जाओ, यह मातृगृह के साथ भी द्रोह होगा। अतएव तुमने जो निर्णय लिया वह सही है। अस्तु, अब कहो–प्रसव-गृह कहाँ व्यवस्थित हो ?''

''बैठक के एक कोने में आच्छादनों से ओट कर लिया जाए।''

''ठीक है, वहीं कर लिया जाए, किंतु उसके लिए दोनों ओर से प्रवेश रहे। शिशु-जन्म के तत्क्षण एक प्रवेश द्वार से दाई को बाहर ले चलूँगी। दूसरे से तुम्हारे

पति प्रवेश करें और कर्म संपन्न करके चले जाएँ, उनके जाने के बाद मुझे आवाज़ देना, मैं दाई के साथ आकर जो भी करणीय हो वह सब करूँगी।''

पंचमी का दिन था। कर्म संपन्न करने के लिए आवश्यक सुवर्ण, घृत एवं मधु आ गए थे। चूँकि स्त्री-वर्ग से इस कर्म के लिए स्वीकृति मिली थी, अब देवरात निश्चिंत हो चुके थे।

आलंबिनी की अलसता बढ़ रही थी। बैठने में कठिनाई होती ; बैठ जाती तो उठना दूभर होता। देवरात ने देखा तो अब अग्नि-परिचर्या का कार्य स्वयं सँभाल लिया।

माता जायंती ने पुत्री को गरम पानी से नहलाया। उन्होंने कहा-''गर्भ ढीला हुआ है, अब दो-तीन दिनों के भीतर प्रसव होगा।'' किंतु पुत्री ने प्रतिक्रिया व्यक्त की-''उनके विचार से कल ही प्रसव होगा।'' माता ने कहा-''संभावना है, हाँ, पुत्री एक बात है, बुरा न मानना, शिशु बड़ा भूत-सा होगा।'' दोनों हँसे।

वृहस्पतिवार था। बैठक के एक कोने में प्रसूति-गृह की व्यवस्था की गई। माता ने आवश्यक शयन आदि सँजोया। सभी ने भोजन कर लिया। गर्भिणी को भी कुछ खिलाया गया। दुपहर की समाप्ति पर सूर्य अवतीर्ण हो रहा था। अब गर्भ समय वाली पीड़ा का आभास हुआ। कुछ समयोपरांत पीड़ा बढ़ी। माँ जो भोजन कर रही थी, बीच में ही उठ पड़ी, हाथ धोकर भागती हुई पहुँची।

आलंबिनी को दीर्घ समय तक पीड़ा न उठानी पड़ी। माँ से लगकर बैठी थी। अब पीड़ा अधिक हुई। जलोदय एवं शिशोदय एक साथ हो गए। अब पल-भर बाद शिशु-जन्म हो गया। अपने आगमन की सूचना के रूप में बच्चा रो पड़ा।

माता जायंती पूर्व निश्चित योजना के अनुसार दाई को लेकर बाहर चली आई। दूसरे प्रवेश से देवरात भीतर पहुँच गए। आचार्य ने पुत्र की दक्षिण भुजा को छुआ। उसने मंत्रोच्चारण किया-''देवी सरस्वती तुम्हें मेधा प्रदान करें। इंद्र तुम्हें मेधा प्रदान करें।'' पुनः माता को उद्देश्य कर कहा-''अरुंधती-सदृश वीरमाता, तुमने वीर पुत्र को जना है, तुम प्रशंसा के योग्य हो। तुम्हारा कल्याण हो।'' यों उन्होंने पत्नी का अभिनंदन किया।

वहाँ से बाहर निकलते समय उन्होंने कहा-''अब मैं स्नान करने जा रहा हूँ। कहा जाता है कि जिस अवस्था में हूँ, उसी अवस्था में तटाक में छलाँग लगाना होगा। तब छींटे जितनी ऊँचाई तक उड़ेंगे पितरों को उतना ही उन्नत अक्षयलोक

प्राप्त होगा तथा पितृऋण से हम उऋणी होंगे। जब तक शिशु को स्तनपान कराती रहो तब तक अवश्य सरस्वती का ध्यान करते रहना।

''हे सरस्वती देवि, तुम्हारे स्तन सकल प्राणियों को अन्न प्रदातृ हैं। अधिक मात्रा में रत्न एवं धन दाता हैं। तुम्हारे स्तन देवताओं को रक्षा प्रदान करनेवाले हैं। वही तुम इस शिशु को भी देना।''

जब वे बाहर आ गए तब जायंती एवं दाई भीतर चली आई। गर्म जल से शिशु को प्रक्षालित कर उसकी नाल काटी गई। इस अवसर पर जो भी करणीय था उसे संपन्न कर शिशु को स्तनपान कराया गया तथा माता एवं शिशु को लिटाया गया।

इधर आचार्य जी स्नान करने बाहर निकले ही थे कि राज-प्रासाद से एक राजपुरुष को संग लिए राजपुरोहित पधारे। आचार्य ने उनका स्वागत किया तो उन्होंने कहा-''रथ में राजपुरुष बैठे हैं, उनका स्वागत करें।'' अभी देवरात की शिखा से पानी चू रहा था। उसको निचोड़ते हुए आचार्य ने राजपुरोहित से विनती की-''कृपया मेरी ओर से यह कार्य आप ही करें। मैं वस्त्र धारण कर अभी उपस्थित होता हूँ।'' यों कहते हुए वे भीतर प्रविष्ट हुए।

उनके बाहर आने तक राजपुरुष एवं राजपुरोहित एक कक्ष में बैठे रहे। दोनों ने आचार्य को प्रणाम कर राजाज्ञा कह सुनाई-''महाराजा ने यह संदेश देने के लिए हम दोनों को आदेश दिया है कि शिशु जननोपरांत बिना किसी संकोच के करणीय समस्त कर्म धूमधाम से संपन्न करें तथा राजाशीर्वाद दें।''

आचार्य ने कहा-''घर में बिना किसी कष्ट के शिशु जन्म हुआ। पुत्र-प्राप्ति हुई। राजाज्ञा के अनुसार किसी लोप के बिना सभी कर्म संपन्न कराएँगे। उनसे निवेदन करें कि हमारे प्रत्येक कर्म से निस्संदेह महाराजा का कल्याण होगा। मैं उचित समय पर उपस्थित होकर महाराजा के दर्शन करूँगा।''

मंगल ही मंगल

'जातकर्म वैदिककर्म होता है। उसको लौकिक आचरण का स्वरूप देना उचित नहीं'-यह देवरात का हठ है। किंतु राज-प्रासाद इसे मानने को प्रस्तुत नहीं। उनका तर्क है-'कुलभूषण पुत्र का जन्म हुआ है, अतएव यह समाचार दिगदिगंतों में

फैलना चाहिए।' इसके साथ–साथ भार्गव का प्रयास अलग से कि राज–प्रासाद के परामर्श को देवरात मान्य करें। संपूर्ण मिथिला नगर में भार्गव के परामर्श को अनसुना कर सकनेवाले अकेले महानुभाव थे वृद्ध बुडिलजी। किंतु शेष सभी उनके आचरण पर नाक सिकोड़ते और कहते–'अरे उनकी क्या कहें, अपरिग्रही जो हैं। छोड़िए न उनकी बात। वे तो चाहते हैं कि सभी लोग उन जैसे अपरिग्रही ही बन जाएँ।''

अंततोगत्वा, जातकर्म रजवाड़े के कर्मों की भाँति ही संपन्न हो गए। एक गाड़ी भर शक्कर बाँटा गया। राजज्योतिषी स्वयं आए, उन्होंने शिशु की कुंडली बनाई। वे तो विस्मित थे। भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए कहा–''आचार्यजी, मैंने आज तक ऐसी शुभ कुंडली नहीं देखी है। तुला लग्न है, चतुर्थ में मंगल उच्च स्थान पर है। दशम में गुरु भी उच्च हैं। द्वितीय में रवि है। यह तो कुलभूषण क्या बनेगा; लोक–विभूषण बनेगा–इसमें कोई संदेह नहीं। इसके सामने शास्त्रार्थ में कोई नहीं टिकेगा।'' आचार्य ने पुत्रोत्सव के शुभ अवसर पर बाँटने के लिए दो बोरे शक्कर मँगाए थे; राज–प्रासाद से तीन बोरे आए थे। कुल मिलाकर पाँच बोरे भर शक्कर वितरित किया गया।

नामकरणोत्सव पर भी यही हुआ। लोक–विभूषण के जन्म पर महाराजा बड़े प्रसन्न थे। इस परिवार पर उनका आदर बढ़ गया। उन्होंने दो बोरे चावल तथा उसके साथ सोपस्कर भिजवाया। उसमें से कुछ बचाए रखने के बदले अपने घर का चावल–दाल आदि भी ख़र्च कर दिया। माध्याह्निक वेला तक सारे वैदिक कर्म संपन्न हो चुके थे। प्रारंभ में 'पुण्याह' हुआ। पृथ्वी से सदा ऊर्ध्व दिशा में उठ रही पाप–शक्तियों को कुचलकर पुण्याह–शक्तियों का संवर्धन करने की क्रिया ही पुण्याह–कर्म होता है। वहाँ आए सभी लोग इस बात से अवगत हो गए। वहाँ उपस्थित ज्ञानचक्षु–सिद्ध व्यक्तियों ने देखा, नवग्रह उपस्थित हुए और सुप्रसन्न हो आहुति ग्रहण की। सबने साधुवाद दिया। आयुष्य–होम की वेला में अग्नि ने प्रसन्न हो ज्वालमाला परिशोभित होकर शांत प्रदक्षिणाकर संचरण करते हुए हव्य ग्रहण किया। होम के लिए पधारे ऋत्विजों ने शिशु की प्रशंसा करते हुए कहा–''आज तक हमने बहुत सारे होम किए हैं। किंतु यज्ञेश्वर को इस भाँति प्रसन्न मुद्रा में कभी नहीं देखा। धुएँ का नामोनिशान नहीं। अहो, इस शिशु को देखने से प्रतीत होता है कि इसका जन्म देवकार्य के लिए ही हुआ है।'' अन्य कुछ लोगों ने कहा–''न, न, आपने ठीक विचारा नहीं; वे जो वहाँ बैठे हैं, वे तो साक्षात् यज्ञवल्क्य हैं, उनका

नाम है देवरात, वे तो आचार्य भी हैं। न जाने उन्होंने कितने यागों में अध्वर्यु बन देवता एवं यज्ञेश्वर को प्रसन्न किया है। जब वे स्वयं यजमान बन बैठे हैं तब ऐसा होने में कौन-सी बड़ी बात है।''

उसके उपरांत पितृपूजा रूपी नांदी यज्ञ संपन्न हुआ। देवरात ने अपने पुत्र का नाम याज्ञवल्क्य ही रखा। वहाँ आए कुलपति वैशंपायन ने कुलपति उद्दालक की ओर देखा। वे अर्थपूर्ण रीति से हँसे, कहा–''आचार्य जी को भय है कि यह शिशु ब्रह्मज्ञानी होकर कर्मत्याग न कर दे। अतएव यह नाम दिया है ताकि इस नाम के कारण ही उसको अपने कर्मठ वंशी होने की बात स्मरण आती रहे। अस्तु, ठीक है। मातुल वंश में इनको किसी और नाम से संबोधित किया करेंगे।'' वैशंपायन ने सहमति में सिर हिलाया। हाँ, माध्याह्निक तक सब प्रकार के वैदिक कर्म संपन्न हो गए।

आचार्य जी के घर के पिछवाड़े में एक बग़ीचा था। उसमें एक बड़ा-सा ताल था। उसके परिपार्श्व में एक पाकशाला बनाई गई थी। अब रसोई बनानेवालों ने सबको निमंत्रण देते हुए कहा–''भोजन तैयार है, कृपया सभी माध्याह्निक संपन्न कर लें।'' त्रिकाल स्नानाभ्यासी लोग स्नान करने चले। शेष सभी लोग अपने-अपने कर्मों में व्यस्त हुए।

वहाँ उपस्थित एक वृद्ध सज्जन के मन में एक विचार आया–'कार्तिक मास का वनभोजन जो है, यहाँ आँवले का पेड़ भी है। क्यों न धात्री हवन संपन्न करें।' वे आचार्य जी के पास गए, और उनके सामने यह प्रस्ताव रखा। उनको यह बात जँची, उन्होंने सोचा–'सुविचार है। गृहाशौच समाप्त हो चुका है। क्यों न हो ? दोनों कुलपति पधारे हैं। उनसे बात कर ली जाए।' यों निर्णय कर कुलपतियों के पास पहुँचे।

वे दोनों ताल के पास ही मिले। एक तो स्नान कर ऊपर आए थे, शिष्य द्वारा प्रस्तुत किए शुद्ध वस्त्र धारण कर रहे थे। अन्य सभी अभी पानी में ही थे। आचार्य जी ने कहा–''हमारे ये बुज़ुर्ग कुछ निवेदन करना चाहते हैं।'' यों कह उनके आशय को कुलपतियों पर प्रकट किया। कुलपति वैशंपायन ने स्वीकृति में सिर हिलाया और कहा–''हाँ, हाँ, सुविचार है, वही हो। तथापि उद्दालक जी को आने दो, उनकी अनुज्ञा ले लो। तब तक हवन के लिए आवश्यक सामग्री सँजो लें। इसके लिए अलग से अन्न पके।'' आचार्य ने कहा–''ठीक है।'' उनके आदेश को मान्य करने के लिए एक शिष्य को सूचना दे दी तथा वैशंपायन के साथ उद्दालक की प्रतीक्षा में खड़े रहे।

वे भी आए। जब यह विचार सुना तो उन्होंने भी हामी भरी– ''क्यों न हो ? अवश्य करना चाहिए। तथापि चातुर्वर्ण्यवालों की उपस्थिति चाहिए।'' वैशंपायन ने कहा–''एक कमी रह गई है, राजधानी वाले नहीं आए। आचार्य जी के घर के भोज में सभी प्रमुख आएँगे ही। हाँ, सबसे प्रमुख बुडिलजी पधारे हैं कि नहीं ? उन एक की उपस्थिति लाख लोगों की कमी को पूरा करती है। 'असमंतात् पंक्ति पुनंति' उन जैसे एक की उपस्थिति पर्याप्त है। यही क्यों ? जहाँ वे भोजनार्थ बैठे होते हैं, वहाँ बैठे सभी लोग कृतकृत्य हो जाते हैं। उन्हीं से निवेदन करें कि वे ही सब को आपोशन दें।'' इतने में धात्री हवन की व्यवस्था करने के लिए जो शिष्य गया था वह आया और उसने कहा–''सब व्यवस्था हो चुकी है।''

ब्रह्मयज्ञोपरांत दोनों कुलपतियों के सम्मुख बुडिलजी द्वारा धात्री होम संपन्न कराने का निर्णय हुआ। समय पर धात्री हवन हुआ, सभी ने वैश्वदेव का आचरण किया। भोजन के पूर्व तथा उसके उपरांत भी वेदघोषों से सारा वातावरण गूँज उठा। वहाँ एकत्र सभी चातुर्वर्ण्यवालों ने भोजन का आनंद लिया। संध्या तक भोजन समाराधना होती रही। आचार्य जी के भंडार-घर के चावल-दाल का संग्रह रीता हो गया। पर आचार्य जी के चेहरे पर चिंता की रेखाएँ न दिखाई पड़ीं। उन्होंने भगवान को हाथ जोड़कर संतोष व्यक्त करते हुए कहा–''सब कुछ सार्थक हुआ। भूत संतृप्ति हुई। इस शिशु के जीवन में इसी भाँति सब कुछ सार्थक बने। वह उऋणि बने, कृतकृत्य बने। ''

इधर आलंबिनी देवी विचार कर रही थी कि पुत्र के सुख के लिए क्या कुछ करना वांछित है ? बहुत दिनों से उसने जो कुछ धावलियाँ संगृहीत की थीं उन्हें बाहर निकाला। तीन चार महीनों से माता जायंती एवं स्वयं द्वारा संग्रहीत धोती और साड़ियाँ सब बाहर आ गईं। जायंती ने पोते की आरती में बाँटने के लिए लड्डू तैयार किए। सजा हुआ पालना शिशु के स्वागत के लिए आतुर था।

उस दिन संध्या के समय सुहागिनियों का ही राज हो गया। उनकी प्रसन्नता को पुरुष केवल कल्पना द्वारा आँक सकता है, उसकी अनुभूति वह कदापि नहीं कर पाएगा। स्त्री की प्रसन्नता के लिए उसके निजी उत्सव की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्यपि उसका कोई संबंध नहीं होता तब भी वह दूसरों के उत्सवों में सप्रेम भाग लेती है। यहाँ तो उत्सव आचार्यजी के घर का है, उनकी पत्नी तो सारे नगर के आदर एवं प्रेम की पात्रा है। ऐसे में स्त्रियों के आनंद का क्या कहना !

पारंपरिक गीतों की गूँज, उसके लय के साथ 'गुंडप्पा' * की पूजा से लेकर जो भी रस्म-रिवाज निभाने हैं उन सब का निर्वाह माता जायंती की अगुआई में हो रहा है। सभी कहने लगी हैं–''प्रसूति में आलंबिनी को देखा न? वे अभी नवोढ़ा षोडशी-सी दीखती हैं।'' जो भी आती हैं, बच्चे को देखकर प्रतिक्रिया में यही कहती हैं–''आलंबी, अपने बच्चे की नज़र उतारो। पालने में सोए बच्चे को देखकर कोई ऐसी है क्या जो ईर्ष्या न करती हो। शिशु पूर्णिमा के चंद्र-सा चमक रहा है। वह माथा देखो, वह नाक, वह मुँह, वे ओठ, वे छोटे-छोटे हाथ, कंधा–वे भुजाएँ कितनी लंबी हैं–कान तो हाथी के कान जैसे हैं''– यों सभी भाँति-भाँति से प्रशंसा करती हैं। सभी के मुँह से एक ही बात निकलती है–''आलंबी माता कितनी भाग्यशाली है ! कैसा महान पति है; उस पति की ही तरह का पुत्र ! इस पुत्र को पाकर इसने अपना जन्म सार्थक कर लिया। आचार्य जी ने पुत्र-प्राप्ति के लिए जो तपस्या की वह सार्थक हुई।''

वे भविष्य से अनभिज्ञ थीं। यदि उनमें से कोई शास्त्रज्ञ होती तो उसे विश्वास हो जाता कि उसकी योंही कही बातें शास्त्रवाणी सदृश सत्य होंगी।

जब सारी हलचल एवं शोर थम गया तब आचार्य जी पत्नी के पास आए और उससे बात की। पति को आया देख वह उठने को हुई। पति ने मना करते हुए कहा–''नहीं, नहीं, भविष्य में तुम्हें अपने पुत्र की माता मानकर मुझे तुम्हारा आदर करना होगा। अब तुम्हारा मेरे प्रति आदर भाव का आचरण करने का समय बीत गया। मैं तुम्हें सावधान करने आया हूँ। भविष्य में पुत्र को गोद में लेते समय बिना विस्मण किए सरस्वती का ध्यान करना। पालने में लिटाकर झुलाते समय 'भद्रं कर्णेभिः' कहा करो। यदि संस्कृत में मंत्रोच्चार नहीं कर सको तो उसके आशय को जनभाषा में लोरी या गीत बनाकर गाओ। शेष समय में बच्चे को गोद में लेकर उसको खिलाते समय पूर्णमदः कहना भूलना नहीं। प्रातःकाल से व्यस्त रही हो, सो थक गई हो। अब लेट जाओ, विश्राम करो। देवतागण तुम्हारी और तुम्हारे पुत्र की रक्षा करें।'' इतने में भोजन के लिए गई हुई जायंती वहाँ आ गईं। सास को आया देखकर जामाता सादर उठकर वहाँ से चल पड़े। माता ने बेटी को छेड़ते हुए

---

* 'गुंडप्पा' की पूजा कर्नाटक में शिशु को प्रथम बार पालने में झुलाने समय की एक रस्म है। माताएँ बच्चे को किसी अनिष्ट घटना से रक्षा करने के लिए 'गुंडप्पा' की पूजा करती हैं। वे मसाला पीसने के उपयोग में आनेवाले पाषाणखंड को पालने में झुलाकर उसकी पूजा करती हैं तथा लोरी गाती हैं। वे उसकी आरती उतारकर उसके बाद ही बच्चे को पालने में झुलाती हैं।

कहा–''वाह री पुत्री, पति को भीतर बुला तो लिया, पर बच्चा उसके हाथ में नहीं दिया !'' माता की इस प्यार-भरी झिड़की का आनंद उठाते हुए उसी लहजे में उसने प्रतिक्रिया व्यक्त की–''माते, मैं जानती हूँ कि पति-पत्नी की यह लुकाछिपी आपको भी प्रिय है। यदि वे अपने पुत्र को हाथ में लेना चाहते होते तो मैं बीच में न पड़ती। पर मैं स्वयं क्यों कहूँ, शिशु को हाथ में लो। दुपहर के समय उन्होंने शिशु को भर आँख देखा था न? महीने भर के जन्मशौच की समाप्ति पर मना करने पर भी वे स्वयं बच्चे को हाथों में लेंगे ही। वे अभी तो यह समझाने आए थे कि मैं मंत्रोच्चारण करती रहूँ अथवा कम से कम मंत्रार्थ का मनन करती रहूँ।'' माता को पुत्री द्वारा कथित सपने का स्मरण हो आया, वे सोचने लगीं, 'न जाने यह शिशु कितना बड़ा महात्मा बने !' मुँह में तांबूल भरा था और आँखों में नींद। बातें करते-करते वे वहीं सो गईं। प्रातः से श्रम करने के कारण शरीर थका हुआ था। गहरी नींद ने थकावट भुला दी।

अपरिग्रही बने

शिशु दो माह का हो गया। इन दो महीनों में उसका पालना दो बार बदलना पड़ा। इस प्रकार बढ़ते हुए शिशु को देखकर माता एवं जायंती दोनों को बड़ा हर्ष हुआ। देवरात को तो बड़ा अचंभा था।

दो मास के उपरांत दो-तीन दिन ही व्यतीत हुए थे कि बुडिल जी उनके घर पर पधारे और आवाज़ दी–''आचार्य !'' देवरात द्वार तक आए, उनका स्वागत करते हुए भीतर ले गए। देवरात ने धोती को बड़े सुंदर ढंग से पहना हुआ था। उसको देखकर बुडिल जी ने प्रशंसा में कहा–''यही कारण है भई, तुम्हारी दाद दिए बिना रहा नहीं जाता। अहो, धोती पहनने की रीति कोई तुमसे सीखे। अस्तु, लगता है किसी कार्यार्थ [1] निकले हो, मैं एकाकी ब्राह्मण रास्ता काट गया।''

आचार्य ने हँसते हुए कहा–''आप ही ऐसा कहेंगे तो कैसे ? सर्वदेवा : वेदविदि ब्राह्मणे प्रतिवसंति–यह आपकी ही उक्ति है। 'वेदविद् ब्राह्मण में समस्त देवता निवास करते हैं ' तो आप एकाकी क्योंकर हुए ?''

---

1. कार्यार्थ जा रहे व्यक्ति के रास्ते पर एकाकी ब्राह्मण आड़े पड़े तो वह अपशकुन समझा जाता है।

बुडिल जी भी हँसे। उन्होंने प्रतिक्रिया में कहा–''इसी को माया कहते हैं। हमें जो ज्ञात रहता है उसको दबाकर हमसे दूसरा ही कुछ कहला देता है। अस्तु, कहो, मेरे आने से तुम्हारे कार्य में कोई विघ्न तो नहीं पड़ा?''

''ऐसा कुछ नहीं, भार्गव जी ने मुझे आने को कहा है। न जाने किस अभिप्राय से ? बाद में भी जाया जा सकता है। न भी जाऊँ तो भी चलेगा। आप आ गए तो अन्य सब कार्य महत्त्व खो देते हैं।''

''सो ठीक है। मेरा आना कुछ विचित्र आशय से है। तुम्हारी पत्नी की जन्म-शौचावधि पूर्ण हो गई है न ?''

''हाँ, एक माह पूर्व ही हुआ।''

''तो ठीक है। मैं शिशु को देखना चाहता हूँ, इसीलिए आया।''

''पत्नी से कहूँ शिशु को गोद में लेकर आए, या आप स्वयं वहीं चलेंगे ?''

''और कोई होता तो कहता, यहीं बुला लो। किंतु मैंने उस दिन जो दृश्य देखा है, उसे भुला नहीं पा रहा। अतएव मैं सोचता हूँ कि जब कोई महापुरुष तुम्हारे घर में आ चुका है, उसको देखने के लिए मुझे ही अग्रसर होना चाहिए।''

बुडिल जी ने अपनी अंटी से एक डिबिया निकाली। यह क्या है–देखा। उसमें यज्ञेश्वर का प्रसाद, विभूति और एक पत्ते पर 'रक्षा' थीं।

''उनके दर्शन के लिए जाते समय रिक्त हस्त होकर नहीं जाया जाता। इसीलिए यह ले आया। यह न समझना कि तुम्हारे घर में जो नहीं वह मैं लाया हूँ। यह अहंकार-प्रदर्शन के लिए नहीं है।''

''यह क्या ? आप जैसों का आशीर्वाद उस शिशु को अवश्य चाहिए। ऐसे में आप ही यों कहेंगे तो क्या होगा ?''

''यह बात नहीं ! यद्यपि तुम्हारा पुत्र आकार में छोटा है तथापि महान-जीव है। हमें सदा इस बात का स्मरण रखना चाहिए। न जाने किसके प्रभाव से और किस आशय की पूर्ति के लिए उसका जन्म हुआ है।''

देवरात को उनकी बात सही लगी। वे पत्नी को एकांत में इसका समाचार देना चाहते थे। इसी भाव में बुडिल जी की विचारधारा से सहमति व्यक्त करते हुए कहा–''हाँ, आप ही की बात दुहराता हूँ। इसी को माया कहते हैं। हमें जो ज्ञात रहता है उसको दबाकर हमसे दूसरा ही कुछ कहला देती है। हमारे साथ भी अब यही हुआ है।''

''रास्ता चलकर आया हूँ। एक कलश-भर जल मँगा लो। पाद प्रक्षालन कर भीतर प्रविष्ट होऊँ।''

बुडिल जी के मना करने पर भी आचार्य ने स्वयं उनके पैर धुलाए। दोनों शिशु को देखने गए। इनको आते देख आलंबिनी ने आँचल ठीक किया। पुत्री के साथ बात कर रही जायंती वहीं परदे के पीछे हो गई।

बुडिल जी ने पालने में लेटे शिशु को देखा। किसी जाने-पहचाने से व्यक्ति को देखने से जो आश्चर्य होता है वही अनुभव उन्हें हुआ। वे चौंक गए-''आचार्य, कोई संदेह नहीं। सीमंतोत्सव के दिन यही चेहरा मैंने देखा था, तिलभर अंतर नहीं।'' उन्होंने वेद मंत्रोच्चार कर आशीर्वाद दिया। रक्षा एवं विभूति माता के हाथ में देकर कहा-''इसे पालने में धर देना। वीरपुत्री जो थी, अब वीरमाता बनी। यह देह देखता हूँ; तुम्हारा पुत्र दीर्घ देही बनेगा। तुम्हारे गर्भ में ही उसे 'कायोन्नति' प्राप्त हो चुकी है। हाँ, आप दंपती का धर्म बनता है कि इसे मानोन्नति एवं विद्योन्नति प्राप्त करने योग्य बनाओ।'' यों कह पुनश्च उन्होंने आशीर्वाद दिया।

बुडिल जी द्वारा अपने पुत्र की प्रशंसा सुनकर आचार्य जी की प्रसन्नता सीमा पार कर गई। राह चलते पुनः बुडिल जी ने कहा-''अरे भाई, तुम्हारे पुत्र को प्राप्त देह राजपुत्रों में भी देखी नहीं जाती। बहुत हर्ष हुआ।'' देवरात ने हँसते हुए कहा-''बुडिल जी, यह तो यजुर्वेदियों का घर है। हमारा कर्तव्य अध्वर्यु जो है, इसे तो हृष्ट-पुष्ट रहना ही पड़ेगा।''

बुडिल जी ने तत्क्षण घोषित किया-''यह केवल श्रोत्रिय विद्या-संपन्न बननेवाला शिशु नहीं, इसकी छवि देखने से प्रतीत होता है कि यह कर्म और ब्रह्म दोनों पर आधिपत्य जमाएगा। कुछ भी हो, इसको अपरिग्रही बनाओ।''

''अपरिग्रही कैसे बनाऊँ?''

''यह कौन बड़ी बात है? अन्यायार्जित वित्त का परित्याग कर दो। यदि कोई निवेदन करे कि गुरुजी इसे ग्रहण कर लें तो कह देना-जब तक मेरे मन में विश्वास न हो जाए कि तुम्हारा उद्धार हो चुका है, तब तक ग्रहण नहीं करूँगा। क्यों? ऐसे क्या देख रहे हो, जैसे पूछ रहे हो, गृहस्थी कैसे चलाऊँ ? पर, सुनो मनुष्य का मन सदा से अर्थकाम की ओर ही झुकता है।

''दूसरा यह मत भूलो कि जन्म से पूर्व ही शिशु को माता का स्तन्य प्राप्त है तथा मनुष्य का एक प्रारब्ध भी होता है जिसके कारण उसकी रक्षा होती है और उससे उसके लिए निश्चित कर्म भी संपन्न होता है। अतएव अपरिग्रह कठिन नहीं होता। जो अपरिग्रही नहीं होता, उसको मानोन्नति कहाँ से प्राप्त हो ? जिसको

मनोन्नति प्राप्त नहीं, उसको विद्योन्नति कहाँ ? अतएव सर्वप्रथम अपरिग्रह का पाठ पढ़ाओ। समझ गए ?''

उनके मन ने इस कथन के अर्थ को इस प्रकार ग्रहण किया–''किसी क्षुल्लक वस्तु की ओर शिशु आकृष्ट न हो, ऐसी शिक्षा देनी होगी। हाँ, कार्यांत पर, दक्षिणा रूप में परिग्रहण उचित माना जाए। इसके पूर्व ही लालच में पड़कर हाथ न पसारें।''

बुडिल जी थोड़े समय तक शिशु के भविष्य के बारे में बातें करते रहे। देवरात ने उनको विदा किया। बाद में वे भार्गव जी से भेंट करने चले।

उन्नति–त्रय

देवरात जब लौटे थे तब आलंबिनी तथा जायंती शिशु के बारे में कुछ चर्चा कर रही थीं। आचार्य जी को आते देख जायंती ने पुत्री से कहा–''वह देखो, तुम्हारे 'वो' आए। उन्हीं से पूछो। वे ही सही समाधान दे पाएँगे।''आचार्य पाँव धोकर भीतर आए। पत्नी ने पूछा–''भार्गव जी ने क्यों बुलावा भेजा था ?''

वे हँसते हुए बोले– ''हमने राजाश्रय के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट कर दी थी। किंतु तुम्हारे पुत्र–जनन के योगायोगों को परखने से लगता है कि बड़े–बड़े राजे–महाराजे उनका समादर करेंगे। स्वयं महाराजा तुम्हारे पुत्र को देखने के लिए आना चाहते हैं। उनकी बहुत दिनों की अभीप्सा थी कि कुरु, पांचाल एवं काशी के विद्वानों को मात देनेवाले विद्या–संपन्न का जन्म मिथिला में हो। इसीलिए तो वैशंपायन एवं उद्दालक जैसे कुलपतियों को निमंत्रण द्वारा यहाँ बुलाकर आश्रम बसाए हैं। राजा चाहते हैं कि उनसे भी बड़ा विद्वान यहाँ के प्रदेश में हो। इसीलिए बुडिल जी ने जो कहा उसे भार्गव द्वारा सुनकर उन्हें शिशु को देखने की इच्छा हुई है। भार्गव जी ने मुझे बुलाकर जानना चाहा है कि हमारे यहाँ महाराजा का स्वागत कब किया जा सकता है?''

''मैं नहीं जानती कि इस समय मुझे कुछ बोलना चाहिए कि नहीं। किंतु इसको टालना अच्छा होगा, क्योंकि सुनने में आया है कि राजदृष्टि से हानि ही होगी, उससे बचना ही शुभतर है।''

''न, ऐसा करना ठीक नहीं होगा। हमारे घर में यज्ञेश्वर का कृपा–प्रसाद है। बुडिल जी द्वारा रक्षा भी प्रदत्त है। इन दोनों का अतिक्रमण कर हानि पहुँचानेवाला दृष्टिदोष भी होगा ? उन्हें आने दें। हाँ, लगता है कि तुम्हारे पुत्र के भाग्य में राजसेवा योग लिखा है। पर प्रश्न है कि सेवा राजा द्वारा संपन्न की जानेवाली होगी या उसके द्वारा ग्रहण की जानेवाली होगी।''

जायंती ने भीतर से कहा–''आज से संकल्प किया जाए कि वह राजा द्वारा की जानेवाली सेवा ही हो।'' फिर उन्होंने कुछ याद करते हुए कहा–''आलंबिनी, उनसे पूछो–कायोन्नति, मानोन्नति, विद्योन्नति क्या होती हैं ? वे इसका विवरण भली–भाँति दे पाएँगे। अन्यथा हम उसे समझ पाने में असमर्थ ही रह जाएँगी।''

तब तक शिशु जाग गया था, रो पड़ा। जायंती ने कहा–''बच्चे को गोद में ले लो। कब से पालने में पड़ा है।'' आलंबिनी ने उठा लिया। पति से सविनय पूछा–''बुडिल जी ने जो कहा न, वह हमारी समझ में नहीं आया। आप हमें इसकी जानकारी से अवगत कराइए न !''

आचार्य जी भार्गव जी के घर से लौटते समय मार्ग भर इसी पर विचार करते रहे। उन्हें लग रहा था कि मैंने इस संबंध में जितना कुछ जाना है उससे बढ़कर इसमें अर्थ निहित रहता होगा। अब सासू माता भी पत्नी के माध्यम से यह प्रश्न उठा रही हैं। इसकी व्याख्या किए बिना रहा नहीं जाता। तो वे वहीं एक आसन बिछाकर आसीन हुए और बड़ी शांति से कहने को उद्यत हुए। उनको अहसास था कि उनके सामने एक प्रौढ़ा बैठी हुई हैं। इसलिए सावधान हो गए। व्याख्याता तो बन बैठे, पर अभी निश्चय नहीं किया था कि क्या कहा जाए। पर जो कहना चाहते थे उसके बारे में पसोपेश भी नहीं। मन में ही गुरु, वागीश्वर, एवं वात्सल्यरूपी यज्ञेश्वर को प्रणाम समर्पित कर व्याख्या प्रारंभ की–''सुनो, आलंबिनी, अब तुमने शिशु को गोद में लिया है। क्या शिशु रो पड़ा इसलिए उठाया, क्यों? तुम्हारे मन में यही भाव था ? कर्म–धर्म संबंध से तुम्हारी छाती का दूध शिशु का संवर्धन कर रहा है। क्या तुम्हें लगता है कि इसमें तुम्हारा कोई संकल्प है ?''

आलंबिनी ने आत्मशोध किया। मन में ऐसा कोई संकल्प नहीं था। हाँ , बच्चा भली–भाँति बढ़े–यह कामना अस्पष्ट रूप में अवस्थित थी। किंतु विवेक द्वारा संकल्पित तो नहीं। उसको इस पर आश्चर्य हुआ। उसने उत्तर दिया–''हाँ सत्य है, निर्दिष्ट संकल्प तो है नहीं। उस दिन आपने जो आदेश दिया उसके अनुसार सरस्वती से प्रार्थना के सिवाय कुछ और नहीं। ''

''अस्तु, अपनी माता से कहो कि बैठें। बैठकर ही मेरी व्याख्या सुनी जा सकती है। सुनो ! यथेच्छ धनार्जन करनेवाले वैश्य एवं धर्मरक्षा हेतु प्राणपण से जूझनेवाले क्षत्रियों से हम ब्राह्मण अपने को श्रेष्ठ समझते हैं ? तो इसका आशय हुआ न कि धनार्जन एवं रक्षा की तुलना में हमारे द्वारा संपन्न होनेवाला कर्म श्रेष्ठ है?''

''हाँ।''

''तो क्या हमने उस योग्य देह को पायी है ? हमारा आर्जन केवल विद्या है, पालन विद्यापालन ही होता है। जब ये दोनों धनार्जन एवं लोकपालन से श्रेष्ठ समझे जाएँ तब ब्राह्मण की देह को भी वैश्य एवं क्षत्रियों की देह से बढ़कर उत्तम स्तर की होनी चाहिए न? किंतु आज हममें यह धारणा बनी हुई है कि कायपुष्टि तो क्षत्रिय का स्वत्व होती है। इस धारणा में परिवर्तन आना चाहिए। ब्राह्मण की देह को भी क्षत्रिय की देह से श्रेष्ठ होना चाहिए। तो इसके लिए क्या करना होगा ? केवल मांसल हो, कष्ट सहिष्णु हो तो पर्याप्त है क्या ? नहीं, मानव की देह की संरचना नाड़ियों द्वारा हुई है। वहाँ उनका संवर्धन कोमल रूप में, किंतु पुष्ट होना चाहिए। तभी ब्राह्मण देह को उत्तम स्थिति प्राप्त होगी। क्या हम उसकी प्राप्ति की दिशा में प्रयत्नशील हैं ? देह को स्थिति के अनुकूल ही विद्यार्जन, पालन की सामर्थ्य प्राप्त हो पाएगी। इस संबंध में कभी हमने विचार किया है क्या ?—इस प्रश्न का उत्तर ही है कायोन्नति।''

''यह प्रश्न व्यक्ति के वयोमान के साथ संबद्ध है न ?''

''नहीं, मानव समाज में तो नहीं। अन्य सभी प्राणी माँ की गोद से विलग होने तक स्वतंत्र बने रहते हैं। किंतु मानव के साथ ऐसा नहीं होता। उनका शैशव ही तीन-चार वर्ष तक रहेगा। तब तक शरीर की वृद्धि के लिए पथ-दर्शन तो चाहिए ही। इसलिए शिशु के लिए माता द्वारा करणीय, बहुत कुछ कर्तव्य होते हैं। स्तनपान कराते समय माता के मन में संकल्प होना चाहिए कि भविष्य में शिशु बड़ा होकर क्या बने। मन में उसी संकल्प की पुनरावृत्ति होती रहनी चाहिए। अब तुम्हीं को लें। तुम चाहती हो कि तुम्हारा पुत्र उत्तम कर्मठ बने। तब तुम वही संकल्पना मन में कर लेती हो। मैं संकल्पना की बात कर रहा हूँ। मनोवृत्ति की नहीं। अबुद्धिपूर्वक जो घटता है वह तो मन की वृत्ति से होता है। किंतु बुद्धिपूर्वक जो होता है वह संकल्पना द्वारा होता है। देवताओं के बिना कर्म तो होते नहीं। अतएव जिसको कर्मठ बनना होता है उसको चाहिए कि वह देवतामय देह को प्राप्त करे। अतएव स्तनपान कराते समय माता को संकल्पना कर लेना है कि मेरा पुत्र देवतामय देही बने। तब

देवतामय देह बढ़ेगी, यही तो कायोन्नति है।'' आलंबिनी ने सविनय पूछा—''क्या मैं एक प्रश्न करूँ ?'' ''हाँ अवश्य, पूछो, किसी भी प्रकार के संदेह के लिए स्थान न हो।''

''अस्तु, यदि बिना इस ज्ञान के ही उसका पालन होगा तो क्या होगा?''

''उत्तम प्रश्न है। सुनो, प्रत्येक देह में देवांश अवस्थित तो है । अन्यथा आँखें होने मात्र से उनमें देखने की सामर्थ्य आ जाती ? यदि केवल 'नेत्रगोल' (चर्मचक्षु) ही देखते होते तो शव की आँखें भी देखने में समर्थ होतीं। संकल्पपूर्वक जिस देह का पालन-वर्धन होता है उसमें अवस्थित आँखों को चर्मचक्षु होने के साथ-साथ ज्ञानचक्षु बनने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। वर्षा से सिंचित धान भी धान है, सिंचाई द्वारा रोपित धान भी धान ही है। किंतु दूसरी तरह के धान में जो मार्दवता आदि गुण विद्यमान होते हैं, वे पहलेवाले धान में होते हैं क्या ? यह अंतर होता है निस्संकल्प बढ़ी देह एवं ससंकल्प वर्धित देह में। उजड़े घरों में जिस प्रकार पिशाचों का आवास होता है, उसी भाँति निस्संकल्प वर्धित देहों में असुर प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी देह सहज ही पाप कर्म किया करती है । और है पुण्य विरोधी भी।''

''देव, पाप-पुण्य क्या होते हैं?'' आलंबिनी पति के साथ कभी यों स्पष्ट रूप में चर्चारत नहीं हुई थी। प्रश्न करने पर उसे स्वयं आश्चर्य हुआ कि वह ऐसा कुछ कैसे कर पाई ?

देवरात ने यह प्रश्न सुना, वे उद्विग्न नहीं हुए। उत्तर दिया—''पाप और पुण्य अपूर्णत्व एवं पूर्णत्व होते हैं। एक की वृद्धि से संसार का विनाश होता है, दूसरे के संवर्धन से जगत् का उद्धार। पृथ्वी पर असंयत रूप से होनेवाली उपज से जंगल बनते हैं, वहीं किसी की संकल्पना से जो उपजता है वह कृषि होती है। तो कायोन्नति भी इसी भाँति की होती है। अब बताओ, अपने पुत्र के बारे में तुम्हारी संकल्पना क्या होगी ?''

''देव, मैं आप सदृश ज्ञानी नहीं हूँ। मेरा सर्वदा यही विचार रहा है कि आपकी इच्छाओं तथा आदेशों का अनुपालन करूँ। अब आपने आदेश दिया है कि मैं संकल्पपूर्वक अपने पुत्र का संवर्धन करूँ; वही होगा। मैं संकल्प करती हूँ कि शिशुवाली देह देवताओं का आवास बने। इसी संकल्प के साथ सरस्वती देवी का ध्यान करते हुए इसको स्तनपान कराऊँगी। अब आप मानोन्नति एवं विद्योन्नति के बारे में भी हमें ज्ञान प्रदान करें। अपनी समझ के अनुसार उन पर चलूँगी।''

''तुम पुण्यवती हो आलंबी। इस संसार में अज्ञ सदा से अपनी अज्ञता को छिपाते ही आए हैं ; तत्कारण अकार्य कर बैठते हैं। ऐसे में तुम कहती हो कि मैं अज्ञ हूँ, मुझे समझा दीजिए ताकि मैं उसका अनुपालन करूँ। तुम जैसी स्पष्टोक्तिवाली पत्नी को पाकर मैं कृतकृत्य बना हूँ। अब संध्या हो चली है। नित्य कर्म के लिए मुझे तैयार होना है न? कल-परसों में मानोन्नति एवं विद्योन्नति के संबंध में व्याख्या करूँगा।''

देवरात वहाँ से चल पड़े। उनके मन में भाँति-भाँति के विचार उठने लगे। उन्हें स्वयं के आचरण पर आश्चर्य हो रहा था-'मैंने जो कुंछ व्याख्या दी, उससे सभी लोग अवगत हैं ही। किंतु इस पर क्रियाशील कोई नहीं होता ! क्यों ? यह तो हुआ। किंतु स्वयं भी इस विषय में इतना स्पष्ट, निखरी व्याख्या कभी की थी ? लगता है , बुडिल जी के कथनानुसार यह सब पालने में लेटे महापुरुष की सन्निधि का प्रभाव ही है।' वे साश्चर्य इसके संबंध में गंभीर होकर विचार करते हुए स्नानगृह की ओर चल पड़े।

उन्नति-त्रय

अगले दिन भोजनोपरांत देवरात के घर में सभा हुई। वहाँ उनके साथ दो व्यक्ति थे, एक शिशु रूप में महापुरुष भी थे। तथापि उन तीनों को इसमें रत्ती-भर संदेह नहीं था कि शिशु आकार में छोटा होने पर भी वह जीव उन सबसे श्रेष्ठ है।

देवरात ने मन ही मन देवताओं को पूजा समर्पित की तथा पत्नी से पूछा-''क्या तुम्हारी माता जी आई हैं ?''

''हाँ, यहाँ पटांतर की ओट में बैठी हैं ?''

''तो ठीक है'', देवरात ने आरंभ किया-''कल मैंने कायोन्नति के बारे में बताया। आज मानोन्नति एवं विद्योन्नति के संबंध में कहना होगा न? सुनो।''

''मानोन्नति हम सबका ज्ञात विषय है। किंतु उसको बहुत कम लोग आचरण में ला पाए हैं। जो साधन-संपदाओं से वंचित हैं, दरिद्र हैं, दीन हैं, उनको छोड़ें। हम प्रायः कह देते हैं उनमें न मान है, न मर्यादा। किंतु यह नहीं सोचते कि जो मान- मर्यादा-संपन्न हैं उनको क्या करना चाहिए। इसकी अनुभूति कि हमारा

कोई विशेष स्तर है, मान कहलाता है। उसी मान के कारण समुद्र के लिए तट की भाँति हमारे लिए भी एक मर्यादा होती है। जो श्रोत्रिय ब्राह्मण होता है वह हाथ-मुँह धोकर शुद्ध आचमन किए बिना प्राणांतक पिपासा होने पर भी जलग्रहण नहीं करता, वैसे ही उत्तम माने जानेवाले कभी मैले वस्त्र नहीं पहनते। और तो और, जब उनके मन में यह बात आ जाती है कि अमुक कार्य करने योग्य नहीं उसे वे किसी भी स्थिति में नहीं करते तथा जो करने योग्य कार्य है उसे पूरा किए बिना नहीं रहते। इसी को मानोन्नति कहा जाता है।

''जिसको ईंधन की दरकार है वह उँगली भर मोटा पेड़ नहीं काटता। वैसे ही समिधा की दरकार हो तो बड़ी डाली को नहीं काटते। इसी प्रकार अपने स्तर के लिए अनुपयुक्त किसी भी कार्य को न करने का हठ ही मानोन्नति है।

''इसको अधिक स्पष्ट कर दूँ तो प्रत्येक मानव यश की कामना करता है। उस यश के स्वरूप को निर्धारित करनेवाला मानदंड ही मानोन्नति है। क्या कोई चाहेगा कि लोग उसे कामुक-श्रेष्ठ कहें ? यदि ऐसा कुछ हुआ तो वह अपयश होगा। इस प्रकार यश तथा अपयश क्या होते हैं ? इसको मापना ही मानोन्नति है।

''किंतु एक और प्रकार की मानोन्नति भी है। जो अपना नहीं, जो अपने लिए वांछित नहीं उसे तजने की मर्यादा की कल्पना कर लेना भी मानोन्नति है। अन्याय द्वारा जो प्राप्त होगा उसे दुत्कार देना भी मानोन्नति है। अन्यों को कोई हिंसा न हो, अपने लिए कोई पीड़ा न पहुँचे—यह भी मानोन्नति है। यही क्यों ? काम-क्रोध के वशीभूत हो स्वेच्छाचरण न करना, बड़ों के चले मार्ग का अनुसरण करना, यह मानना कि जो ईश्वर अपने में अवस्थित है वह दूसरों में भी है, ऐसा आचरण करना जिससे ईश्वर का द्रोह न होता हो—ये सब मानोन्नति के प्रकार ही हैं। किंतु क्या किया जाए ? मानव सहसा इच्छा-द्वेषों के वश में हो जाता है तथा उनके निर्देशों पर चलता है। पर, कभी-कभी अन्यों को संतुष्ट करने के प्रलोभन में या अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए और कभी-कभी स्वयं को सही सिद्ध करने के मोह में पड़कर अपमार्ग पर चलने लगता है। इस अवनति को रोकनेवाली शक्ति ही मानोन्नति है। न्यायबद्ध, धर्मनिष्ठ आत्म-विनियोग को ही मानोन्नति माननी चाहिए। क्यों समझ गई ?''

''प्रस्तुत हम एक-न-एक विधि से इसका आचरण करते आ रहे हैं न?''

''हाँ, आलंबी, मानव यहीं आकर ठोकर खाता है। या तो अभ्यास बल से या विद्याबल से अपने को सही समझते हुए अहंकार के कारण गिर पड़ता है। ऐसा न

होने देने के लिए यह उपदेश है। एक धनवान् था, उसके पास पत्नी ने आकर कहा कि हमारे घर में एक काशीफल सड़ा पड़ा है। धनवान् ने कहा, गाय को खिला देना। जब पत्नी ने उसे गाय के सामने रखा, उसने छुआ भी नहीं। जब धनवान् से यह बात कही गई तो सुनते हैं कि उसने आदेश दिया, दान में दे देना। यदि उसे ज्ञान होता कि मुझ धनवान् को चाहिए कि ऐसा अदेय-वस्तु दान में न दूँ, क्योंकि ऐसा करना उचित नहीं, तो वह कदापि ऐसा नहीं कहता।

''और एक बार की बात है। एक राजा युद्ध में पराजित होकर शत्रु राजा का बंदी बना। शत्रु ने कहा कि यदि तुम मेरे शरण में आकर सामंत बने रहोगे तो तुम्हें पहलेवाले सारे आदर-सम्मान प्राप्त होंगे। तब उस राजा ने कहा-'जो हाथ तुम पर उठे थे उन्हें तुम्हारे सम्मुख जोड़ना मेरे लिए उचित नहीं होगा। कभी भी विनष्ट होनेवाले क्षणिक भोग के लिए मैं शरण में नहीं आऊँगा।' तो इस प्रकार स्थाई जो है उसे अस्थाई की प्राप्ति के लिए बलि न चढ़ाना ही मानोन्नति है।

''जैसा मैंने तभी कहा था, मानोन्नति की प्राप्ति भाग्य से होती है। आलंबी, इस बात को जानते तो सभी हैं, पर उसको धारण करने का धैर्य, धृति एवं सामर्थ्य हर किसी के भाग्य में नहीं होता। अतएव इसके अभिवर्धन में माता-पिता को, विशेषकर माता को श्रम करना होगा।''

आलंबी के मन में प्रश्न उठा-'तो क्या मातृत्व ऐसी कठिन अवस्था है ?' उसे स्वयं उत्तर मिला। 'हाँ, यह तो मेरा कर्तव्य होगा। ऐसा सद्गुण मेरे पुत्र में अवस्थित हो। इसके लिए मुझे श्रम करना होगा। मैं अवश्य करूँगी।' इतना सब उसने एक ही अभिव्यक्ति 'ठीक है' में बता दिया। आचार्य की व्याख्या अवरुद्ध नहीं हुई-'अब मानोन्नति की पर्याप्त चर्चा हो गई। उसका तात्पर्य है- यही वह चीज़ है जो समाज को या समाजरूपी हाथी को अंकुश में रखती है। इसी को धर्म कहा जाता है। धर्म के भिन्न-भिन्न चेहरे होते हैं। बाघ का धर्म अलग है। गाय का अलग; वृक्ष का धर्म लता के धर्म से भिन्न होता है। यों भिन्न-भिन्न रीति से दृष्टिगत होते धर्म की आराधना करना ही मानोन्नति है। यद्यपि वह पर्वत-सदृश ऊँचा है तथापि वायु-संचरण-सा सूक्ष्म भी है। इसको परिपक्व मन समझ पाता है। वाणी द्वारा इसकी अभिव्यक्ति अपूर्ण ही रह जाती है। पर इसको छोड़कर किसी का अस्तित्व नहीं बनता। अतएव मन पर नियंत्रण द्वारा धर्म की आराधना करने के हठ-धर्म से जो आचरित है, वही मानोन्नति होती है। क्यों ? अब विद्योन्नति के बारे में कहा जाए ?''

''हाँ, हम सुन रही हैं।''

''सुनो, सबसे आसान होती है विद्योन्नति। कायोन्नति में देह को, मानोन्नति में मन को केंद्रित किया जाता है तो विद्योन्नति में बुद्धि को तराशना पड़ता है। तुम पूछोगी वह कैसे संभव होगा ? हाँ, यह विचार-शक्ति से संभव होगा। विद्या ही लक्ष्य तक पहुँचने का साधन है। पथ की चरम बिंदु पर ले जानेवाली सामर्थ्य को जो प्रदान करे, उसकी आराधना ही विद्योन्नति है। सभी लोग इसको प्राप्त कर लें-ऐसी कामना को सदाशय तो कह सकते हैं। किंतु बहुतेरे जन 'अशनाय पिपासरूपा' विद्या को ही, अर्थात भूख-प्यास से निस्तार दे पानेवाली, उसके द्वारा मृत्यु से रक्षा कर पानेवाली विद्या को ही वरण करते हैं। आजीविका चलाने में व्यक्ति को समर्थ बनानेवाली विद्या अपरा-विद्या है। उसकी प्राप्ति से अन्न-वस्त्र का आयोजन तो हो जाता है, किंतु क्या मनुष्य का लक्ष्य यहीं तक सीमित हो ?

''हाँ, अन्न-वस्त्र से बढ़कर भी कोई एक स्थिति है-इस विचार में विश्वास रखने के लिए विशिष्ट प्रकार की विलक्षण सामर्थ्य चाहिए। ऐसी स्थिति को प्रदान करनेवाली विद्या ही परा-विद्या है। किसी भक्त को एक मोती की माला दी गई। उसने उन व्यक्तियों पर गौरव के कारण उसे स्वीकार किया, पर उसकी चाह तो अपने इष्ट-दैव को पाने की थी। उसने एक-एक करके सभी मोतियों को फोड़ा और देखा कि उसमें इष्ट-दैव हैं कि नहीं। किंतु जब किसी भी मोती से इष्ट-दैव न निकला तो उसे फेंक दिया। इसी प्रकार हमें अपने चारों ओर जो कुछ है उसमें से अमृत को ढूँढ़ना होगा। जहाँ से भी वह प्राप्त हो पाता है, उसे प्राप्त करने की सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सामर्थ्य ही विद्या है। उस विद्या के बारे में सभी बात करते हैं, पर उसे जाननेवाला लाखों में कोई एक ही होता है। ऐसी विद्या की साधना ही विद्योन्नति होगी।

''तो तुम पूछोगी कि उस विद्या की जानकारी का दम भरनेवाले जब उसे नहीं जानते तो किसी की पकड़ में न आनेवाली उस विद्या को पाएँ कैसे? यह समाज जो है, एक वृक्ष है। बहुदीर्घांतराल पर विद्योन्नति-प्राप्त महापुरुष रूपी सत्फल प्रदान करता है। तब क्या होता है? जिस प्रकार सूर्य के उदय पर उसकी किरणें जहाँ पहुँचती हैं वहाँ दिन निकल आता है, उसी प्रकार सर्वत्र अमृत प्रवाहित होता है या अमृतवर्षा होती है। इस प्रकार धारा-सा वर्षित अमृत से भी घृणा कर उसे अपने घर में प्रविष्ट होने से रोकनेवालों का अभाव भी नहीं। प्रतिदिन सूर्य का उदय होता है, स्थावर एवं जंगम के आत्मा-रूपी सूर्य को देख हाथ जोड़नेवाले कितने लोग

हैं? उसी प्रकार विद्योन्नति प्राप्त महापुरुष घोषणा करता रहता है–अमृततत्त्व ही जीवन का लक्ष्य है, मैं इसे स्वानुभव द्वारा कह रहा हूँ, आप भी इसको पा लीजिए, कृतकृत्य बनिए। किंतु लोग तो बहरे बनकर, अनसुना करके चले जाते हैं। जब देशकाल प्रसन्न होते हैं, पंचभूतों की स्वीकृति प्राप्त होती है और ऋषि, देव एवं पितृ संसार को अनुग्रहित करते हैं तभी ऐसे महात्मा जन्म धारण करते हैं।

''आलंबी, तुम पुण्यवती हो, तुमने ऐसे महात्मा को कोख में धारण कर जन्म दिया है। तुम्हारे रक्त–मांस ने उस चेतना के लिए घोंसला निर्मित किया है। उसमें अवस्थित चेतना को स्व–स्वरूप जानने में बाधा न हो– इस आशय से उसे कायोन्नति देने के लिए तुमने सहमति दी है। किंतु ध्यान रहे कि उस देह में अवस्थित बुद्धि अंधकारावृत कोटर न बने। वह बुद्धि परिशुद्ध बने। उसमें प्रतिफलित चेतना के बिंब का साक्षात्कार हो–इसके लिए अनुकूल परिसर का निर्माण करनेवाले श्रेय एवं प्रेय का ज्ञान उसे दो। यह भी समझाओ कि 'प्रेय से श्रेय महान होता है'। एक बात का ध्यान अवश्य रखना– ये महापुरुष हमारे गर्भ से जन्म ले चुके हैं, हम उनके माता–पिता जो हुए उसका उन्हें कदापि पश्चात्ताप न हो।''

''अस्तु, किंतु यह नन्हा अभी बोल नहीं रहा। ऐसे में बात इसकी समझ में आ जाए– इस ढंग से कैसे समझाया जाए ?''

''एक उपाय है, वह नन्हा तो है, बात नहीं कर पाता; किंतु तुम्हें भ्रम हो चुका है कि उसे विवेक भी नहीं है। भूल जाओ कि उस देह में अवस्थित चेतना तुम्हारा पुत्र है। समान वय वालों से बातें करते समय जिस प्रकार से हम व्यवहार किया करते हैं उसी प्रकार से तुम भी आचरण करो।''

आलंबिनी ने हामी भरी। इधर देवरात सोचने लगे–'आज तक मैंने इस धारणा के साथ चर्चा नहीं की तो आज यह कैसे संभव हो गया ?'

आलंबिनी की गोद का 'शिशु' मुस्कुराया। देवरात ने उस आयु के बच्चे का रोना जाना था , पर हँसना नहीं देखा था। माँ से पूछा–''यह कैसा आश्चर्य है !'' वह भी आई– देखा तो भौंचक्का हो गई–''यह कैसा अजूबा है! मैंने भी ऐसा होते नहीं देखा है।''

अब आचार्य जी को लगा, यह हँसी मेरे लिए है। उनके मन में प्रश्न उठा–'तो क्या अब तक मैं जो कुछ कह रहा था, वह सब शिशु रूप में लेटे इस महापुरुष का प्रभाव तो नहीं है ?' वे अब शिशु की ओर मुड़े। उनके प्रश्न के उत्तर के रूप में शिशु पुन: हँस पड़ा।

आचार्य जी को चिंता हुई , अब तक हमने अमृत की बात की। किंतु उसका उल्लेख तो इस अर्थ में किया था कि वह मृत्यु से अतीत है। आज तो अमृत का अर्थ होता है ब्रह्म तथा आनंद। क्या यह मुझमें मेरे अनजाने ही परिवर्तन लाएगा ? क्या आज जो मैं कर्मठ हूँ, धीरे–धीरे ब्रह्मिष्ठ तो नहीं बन जाऊँगा ?'' पुनः शिशु की ओर देखा तो वह फिर एक बार हँसा।

आचार्य को भय हो आया। फिर भी उन्हें प्रसन्नता हुई। 'ऐसा होना है तो होने दो। कहते हैं, कर्म में काम होता है। यदि वह नहीं है, कर्म निष्काम हो जाए, तो ब्रह्म ही आसरा है। वही हो। यह कोई अशुभ या अविहित तो नहीं। यही होगा, न कि जो आजतक कहते आए हैं कि ब्रह्म सर्वत्र है, अब उस पर ज़ोर देना होगा। ऐसा होना भी कोई साधारण साधना नहीं।' यही सब सोचते हुए वे वहाँ से चले। जाते समय पुनः शिशु के चेहरे को देखने की इच्छा हुई। पर ऐसा अनुभव हुआ कि ' ना,ना ' कहते हुए उसे वहाँ से कोई ठेलते हुए लिए जा रहा है। तो वे वहाँ से हट गए।

मंत्रार्थ

शिशु दो वर्ष का हुआ। वह चल–फिर लेता था। पर कभी माँ का आँचल नहीं छोड़ता। प्रातः जब वह घर के काम–काज में व्यस्त रहती तब ठंड से बचाव के लिए पहनाए टोपे में उसके पीछे–पीछे चला करता। जब माँ स्नान करती तब वह भी नहाता था। वह पवित्र वस्त्र धारण कर किसी का स्पर्श नहीं करती होती तब शिशु भी अपने को पवित्र स्थिति में बताता था। जब वह पति के संग अग्नि–परिचर्या करती रहती थी तब यह भी वहीं दीवार से सटकर बैठ जाता था। जब वह रसोई में होती या पूजा करती रहती तब कुछ दूर पर उसी के संग रहा करता। यदि नींद आए तो बिस्तर पर जाकर नहीं लेटता, वहीं माँ के पार्श्व में एक कृष्णाजिन पर लेटता तथा धावली ओढ़ लेता।

अब एक परिवर्तन आया। शिशु ने एक दिन माँ को अपने से ही बातें करते हुए देखा। उसका कौतूहल जागा । उसने पूछा–''माँ, तुम अपने में ही क्या बातें

कर रही हो?'' माँ क्या कहती, उसे कुछ नहीं सूझा। उसने कहा–''फिर कभी बताऊँगी।'' बच्चे ने हामी भरी, चुप हो गया।

माँ को स्मरण हो आया। पति ने कहा था–''यद्यपि शिशु छोटा है तथापि यह न समझना कि वह अनजान है। उसको वय में बड़ा समझो। समझो कि उसकी बुद्धि एवं मन विकसित है। ''

तो उसने पुत्र को बुलाया और पूछा–''याज्ञ, तुमने कुछ पूछा, मैं अन्यमनस्क थी। कह दिया–फिर कभी बताऊँगी। तुम्हारा उससे संतुष्ट होकर यह कहना 'ठीक है', क्या उचित था ?''

शिशु दौड़ते हुए माँ के कंठ से लग गया और कहा–''तो मैं और क्या करता? तुम जो करती हो, वही मैंने किया।''

''मैं क्या करती हूँ ?''

''क्या करती हो ? सूखे उपले के संग गीला उपला जुड़ गया है तो उसे अलग करती हो और कहती हो कि अभी यह गीला है। उसे परे रखती हो। मैं भी वही कर रहा हूँ। मैंने सोचा, अभी समय आसन्न नहीं है, समय आने पर स्वयं कहोगी– यही विचार कर चुप हो गया था।''

आलंबिनी को आश्चर्य हुआ। अभी तीन वर्ष की आयु है। किंतु उसकी बातें सुनकर तो लगता है कि दस वर्ष की आयुवाले बालक में भी इस प्रकार का विवेक नहीं होगा। और तो और, बात में कोई अटपटापन नहीं। वाक् शुद्ध है, स्फुट है, स्वर नियम सही हैं। यही कारण था कि उन्होंने ऐसा कहा था। यों सोचकर पुत्र को गले लगाते हुए पूछा–''अरे, यदि तुम्हें भूख लगी हो, और मैं कहूँ कि फिर कभी खा लेना, तो क्या तुम चुप हो जाओगे ?''

पुत्र ने सोचा–''माँ, तुम्हारा प्रश्न ही ठीक नहीं लगता। यदि भूख लगती है तो उसे सहा नहीं जाता। पेट मेरी बात नहीं मानता। तब मैं तुम्हें सताता हूँ। यही नहीं, हाँ पेट मुझे रुलाता है, मैं रो पड़ता हूँ। तब तुम मेरे रुदन को बंद करने का कोई उपाय करती हो। किंतु यहाँ ऐसा कुछ नहीं हुआ। मैंने पूछा। तुमने कहा–'फिर कभी', तुम मुझसे बड़ी हो। मुझे लगा कि तुम्हारा कहा मुझे मानना होगा। इसीलिए चुप हो गया। मैं और क्या कर सकता था ? रोना था क्या ? किंतु रोना नहीं आया।''

''भूख लगने पर भी तुम नहीं रोते। नींद आने पर नहीं रोते। तुम और किस बात पर रोओगे ?''

''हाँ, माँ, रोना चाहते हुए तुम्हारे पास आता हूँ। किंतु तुम एक प्रकार से ग्रीवाभंग कर मेरी ओर देखती हो, तब मेरा रुदन भाग खड़ा होता है, हँसी आती है। मैं क्या करूँ ?''

आलंबिनी ने हर्ष से पुत्र को बाँहों में ले लिया तथा चूम लिया। उसका अपने ग्रीवाभंग का अनुकरण करना, डाँट के स्वर में उलाहना देना आदि उसको बहुत भा गया। उसने उसे दुबारा चूमते हुए कहा–''तुम्हारी यह सारी क्रीड़ा देखकर कौन ऐसा होगा जो तुम्हें प्यार न करे ?''

पुत्र ने हँसते हुए उसके प्यार से अपने को बचाते हुए उसके चेहरे को अपने से दूर करते हुए कहा–''तो इसी कारण से तुमने मुझे बुलाया न?'' किंतु उसे माँ की बाँहों के बंधन से निकलना दुस्कर हो गया।

'' नहीं रे, बैठो न, कहती हूँ सुनो। जब भी मैं तुम्हें उठाती हूँ तब मुझे तीन मंत्रों का उच्चारण करना पड़ता है। 'पूर्णमदः' प्रथम मंत्र है।

''वह तो पिताजी आग के सामने...–''

''न , न, आग कहना मना है। यज्ञेश्वर कहना होगा। यदि तुम्हारे मुँह से उसका उच्चारण नहीं हो पाता तो अग्नि कहो ?''

''क्यों माँ, वह तो आग ही है न ?''

''सुनो बेटे, अब चूल्हे में जो है वह आग है, वह हमारा काम कर लेगा। किंतु वहाँ अग्नि–मंदिर में जो है, वे देवता हैं। उनका काम हमें करना होगा। अतएव ये हमारे यजमान बनते हैं। क्या हम अपने स्वामी को 'आ जा' इस प्रकार से संबोधित करेंगे ? जैसे मैं तुम्हारे पिताजी को आदर से 'आइए, जाइए' कहती हूँ ; हमें उन देवता को अग्नि या यज्ञेश्वर कहना चाहिए।''

''ऐसा क्या ? ठीक है, वही होगा ।'' 'मैंने केवल आग को अग्नि कहने का परामर्श ही दिया। किंतु मेरे द्वारा प्रथम नियम का ही विस्मरण हो चुका था कि मंत्र को भी उचित आदर देते हुए स्वयं आसन में बैठकर मंत्रोच्चारण करना चाहिए तथा सुननेवाले को भी उसका अनुसरण करना चाहिए। जब वह छोटा बच्चा था तब उसे उठाए चलना पड़ता था, तब आसनवाले नियम की आवश्यकता नहीं थी। पर अब शिशु बालक बना है, तब उस नियम का त्याग क्या उचित है ? नहीं। नियम–पालन की बात पुत्र से आई है, हाँ पुत्र या शिष्य द्वारा पराजय में कोई हेठी नहीं होती। यही नहीं, पतिदेव ने कहा भी तो है कि यह हमसे बहुत श्रेष्ठ है। अतएव उससे पराजित हुई तो क्या हुआ'– इन्हीं विचारों में खोई आलंबिनी जहाँ थी 'वहीं' आसन ठीक

कर पूर्वाभिमुख होकर बैठी। पुत्र पार्श्व में ही उत्तराभिमुख हो बैठ गया। माता ने कहा–''पुत्र यह आद्य मंत्र है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदंपूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।''

''इसका अर्थ क्या है माँ ?''

''सुनो बेटे, यदि तुम पिताजी से पूछोगे तो वे इसकी विस्तार से व्याख्या करेंगे। मैं केवल संक्षेप में कहूँगी।''

''अर्थात् तुम कोंपल को अपने गर्भ में सँजोए बीज की तरह का संक्षिप्त अर्थ ही बताओगी। पिताजी उसे स्वयं पौधे के रूप में प्रस्तुत करेंगे। यही न ? ठीक है, यह न कहना कि बीच में मैंने टोक दिया। बस यही जानना है कि तुम घर में पूरणपोळी बनाती हो न , उसका पूर्ण तथा तुम्हारा यह जो पूर्ण है दोनों एक ही हैं क्या ?''

''कहाँ से कहाँ उड़ते हो बेटे। वह तो केवल नारियल एवं गुड़ के संयोग से बना पूर्ण है। किंतु मंत्रोक्त पूर्ण अलग है। वह भी अन्य किसी वस्तु की चाह न करनेवाला पूर्ण है। मंत्र का अर्थ जानो। यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है। पूर्ण से जो जन्म लेता है वह भी पूर्ण होता है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बना रहता है।''

''अब बात समझ में आई। रसोई में रखा पूर्ण एक है, उससे एक गोलांश निकाल लिया जाए तो वह पूर्ण ही रहेगा। पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण तो पूर्ण होकर ही रहेगा। यही न ?''

आलंबिनी को नहीं सूझ रहा था कि इस पर क्या कहा जाए। पुत्र जो कुछ कह रहा है वह तो उसके द्वारा कही बातें ही तो थीं। पूरण के गोल से उसकी उपमा दी है। उसको ऐसी अनुभूति क्यों हुई ? यों विचार करते हुए वह मौन ही रही।

तब तक चूल्हे में आग की लपटें कुछ कम होती गईं तो उसका ध्यान वहाँ गया।

पुत्र ने पुनः कहना प्रारंभ किया–''माँ, सुनो, इसका एक और अर्थ कह सुनाता हूँ। हमारे घर के पीछे कुछ वृक्ष हैं न ? उनमें आम्रवृक्ष भी है। जब तक वह पूर्ण वृक्ष नहीं बनता तबतक उसमें केवल पत्ते होते हैं। जब वह बड़ा होता है उसमें फूल लगते हैं, कच्चे फल निकलते हैं, और वह पककर फल बन जाता है। अर्थात्

जो फूल था वह कच्चा फल बना। पक्व होने तक प्रतीक्षा करने से वह पूर्ण फल बनेगा। यह पूर्ण फल पूर्ण वृक्ष से निकला। पक्व फल अर्थात् पूर्ण को वृक्ष से विलग कर लेने पर भी पूर्ण वृक्ष पूर्ण बना ही रहता है, तो रसोई घर का पूरण, तथा घर के पीछेवाले वृक्ष का पूर्ण दोनों वृक्ष से ही होने के कारण इससे संभावित भी पूर्ण है। (एक तो संचित है दूसरा साधित से प्राप्त साध्य) क्यों ठीक है न ?''

माता पुत्र की व्याख्या पर कुछ न कह पाई। जिस प्रकार एक अपंडित पंडित के सामने पराजय को टालने के लिए बात को वहीं समाप्त करने का प्रयास करता है उसी तरह पुत्र की व्याख्या को समझने में असमर्थ माता ने मानो स्वीकृति में कहा–''यह सब मेरे सामने कहने से क्या लाभ होगा ? पिता श्री से कहो न। वे निर्णय कर कह सकेंगे कि यह सही है कि नहीं। अच्छा आगे की बात सुनोगे ?''

अपने से हुई ग़लती को माननेवाले प्रौढ़ की भाँति उसने कहा–''यह लो, बीच में मुझे बात नहीं करनी थी, दोष हुआ। प्रायः तुम्हें इससे पीड़ा हुई होगी न ? अब बीच में बात नहीं काटूँगा। मुझसे त्रुटि हो गई। अब तुम कहो, मैं सुनूँगा।''

माता ने पुत्र को देखा। उसके आनंद की सीमा न रही। पुत्र को अपनी ओर खींचकर पुचकारते हुए गोद में बिठा लिया तथा आगे का मंत्र पाठ किया।

''द्वितीय है, 'भद्रं कर्णेभिः' मंत्र। उसका पूर्ण पाठ है–*'ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगै स्तुष्ट वांसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः।।'*

''इसका अर्थ इस प्रकार है–'हे देवतागण, कानों से शुभ का ही श्रवण करें; आँखों से शुभ को ही देखें, यज्ञ में अवस्थित रहें। स्थिर अंगों से युक्त देही बनें तथा स्तुति करें। जबतक आयु हो (जीवित रहें) देवहितों का आचरण करें।''

''तृतीय मंत्र है–*' अन्यत्श्रेयः अन्यदुतेव प्रेयः। ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय अवदानस्यसाधु भवति। हीयते अर्थाद्य उप्रेयोणीते।'*

''इसकी व्याख्या है एक तो श्रेय होता है, दूसरा प्रेय। दोनों का लक्ष्य भिन्न-भिन्न होता है। दोनों पुरुष को बाँधते हैं। इसमें से जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका शुभ होगा। जो प्रेय को ग्रहण करता है वह लक्ष्य से भटक जाता है।''

आलंबिनी का ध्यान मंत्रार्थ की ओर था, अतएव पुत्र की ओर ध्यान नहीं गया। आज जब वह मंत्रोच्चार कर मंत्रार्थों की व्याख्या कर रही थी तो उसे अब तक प्रतीत न हुए सौंदर्य का दर्शन हुआ तो मन उधर आकृष्ट होकर व्यग्र हो चुका था। इधर पुत्र को नींद आ चुकी थी, वह माता का आसरा लिए सो गया था। माता ने

वात्सल्य से पुत्र को बाँहों में लिया, उसके सिर पर, गालों पर चुंबन अंकित किए। उसे अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति हुई तथा अपने-आपको भुला दिया। उस सुखानुभूति में स्वयं उसके नेत्र निमीलित हुए।

मंत्रार्थ

यद्यपि उसके नेत्र निमीलित थे, मन की आँखें खुली थीं ; तथापि वह अभ्यास के कारण मंत्रोच्चार कर रही थी। माता-पुत्र थोड़े समय तक इसी स्थिति में रहे। चूल्हे की आग शांत रूप से जलकर बुझ गई मानो वह माता-पुत्र के सुख में किसी प्रकार का व्यवधान बनना नहीं चाहती हो। पर माता को चूल्हे के सम्मुख बैठे रहने की बात का स्मरण हो आया। तुरंत उठी। चूल्हे को ठीक किया। यद्यपि उसका प्रयास शिशु को जगाना नहीं था तथापि वह जाग गया, उसने पूछा-''क्यों माँ, मंत्रोच्चारण क्यों बंद कर दिया?''

माँ हँसते हुए बोली-''बंद नहीं किया, धीमी ध्वनि में कह रही हूँ। लग रहा था कि तुम ऊँघ गए थे।''

''सच है माँ, तुमने गोद में बिठा लिया, इसलिए नींद आ गई । अब दूर जा बैठूँगा, मंत्रोच्चार करो।''

''ऊँघ गए, इस कारण से तुम्हें चिंतित नहीं होना चाहिए, कहा जाता है। नींद की अवस्था में सुनी बात गहरे पैठती है।''

''तो तुम मंत्र कहते जाना, मैं सोता रहूँगा।''

''आज तक यही हो रहा था। तुम पालने में या मेरी गोद में सोया करते थे; मैं मंत्र-पाठ किए जा रही थी।''

शिशु को लगा कि अब तक उसने जो जानना चाहा था , वह बात अब उसकी पकड़ में आ गई थी। वह प्रसन्न होकर बोला-''सुनो माँ, जब तुम मंत्र पाठ कर रही थी तब मुझे लग रहा था कि मैंने इसे कहीं सुना है। अब मालूम हुआ कि कहाँ सुना था।''

आलंबिनी की इच्छा थी कि वह बालक को उसके पूर्व-जन्म का विवरण तथा पति ने जो स्वप्न देखा था वह उसे कह सुनाए। किंतु वह निश्चय कर नहीं पा

रही थी कि कहना चाहिए कि नहीं। फिर बालक के चेहरे की ओर देखकर उसने निश्चय किया—अभी नहीं।

अपनी ओर माता के इस तरह देखने पर बालक ने हँसते हुए पूछा—''क्यों माँ, ऐसे क्यों देख रही हो ?'' पुत्र की इस लीला से वात्सल्य-विभोर हो उसको बाँहों में लेते हुए कहा—''अरे नन्हे, अभी तीन वर्ष की आयु है तेरी। क्या कुछ बोल देता है ! यह देख मुझे आश्चर्य हुआ रे, इसलिए यों देख रही थी।''

पुत्र ने माँ को पुनः प्रश्नार्थक दृष्टि से देखकर कहा—''अच्छा माँ, शेष दो मंत्रों का अर्थ बता दो ना ?''

माता ने कहा—''पल-भर ठहर जा, चूल्हा ठीक कर लूँ। फिर तेरी ओर हो जाऊँगी।'' माँ के मना करते रहने पर भी बालक गोद से नीचे उतर गया। गुरु के पास बैठनेवाले शिष्य की तरह थोड़ी दूर बैठ माता के समय की प्रतीक्षा करने लगा। माता ने चूल्हे में ईंधन दिया। देखा दाल अभी गली नहीं है तो पुत्र की ओर उन्मुख हुई।

''सुनो, द्वितीय मंत्र है 'भद्रंकर्णेभिः। भद्रंकर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षिभिः यजत्रा। स्थिरैरंगै स्तुष्टुवांस स्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः। यों इसका पूर्ण रूप है अब इसका अर्थ बताऊँ।''

बालक माता की ओर एकाग्र हो देखते हुए बैठ गया। यदि कोई उस एकाग्रता की ओर ध्यान देता तो पाता कि जो बड़ों को भी प्राप्त न होती ऐसी एकाग्रता वहाँ थी। चलन रहित स्तंभ को चाहे तो अनेकाग्र कह सकेंगे, पर इसके बारे में नहीं।

माता को उसकी यह एकाग्रता देखकर आश्चर्य हुआ। उसने कहा— ''याज्ञ, मैं तुमसे बड़ी हूँ न ? वैसे ही देवता हमसे बड़े होते हैं। किंतु वे हमें दृश्य नहीं होते, इसका अर्थ कदापि नहीं कि वे हैं नहीं। उन देवताओं के प्रति की जानेवाली प्रार्थना उस मंत्र में है।''

वह पुत्र से प्रतिक्रिया की आशा करते हुए मानो पलभर के लिए रुकी। पुत्र ने माता का आशय समझ लिया—''मैंने कह दिया माँ, जब तक तुम समाप्त नहीं करती तबतक मैं कुछ भी नहीं कहनेवाला।''

माता ने उसके निश्चय पर हामी भरी और कहा—''उन देवताओं से भक्त का निवेदन है—'हे देवताओ, हम अपने कानों से शुभ का ही श्रवण करें। आँखों से शुभ ही देखें। हम सदा यज्ञरत रहें। हमारी देह के अंगांग समर्थ रहें। जब तक हम जीवित रहें तब तक देवताओं का हित ही करते रहें।' यही तो मंत्र का आशय है। अब जो भी तुम्हें पूछना हो पूछ लो।''

''माते, तुमने कहा कि देवता हमारे नेत्रों को दीख नहीं पड़ते , तथापि वे हैं। मैं अभी शिशु हूँ। तुम मुझे आग छूने से मना करती हो। जब मैं तुम्हारी जितनी आयु का हो जाऊँगा, तब तो मना नहीं करोगी। घर की अटारी में क्या है, मुझे मालूम नहीं। यदि चढ़कर देखूँ तो मालूम होगा, यही न! तो तुम्हारा कहना हुआ कि चूँकि मैं छोटा हूँ, इसलिए उन्हें नहीं देख सकता मैं बड़ा होकर उनको देख पाऊँगा।''

बालक की बातों में मुग्ध करने वाला भाव था। किंतु उसमें निहित भाव बड़ों की बातों के ही समान था। बालक की इन बातों को सुनकर माँ का मन अचंभे में पड़ा, तथापि माता ने अर्थ से बढ़कर उसमें निहित मुग्धता ही देखी। अर्थ को दरकिनार करते हुए शिशु की मुग्धता को महत्त्व देकर उसने कहा–

''सुनो, तुमने देवताओं के संबंध में सुना है न ? मैं तुम्हारे पिता संग कई यज्ञों में गई हूँ। देवताओं को स्वयं प्रकट होकर आहुति ग्रहण करते हुए मैंने देखा है। किंतु वह सर्वदा संभव नहीं होता। हमारे अग्नि–मंदिर में देखो। क्या तुम्हें प्रतीत नहीं होता कि वहाँ कोई बुजुर्ग बैठे हुए होते हैं! किंतु वे हमारी आँखों को दीख नहीं पड़ते। ऐसे में तुम्हीं कहो कि देवता हैं कि नहीं?''

''तुमने अग्नि–मंदिर के बारे में जो कहा वह सच है। मुझे भी इसकी प्रतीति हुई है। किंतु तुमने जो दूसरी बात कही, उसके बारे में मुझे ज्ञान नहीं।''

''सुनो बेटे, अभी कुछ समय व्यतीत होने दो। तुम जब और कुछ बड़े बनोगे तब उनसे पूछना, वे सब समझाएँगे।''

''वही होगा। मैं अब मौन रहकर तुम्हारा कहना सुनता रहा। वैसे ही और कुछ समय रह लूँगा। उसके बाद ही पिताजी से पूछूँगा। ठीक है न ? अब तुमने क्या कहा?–शुभ को ही सुनें, शुभ ही देखें, यश में रत रहें, बलवान् बने रहें, देवताओं का हित किया करें। यही न ?''

''हाँ, ठीक है।''

''किंतु मुझे यह अभी स्पष्ट नहीं हो रहा। तुमने जो कहा कि मेरे बड़े होने के बाद ही स्पष्ट होगा, तो तब तक तुम जो करना चाहो वही करूँगा। अच्छा, अब आगे का सुनाओ।''

''तृतीय मंत्र है–अन्यत् श्रेय: । अन्यत् श्रेय: अन्यदुतेवप्रेय:। ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीत:। तयोश्रेय अवदानस्य साधुभवति हीयते अर्थाद् य प्रेय उणीते।''

''माँ, मुझमें इस मंत्र का पाठ करने की इच्छा हो रही है। करूँ ?''

''नहीं, अभी करना नहीं। मुझे लगता है कि न करना ही सही होगा।''

''ठीक है, जब करने की इच्छा होगी है तो तुम्हारे पास आऊँगा। तुम उच्चारित कर देना। तो अब इसका अर्थ समझाओ।''

''श्रेय और प्रेय दोनों अलग-अलग हैं। किंतु लक्ष्य दोनों का एक ही होता है,दोनों मनुष्य को बाँधते हैं। जो श्रेय के बंधन में जाता है उसका शुभ होता है। जो प्रेय की ओर जाता है वह लक्ष्य से भटक जाता है।''

पुत्र ने यह सुना तो वह गंभीर हो गया। वह निर्निमेष, ध्यानस्थ-सा था। मुख की मुद्रा एवं देहभाव किसी प्रौढ़भाव को अभिव्यक्त कर रहे थे। उसको देखने से लगता था कि कोई अनुभवी है, तपस्या-सिद्ध है, किसी महावाक्य के अनुसंधान में खोया हुआ है। (महावाक्य से मतलब है ब्रह्म का बोध करनेवाला वाक्य।)

यह देखकर आलंबिनी पुनः आश्चर्य में डूब गई। विचार करने लगी-'इस आयु में बालक कंकड़-पत्थरों से, गिल्ली-डंडे से चिपके रहते हैं। किंतु यह बालक तो मंत्रार्थ जानने को लालायित है। उसे सुनकर उस पर मंथन करना चाहता है। यह कैसा लोक-विलक्षण व्यवहार है।' पति से इस बात का उल्लेख करने का विचार किया।

माता ने पुत्र की समाधि-स्थिति भंग नहीं की, बिना आहट के उठी। रसोई की ओर ध्यान गया। बोझ ढो रहा व्यक्ति उससे छुटकारा मिलने पर जिस प्रकार निश्चिंतता की गहरी साँसें लेता है उसी प्रकार बालक ने एक दीर्घ निश्वास लिया। वह वहाँ से उठ पड़ा।

''माता, मुझे तो श्रेय की ही चाह है। किंतु मुझे इसका ज्ञान नहीं कि श्रेय क्या होता है तथा प्रेय क्या होता है। तुम ही उसका निर्णय करो। निर्णय कर मुझे बता देना। मैं तो तुम्हारे कहने तक तुम्हारे आदेश के अनुसार चलता रहूँगा।''

भीतर मैल-बाहर कालिख

माता के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही। यदि पुत्र की इस प्रवृत्ति को शास्त्र के मुहावरे में कहें तो पुत्र श्रद्धा दर्शा रहा है। माँ की बात में उसे बड़ी श्रद्धा है। यद्यपि वह स्वयं नहीं जानता कि माता को इसकी जानकारी है भी, उसमें यह भाव अवश्य निहित है कि जब तक स्वयं जानने की स्थिति पर न पहुँचूँ तब तक माता ही मेरी

गुरु हैं, दैव हैं। उसके आदेश का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उसके अनुसरण से ही उसको कृतकृत्य होना चाहिए। इसी को वह श्रद्धा मानता है।

आलंबिनी की छाती काँप गई है। यह छोटा बालक इस अवस्था में इतना श्रद्धावान् है; खेल-खेल में भी उसके साथ असत्य कथन नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार किसी वस्तु को तराज़ू में तोलते वक़्त सावधानी बरती जाती है उसी प्रकार सँभल-सँभलकर, निठुर होकर, सत्य कथन करना पड़ेगा। तो सावधानी से विचार किए बिना इससे बात करनी नहीं चाहिए। अच्छी बात है, इससे मेरा भी संस्कार होगा। लोक-कल्याणकारी पुत्र को पाने का तात्पर्य पर्वत की चढ़ाई सदृश साहस करना होता है। पति ने पहले ही सावधान किया है–'सावधान रहना–तुम्हारे द्वारा उसे कोई कष्ट न पहुँचे।' चौल संस्कार तो होनेवाला है। उसके उपरांत उसका सारा दायित्व पति पर ही होगा। तब तक यदि शिशु मुझसे कुछ जानना चाहे तो मैं किसी प्रकार के दुराव के बिना उसे कह सुनाऊँगी। यदि मुझे किसी बात का ज्ञान नहीं, तो उससे कहूँगी कि तुम्हारे पिता से पूछकर बताऊँगी। उस निश्चय के उपरांत, वह अग्नि-मंदिर की ओर मुड़ी, हाथ जोड़कर प्रार्थना की – आशीर्वाद दें कि मेरा संकल्पपूर्ण हो।

माता ने जो किया उसे पुत्र ने देखा। जिस ओर वह मुड़ी थी, उधर देखा तो वहाँ कोई दीख नहीं पड़ा। किंतु उसको माता की कही बात याद आई। विचार किए बिना कि मैं क्या कर रहा हूँ उसने उस ओर मुड़कर हाथ जोड़े। वह माता के पास आया और उसके गले में बाँहें डाल कान के पास मुँह ले जाकर पूछा–''क्यों माँ, वहाँ कोई देवता पधारे हैं।''

माँ ने पुत्र के गाल पर चूमते हुए कहा–''अग्नि मंदिर तो उस ओर है न ? हाँ, एक बात है, कहना सही नहीं है कि देवता अमुक स्थान पर होते हैं, अमुक स्थान पर नहीं और वे तो सर्वत्र हैं ही।''

''तो क्या वे हमारी देह में हैं ? क्या काष्ठ में हैं ? इस गलती हुई दाल में हैं?'' –पुत्र ने गंभीर होकर पूछा।

माता ने भी गंभीर होकर कहा–''हाँ, हाँ, इस काष्ठ में, इस चावल में, इस दाल में, छोटे बच्चे तुममें, बड़ी स्त्री मुझमें–सब में हैं। किंतु जलने से या उबलने से उन्हें कष्ट नहीं होता। हम जो कुछ करते हैं–उनके लिए है। किंतु उससे उनको कोई पीड़ा नहीं होती। यदि उन्हें भूलें तो उनको दुख होगा।''

''भूलें तो उनको दुख होगा? अस्तु, मैं तो ऐसा आचरण करूँगा जिससे उन्हें दुख न हो। तुमने उस मंत्र द्वारा वही तो कहा। ठीक है, हम उन्हें भूलेंगे तो उनको पीड़ा पहुँचेगी। अतएव उनको भूलना नहीं चाहिए।''

आलंबिनी पर मानो आश्चर्यों की वर्षा हुई–'यह क्या है ? यह बालक इतना गंभीर होकर कैसे बातें करता है ?' उसने मन में न जाने क्या-क्या तर्क-वितर्क किए–'ठीक है, यह शिशु अन्यों जैसा नहीं।रूप इसके शिशु आकार को देखकर तथा यह सोचकर कि यह हमारी कोख से जनमा है हम मोह में पड़ जाते हैं, स्वयं भटक जाते हैं, बच्चों को भी भटका देते हैं। देव, हमें इस मोह से बचा लो, कोई जीव मुझे निमित्त बनाकर इस धरा पर आया है। वह जिस कार्य को पूर्ण करने के लिए इस लोक में आया, वह बिगड़े नहीं। मेरे मन में यही सद्भाव सदा के लिए बना रहे।' यों सोचकर उसने हाथ जोड़े।

पुत्र ने भी निर्विषण्ण होकर बिना किसी आशय के हाथ जोड़े। माता ने यह देखा तो अबाध गति से प्रवहित वात्सल्य के प्रवाह में बहते हुए, पुत्र को पास खींच कर, चूम लिया।

फिर गोद में बिठाकर प्यार किया। उसका विश्वास था कि वह उसके अंगांगों का अभिन्न भाग है। ज्यों उसके हाथ पैर अपने हैं, त्यों वह भी अपना ही है। यदि ऐसा भाव माता के मन में घर नहीं करता तो यों उसको अपने से चिपकाए रखना संभव होगा?

पलभर वह इसी स्थिति में रही। फिर कहा–''याज्ञी, वहाँ जो वस्त्र फैलानेवाला लट्ठा रखा है उसे लेकर घुड़सवारी का खेल खेलते रहो। तब तक तुम्हारे लिए मैं हुळि (सांबार) तैयार करूँगी।'' बालक ने कहा–''ठीक है।'' उसने उधर कोने में रखा डंडा उठाया और खेलने के लिए बैठक में गया।

माता ने जाते हुए पुत्र की ओर फिर से देखा। उसे बुलाकर पुनः चूमने की इच्छा हुई, पर गृहिणी का भाव जागृत होने पर उसने अपने को सँभाला–'नहीं, यदि मैं इसके साथ खेलती रहूँ तो शेष काम पूरा न कर पाऊँगी। यदि रसोई में कमी हो गई तो वैश्वदेव ही बिगड़ जाएगा। यदि बच्चे उसके काम में विघ्न नहीं डालते हैं तो यह उनकी अच्छाई है। हमें तो अपना कार्य बिगाड़ना नहीं चाहिए।' यों सोचकर वह रसोई में जुट गई। हुळि में इमली का निचोड़ मिलाकर आग पर उसे पकने के लिए धर दिया। चूल्हे पर पककर तैयार भातवाली 'थपेली' (हाँडी) को नीचे उतार दिया।

तब तक पुत्र अपनी घुड़सवारी का खेल समाप्त कर लौट आया। माता इमली रस निचुड़े पात्र को धो रही थी। वह आकर माँ के पार्श्व में खड़ा हो गया–''ओ मेरी माँ, तुम तो सदा से यह पात्र या वह पात्र धोती रहती हो। धोने की क्रिया को ही बड़ा कार्य बना लिया है न ?''

माता को पुत्र की बात पर हँसी आई–''सुनो याज्ञी,पात्र को भीतर से भी धोना चाहिए; बाहर से भी धोना चाहिए। यदि भीतर का नहीं धोएँ तो मैल शेष रहती है, बाहर नहीं धोएँ तो कालिख जमा रहती है। है न?''

अब बालक शिशुभाव को बहुत पीछे छोड़ गंभीर हो गया। माता के उसी कथन को दुहराता रहा। 'भीतर भी धोना है, बाहर भी; भीतर नहीं धोएँ तो मैल, बाहर नहीं धोएँ तो कालिख।' वह फिर अपनी देह की ओर देखकर अपने–आप से मानो प्रश्न करने लगा। बाहर धोने की क्रिया से अवगत हो गया, पर भीतर कैसे धोया जाए?

माता कहीं किसी काम में लगी रही। उसने कहा–''सुनो, उनके आने पर उनसे पूछ लो। वे बता देंगे।''

बच्चे ने ठान लिया– 'ठीक है, उन्हीं से पूछना होगा। भीतर कैसे धोया जाए। भीतर नहीं धोएँ तो मैल, बाहर नहीं धोएँ तो कालिख।'

एक कथा हमें चाहिए

शिशु तीन वर्ष की आयु पूरा कर चुका। जिस प्रकार बड़ा हुआ बछड़ा माँ के पार्श्व से हट जाता है उसी भाँति अब वह माता से दूर होकर पिता के साथ रहने लगा। पिता–पुत्र में बड़ा स्नेह था। दस विद्यार्थियों को अध्ययन कराना एक बात थी, पर पुत्र का साथ निबाहना भी उतना ही महत्त्व का कार्य था। यद्यपि पुत्र ने माता का साथ पूर्णरूप से नहीं तजा था, तथापि उसे बताकर ही वह पिता के पास पहुँच जाता। पहले तो वह माता के पीछे–पीछे चलता होता, अब वही पिता के संग रहने लगा। पिता जब भी घर में होते, तब पुत्र उनके कार्य में साथ हो जाता। जो काम हो रहा है वह अग्नि–परिचर्या हो या शिष्यों को अध्यापन, वह तो पिता के साथ वहीं होता।

एक दिन वह पिता की गोद में बैठा था तो पूछा–''पिताजी, उस दिन मैंने आपसे कुछ पूछा था, आपने कहा था बताऊँगा। आज वही फिर से पूछूँ ?'' पिता ने कहा–''सुनो याज्ञवल्क्य, अब कार्तिक मास समाप्त होने जा रहा है। आगे अगहन और पुष्य दो मास शेष हैं । तब तक अपने ऊपर नियंत्रण रखो, माघ मास में चौलकर्म संपन्न करा देंगे। उसके उपरांत तुम जो भी पूछो मैं समाधान दूँगा। तब तक मैं तुम्हें जो आख्यान सुनाता हूँ वही सुनते रहना।''

पुत्र का मन उसके नियंत्रण में था। छोटे बच्चों को जिस प्रकार खींच लिया जाता है, उसी भाँति उसने अपने मन को खींचकर वश में कर लिया और 'हाँ' कहा। इस पर पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह कैसा शिशु है जो एक बड़े संयमी–सदृश अपने मन पर नियंत्रण कर लेता है। किंतु उसे जो दर्शन हो चुका था, उससे ज्ञात हो गया था कि इसमें कोई महापुरुष अवस्थित हैं। अतएव आश्चर्य के लिए कारण भी नहीं था। यों वे विचित्र मनःस्थिति में थे।

पिता ने पूछा–''क्या तुम कथा सुनना चाहते हो ?'' पुत्र ने 'हाँ' कहा। पिता ने कहानी प्रारंभ की–''एक गाँव था, वहाँ एक पेड़ था; उस पर एक कौआ था... ।''

पुत्र जो पिता की गोद में बैठा था, अपने हाथ पिता के मुँह की ओर ले जाकर उसे बंद किया। गंभीर होकर कहा–''बापू , हम जैसे लोग कौए की कहानी लेकर क्या करेंगे ! नहीं चाहिए।'' पुत्र की बातों में सत्य की नितुरता थी, भाव की प्रधानता थी। पिता आगे की कहानी नहीं कह पाए। वे पूछना चाहते थे–'हम जैसे लोग, माने क्या ?' पर पूछ नहीं पाए।

किंतु बातें किए बिना नहीं रहा जाता। यंत्र के समान उनके मुँह से बात निकली–''तो तुम्हें कैसी कहानी चाहिए?''

''उस दिन आपने नचिकेता का आख्यान सुनाया था। उसे फिर से सुना दीजिए। गाड़ी के नीचे जो सोता था उसकी कथा सुना दीजिए। ऐसे आख्यान सुनने में अच्छा लगता है, सुनाने में भी।''

पिता को उसकी बात सही लगी। वह तो केवल ब्रह्मज्ञों की कथाएँ सुनने की इच्छा अभिव्यक्त कर रहा है। अभी से ऐसी कहानियाँ पसंद करने लगे तो आगे क्या होगा ? उन्हें भय सताने लगा। किंतु क्या किया जाए त्रेताग्नियों ने कहा था कि वे इन सबका ध्यान रखेंगे। अतएव भय का कोई कारण नहीं ; मन इस तर्क पर अड़ना चाहता था।

तो पिता ने नचिकेता वाली कथा सुनाई–

नचिकेता गौतम वाजश्रवा का पुत्र था। उसके पिता ने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए याग का आयोजन किया। यागांत में उसे अपना सर्वस्व दान करना था।

''अपना सर्वस्व क्यों दान कर दे ? यह लो मुझसे चूक हो गई। अब दो पास तक मुझे कोई बात नहीं करनी है न ? तदुपरांत जो चाहे पूछ सकता हूँ न ? ठीक है, आगे की कथा सुनाइए।''

पिता किन्हीं विचारों में खोए हुए थे। उन सब को एक लंबी उसाँस के साथ टालते हुए कहानी आगे बढ़ाई-

''तो जब वह दक्षिणा के रूप में सब कुछ दान कर रहा था तब कुछ बूढ़ी गायें भी दे दीं। वे इतनी बूढ़ी हो गई थीं कि उनके दाँत गिर चुके थे, वे घास खाने में भी असमर्थ थीं। तब यागकर्ता के पुत्र ने विचार किया-'मेरे पिता सब कुछ दान कर रहे हैं तो क्या वे मुझे भी दान में दे देंगे ? तो वह मेरा दान किसको देंगे ? क्यों न पूछ लूँ ?' तो उसने पिताजी से एक बार पूछा-'पिताजी; आप मुझे किसे दान में देंगे?' एक बार, दो बार, तीन बार वही प्रश्न किया। पिता को क्रोध आ गया। वह यह भी भूल गए कि यज्ञ में जो यजमान बने होते हैं, दीक्षित रहते हैं उन्हें किसी भी स्थिति में क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोध में आकर कह दिया-'मैं तुम्हें मृत्यु को दान में दे रहा हूँ।' यज्ञशाला में जो देवता उपस्थित थे उन्होंने कहा- 'तथास्तु'। अब यम के दूत आ पहुँचे। नचिकेता को साथ लिवा ले गए।

''मृत्यु का अर्थ है यम। उसने नचिकेता की तीन दिनों तक प्रतीक्षा कराई। चौथे दिन आकाशवाणी हुई-'तुम अब इसका सत्कार करो।' यम ने हामी भरी, नचिकेता को बुलाकर कहा-'हाय, तुम्हें आए तीन दिन व्यतीत हो गए। किसी ने तुम्हारा सत्कार नहीं किया। उन तीन दिनों को भुला दो। तुमने जो तीन दिन कष्ट में बिताए उसकी एवज़ में प्रत्येक दिन के लिए एक-एक वरदान दूँगा।'

नचिकेता ने कहा-'अस्तु'। उसने कहा-'धर्मदेव, मेरे पिता मुझे बहुत चाहते हैं। अब मेरी अनुपस्थिति से वे बहुत दुखी हैं। उन्होंने याग को पूर्ण किया कि नहीं, यह मुझे मालूम नहीं। अतएव उनका याग पूर्ण हो। वे शोकरहित बनें, कोपरहित बनें। आप अब मुझे वहाँ भेजनेवाले हैं, तब वे मेरे साथ पहलेवाला स्नेहपूर्ण आचरण करें-यही मेरे लिए आपका प्रथम वरदान हो।' धर्म देव ने देखा-'यह बालक अपने लिए कुछ नहीं माँग रहा। पिता के लिए यह वरदान माँगा।' इससे वे प्रसन्न हुए तथा कहा-'तथास्तु, वह वरदान तुम्हें मिल गया। अब दूसरा वर माँगो।'

नचिकेता ने हामी भरते हुए कहा-' धर्म देव, मेरे पिताजी ने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए याग का आयोजन किया। किंतु क्या स्वर्ग में प्रवेश के लिए कोई अन्य मार्ग

है? है तो मुझे उसका ज्ञान दें।' धर्मराज ने कहा–'तथास्तु' । उसे अग्नि–विद्या की शिक्षा दी। जैसे धर्मदेव कहते गए नचिकेता ने वैसे–वैसे सीख लिया। इससे यमदेव बहुत प्रसन्न हुए। उस विद्या को नचिकेताग्नि नाम दिया। यह स्वयं–प्रेरणा से दिया हुआ अतिरिक्त वरदान था। यम ने नचिकेता को उद्देश्य कर कहा–''नचिकेता, अग्नि की तीन बार आराधना करनेवालों को उनका इच्छित लोक प्राप्त होगा।''

माता के बुलावे के कारण कथा–श्रवण में अवरोध हो गया। ''याज्ञ, इधर आना।'' माँ की आवाज सुनाई पड़ी। पिता के चेहरे की ओर देखा, मानो पूछ रहा हो कि मुझे अब क्या करना होगा। पिता ने कहा–''माँ, बुला रही है। जाओ।''

''कहानी ?''

''फिर कभी सुनाऊँगा।''

''तब इस कथा को विस्तार से सुनाना, मुझे सुनना होगा। मुझे भी एक नचिकेता बनना होगा।'' यों कहते हुए माँ के पास भागा।

पिता भौचक्के हो गए। 'अरे, अभी तीन वर्ष की आयु है। अभी से इच्छा है कि नचिकेता बनूँ।' यों सोचकर उन्हें लगा कि बुडिलजी से इसके बारे में कहना चाहिए। और कई तरह के विचार उनके मन में उठे। उन्हें लगा, 'हाँ, अकेले वे ही हैं जो इसका समाधान बता पाएँगे।' यों सोचकर उठे, हाथ–पाँव धो लिया। पहरावा ठीक कर लिया।

तत्क्षण उन्हें स्मरण हो आया कि आज उन्हें बुडिलजी के घर जाना है। आज उनका पुत्र कात्यायन समावर्तन पूर्ण कर स्नातक बन घर लौट रहा है। यहाँ पुत्र को गोद में लेकर उसे प्यार करते यह बात भूल चुके थे। अच्छा हुआ कि अब तो स्मरण हो आया, यों सोचकर तत्क्षण वहाँ से चल पड़े।

अति नचिकेता

बुडिलजी द्वार पर ही प्रतीक्षा कर रहे थे। उनका स्नातक पुत्र उधर के द्वार से भीतर प्रविष्ट हुआ तो आचार्य जी इधर से। उनको देखकर बुडिलजी ने कहा–''क्यों न हो, आचार्य ऋत्विज जो हैं, वे विलंब क्यों करेंगे ? देखिए न, सही समय पर आ

गए !'' आचार्य जी इस प्रशंसा पर प्रसन्न हुए– ''अहा, बड़ों से यह उलाहना तो नहीं मिली कि हम विलंब से आए, इसके विपरीत समय पर आने की प्रशंसा भी मिल गई।''

स्नातक अपनी वापसी के पथ पर वैश्वदेव के लिए मित्र के घर ठहर चुका था। मित्र के माता–पिता ने उसे परामर्श दिया था कि उनके बंधुत्व में एक कन्या जो है उसको वह देख ले। यद्यपि उसने साग्रह कहा था कि कन्या देखने का दायित्व उनके माता–पिता का है तथापि उन्होंने कन्या और उनके माता–पिता को अपने यहाँ बुला लिया था। उनके कथनानुसार दोनों की कुंडलियों में अच्छा–सा मेल था। वर–वधू का साम्य भी अच्छा था, तो यों वहाँ से निकलने में विलंब हुआ था, अतएव निर्धारित समय पर वह यहाँ उपस्थित नहीं हो पाया।

बुडिलजी ने पुत्र को बड़ा विनयशील पाया। इससे वे प्रसन्न हुए। राजपुरोहित भार्गवजी एवं आचार्य देवरात भी इस आनंद में सहभागी हुए। बुडिलजी ने पूछा– ''हम कन्या वीक्षणार्थ कब जाएँ ?''

आचार्य ने कहा–''हाँ जाना होगा। शुभस्य शीघ्रं। यथाशीघ्र हमारे द्विवेदी जी के एक पुत्र हो तथा बुडिलजी दादा बनें– यही हमारी कामना है।''

हर एक को एक–एक पीढ़े पर बिठाया गया। उनके सामने केले के पत्ते बिछाए गए। उसमें तरह–तरह के पकवान परोसे गए–तली वस्तुएँ, अलग से शुद्ध घी में पकाए खाद्य, फल, स्वादिष्ट पानीय सब सजाए गए। उनसे निकल रही सुगंध तो अतिथियों को अपने यहाँ बलात् ले जा रहे गृहस्थ के समान सर्वत्र व्याप्त थी। स्वयं बुडिलजी ने सभी अतिथियों को पाद–प्रक्षालन के लिए जल दिया। भार्गव ने अपने को घर का ही आदमी कहते हुए मना किया। आचार्य के संकोच करने पर भी बुडिलजी नहीं माने। स्वयं उनके हाथ–पैर धुलवाए। उन्हें ले आकर अग्रस्थान पर आसीन कराते हुए कहा–''तुम तो ज्ञानी हो, हम सबसे श्रेष्ठ हो। महापुरुष के पिताजी हो। अतएव तुम्हें जो आदर प्राप्त होना चाहिए, वह तो होगा ही।''

कुछ लोगों को आचार्यजी को अग्रस्थान प्रदान करना उचित नहीं लगा। अतएव उन्होंने अपना विरोध जताया। किंतु ऐसा विरोध प्रायः अन्यत्र संभव हो सकता था, बुडिलजी के घर में नहीं। बुड्लिजी से बातों में उलझने से वे डरते थे। अतएव निरुपाय हो मौन रह गए।

फलाहार समाप्त हुआ। सभी निकले। भार्गव जी ने कहा–''आचार्य, विलंब होने के भय से मैं जैसा था वैसे ही चल पड़ा। अब दोनों साथ चलें।''

आचार्य जी ने कहा–''मैं बुडिलजी से कुछ पूछना चाहता हूँ। यदि उस कारण से विलंब हो जाए तो!''

भार्गव जी ने कहा– ''यदि वह रहस्य है तथा मेरी उपस्थिति उसमें अड़चन बनती है तो मैं अभी चला जाऊँगा।''

आचार्य जी ने हँसते हुए कहा–''भार्गव जी, वह एकांत तो हमारे पुत्र के संबंध में है। हमने जिसे तोता समझा था वह तो श्येन का शिशु बन रहा है। क्या कहूँ, उसके अजीब प्रश्नों का उत्तर दे पाना हमारे लिए असंभव हो चुका है। यदि मैं मना करते हुए कहूँ कि आज नहीं फिर कभी उत्तर देंगे तो उसके मौन साधने का तरीक़ा देखते ही बनता है। मैंने आपसे पहले ही कहा था– 'भीतर न धोने से मैल होगा। बाहर न धोने से कालिख। यह ठीक ही तो है। पर पूछता है कि भीतर कैसे धोया जाए ?' तो इसका क्या उत्तर दूँ। यदि कहूँ–'मंत्र जप द्वारा तो झट और एक प्रश्न छूटेगा– 'अर्थात् ?' तब क्या किया जाए ?''

''हाँ, भई, महापुरुष बननेवाले पुत्र को जना है न, कोई हँसी खेल है? तुम्हारे दादा-दादी ने जो परिपुष्टि एवं पोषण देकर तुम्हें पाला है,वह सारा-का-सारा तुम्हें इस पर लुटाना होगा। ''भार्गव ने हँसते हुए कहा।

''जानते हैं कि आज क्या हुआ ? कोई प्रश्न करनेवाला ही था। मैंने समझाया–'अपने पर नियंत्रण कर लेना। माघ मास तक प्रतीक्षा करना', तो नन्हा हम–तुम से बढ़ गया। प्रश्न के लहजे में कहा–'अच्छा, ऐसा ? तो ठीक है कोई कहानी सुनाओ।' मैं कौए की कथा सुनाने लगा, तो झट उसने मुझे बरजते हुए कहा–ऐसी कहानियों से हमें क्या मिलेगा?''

''तुम्हें प्रश्न करना चाहिए था–हम जैसों का आशय क्या है ?''

''पूछना चाहता था, किंतु पूछ नहीं सका।''

''तो, आगे क्या हुआ?''

''मैंने नचिकेता वाली कथा सुनाई। जब मैं दूसरे वरदान के बारे में कहनेवाला था, तब मेरी गृहिणी ने उसे बुलाया। जाते-जाते यह कहते हुए भागा-'मैं भी नचिकेता बनना चाहता हूँ। उस कथा को फिर कभी विस्तार से सुनाना'।''

''तो एक विचित्र-सा पुत्र तुमने पाया है। आचार्यजी आपके अनजाने ही उसने आपको एक वरदान दिया है।''

''क्या? क्या कहते हैं ?''

''नचिकेता तो अग्नि-विद्या एवं ब्रह्म-विद्या दोनों साधने वाले थे।''

तो नचिकेता की बात उठाकर आपके पुत्र ने आपके हृदय में चुभ रहे काँटे को निकाल दिया ?''

''अच्छा ! इतना तो हुआ न ?''

तब तक बुडिलजी ने जानेवालों को विदा किया था। इन दोनों ने उनको अपने निकट बुला लिया। बुडिलजी ने उन्हें बिठाते हुए कहा–''देखो, मेरी गृहिणी पुत्र के आगमन पर किस भाँति संभ्रम में है। अब जब बहू आएगी तो न जाने बिना पंख आकाश में उड़ेगी।''

उनकी बात पर हँसते हुए पूछा–''तो क्या कन्या मिल गई।''

''हाँ, समझो, मिल गई। उसे मैंने भी देखा हुआ है। ज्योतिष्य गणित के अनुसार सब ठीकठाक है। कन्या सुलक्षणी है, दस-ग्यारह की आयु है। दोनों का वंश अच्छा मेल खाता है। अब क्या चाहिए ?''

''तो वहाँ जाने से पूर्व ही सब कुछ निर्णीत हो गया, समझे।''

''हाँ, भार्गव सुनो, कन्या कोई भी हो, लानी ही है। जाने–पहचाने घर से क्यों न लाएँ ? अमावस्या के उपरांत वहाँ एक बार हो आएँ। माघ मास में विवाह संपन्न कर दिया जाए। क्यों, आचार्यजी आप क्या कहते हैं ?''

''आपने हाँ कहा तो अब कहने के लिए क्या है ?''

भार्गव जी ने बात लंबी खींचते हुए कहा–''मैं एक बात कहूँ ?''

बुडिल जी अन्यमनस्क रहे। फिर कहा–''अच्छा, जो भी कहना हो कह लो न?''

भार्गव जी ने कहा–''विवाह का ख़र्चा ?''

बुडिल जी ने कहा–''उसके लिए क्या है ? लड़के वालों के लिए ख़र्चा क्या होता है ? यदि है तो देह भर गहने लाद दो। अन्यथा एक मंगलसूत्र ! हमारे यहाँ एक आमलकवत सोना रखा हुआ है। उसी में मंगलसूत्र, नथ, बालियाँ, कंगन–ये ही सब बनवा लें।''

''ऐसा नहीं। बुडिलजी हम सब में श्रेष्ठ हैं, अतएव उनकी होनेवाली बहू को भी गहनों से लदकर श्रेष्ठ रहना चाहिए।''

बुडिलजी हँस पड़े– ''यदि ऐसा होना है तो मुझे यत्र-तत्र हाथ फैलाना पड़ेगा।''

''ऐसा कुछ नहीं करना पड़ेगा। समावर्तन पर आपके शुभेच्छु एक कपित्थ फल (बेल) जितना सोना आपकी पत्नी को भेंट करेंगे। अतएव वह अपने लिए रख लें। प्रस्तुत उनका अपना जो है बहू को दे दें।''

इस परामर्श पर बुडिल जी सहसा, सहमत नहीं हुए। अंत में कहा–''तुम तो दाशरात्री ज्ञाती तो नहीं तथापि पिंड भागी हो। यदि तुम्हारा दिया हुआ हम ग्रहण करेंगे तो हमारा अपरिग्रहव्रत बिगड़ेगा नहीं। किंतु लोग क्या कहेंगे! उस पर ध्यान दो।''

''अस्तु, लोग तो यह भी कहेंगे कि भार्गव तो राजभवन को लूटकर अपना घर भर चुका है। जब बुडिलजी के यहाँ विवाह हो रहा था तब इसने हाथ खींच लिया। तो इसके बारे में सोचा जाए।''

''हाँ, हाँ, तुम तो राजपुरोहित हो भाई, तुमसे कौन उलझे ? जो जी में आए, कर लेना। क्यों, आचार्यजी, अमावस्या के बाद एक दिन के लिए आप दोनों मेरे साथ चलें। लग्न निश्चय करा आएँ।''

भार्गवजी ने कहा–''आचार्यजी अवश्य चलेंगे। तो माघ मास में विवाह लग्न निर्णीत करेंगे न ? तब मैं अवश्य उपस्थित रहूँगा। अभी मुझे छोड़ दें। राजघर की पाबंदियाँ निभानी हैं न ?''

''अहा, कैसी बात करते हो भई। विवाह का सारा ख़र्चा उठानेवाले तुम हो तो निश्चितार्थ में नहीं चलोगे ? यह बात क्या शोभा देगी ?''

''सच है, पर क्या करूँ, पाबंदी है, मुझे क्षमा कर दें ? ''

आचार्य जी ने टोकते हुए कहा–''तो विवाह के लिए मेरा आना आवश्यक नहीं है न ?''

''अरे अरे, तुम तो याज्ञवल्क्य के पिता हो। तुम और तुम्हारा परिवार नहीं चले तो हम ही क्यों जाएँ ? क्यों भार्गव, क्या कहते हो ?''

''ठीक है, छोड़ो उसे। अब आचार्य आपसे कुछ परामर्श करने के लिए आए हुए हैं।''

''वह भी जानता हूँ। उसको एक ही चिंता है। पहाड़ जितनी चिंता, इस बच्चे का संवर्धन किस प्रकार किया जाए ? आज वह बात नहीं करनी। फिर कभी आ जाना। विस्तार से कह सुनाऊँगा। हाँ, सारांश यही है कि वह तो गंधगण है। उसे कोई लोप न होने पाए। उस बच्चे को जो चाहिए वह न तो भोजन है न वस्त्र। उसे छोटा समझकर उसकी हँसी नहीं करना। वह जो भी पूछे, जानना चाहे, बिना किसी दुराव के समझाना। उसकी छोटी आयु के होने के भ्रम में न पड़ना।''

''सुनते हैं कि आज उसने नचिकेता बनने की इच्छा व्यक्त की!''

''इसे तो अतिनचिकेता बनना है। कहा न, फिर कभी विचार करेंगे।''

आचार्य जी एवं भार्गव जी ने बुडिलजी को प्रणाम किया। उनकी अनुज्ञा पाकर दोनों वहाँ से चल पड़े।

अभी वे द्वार पर पहुँचे थे कि पीछे से बुडिलजी आए। ''आचार्य, चौलकर्म के दिन ही अक्षराभ्यास भी संपन्न करा दें। यों तो नियमानुसार पाँच वर्ष की आयु पूर्ण होने तक प्रतीक्षा करनी होती है, किंतु आपका पुत्र साधारण कोटि में नहीं आता। अतएव अपवाद-रूप में यह भी इसी अवसर पर हो जाए।''

आचार्य ने न कोई प्रतिवाद किया न उद्वेग ही दिखाया। हामी भरते हुए कहा–''बुज़ुर्ग की बात हमें वेदवाक्य सदृश मान्य है। यहाँ हमारे द्वारा तर्क के लिए कोई अवसर ही नहीं।'' पुन: प्रश्न किया–''तो माघ मास में कर दें ?''

''हाँ, हाँ, अवश्य। आपके घर में अक्षराभ्यास का भोज, हमारे घर में विवाह पूर्व देवताकार्य का भोज, दोनों संपन्न कर विवाह के लिए प्रस्थान करें। क्यों राजपुरोहित जी, आपको स्वीकार है न ?''

भार्गव जी ने हँसते हुए हाथ जोड़े और कहा–''कहते हैं न, बुज़ुर्गों का कहा सर्वोपरि ! हमारा क्या है! हम तो आपके चिरंजीव हैं। आप हैं विधायक, और हम तो विधेय।''

बुडिलजी ने कहा–''अच्छा विदा।'' दोनों को गाड़ी में बिठाकर स्वयं लौट पड़े।

विवरण

माघ मास आसन्न था। अनुगमन ही शायद काल का नियम है। जो हमें प्रिय होता है उसके शीघ्रागमन की प्रतीक्षा किया करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता हो तो काल के संचरण को हम अपनी व्यथा का लबादा ओढ़ाकर कह देंगे कि इसकी गति इतनी धीमी क्यों ? तो क्या हमारे मन के सुखों और दुखों से उस पर चढ़ा रंग ही उसका रंग होता है ? उसका अपना कोई रंग नहीं होता?

मनुष्य स्वयं को कर्त्ता समझ बैठता है, ऐसे में काल को अपना रंग कहाँ से आए ? यह कोई नहीं जानता कि काल के गर्भ में किसके भाग्य में क्या निहित होता है। त्रिकालज्ञों को इसके बारे में जानने की कोई आसक्ति नहीं होती। जो हुआ सो

हुआ। जो होना है सो होगा ही, उनमें विरक्ति होती है कि उसको जानने का कोई प्रयोजन हैं ही नहीं। पर काल के गर्भ को टटोलकर जानने के इच्छुक जो हैं उनको वह सामर्थ्य प्राप्त नहीं। इसलिए काल का अपना रंग थोड़े ही होता है।

आलंबिनी ने माता जायंती को बुला लिया। चौलकर्म के लिए आवश्यक सारी तैयारियाँ कर लीं। उन्हें तो वैदिक क्रियाओं के लिए आवश्यक उपस्कर तैयार करने से बढ़कर लौकिक आचरण आरती, मंगल आदि के लिए सामग्री जुटाने में ही आसक्ति थी। और तो और, राजप्रासाद से विनयपूर्ण निरूप आया कि चौलकर्म वैदिक एवं लौकिक दोनों रूपों से वैभवपूर्ण रीति से संपन्न हो। इसके लिए वहाँ से आवश्यक सामग्री दुगनी-तिगुनी मात्रा में उपलब्ध कराई गई।

निर्णय हुआ था कि चौलकर्म माघ शुद्ध सप्तमी बुधवार के दिन संपन्न किया जाए। स्वयं बुडिलजी को ही चौलकर्म एवं अक्षराभ्यास संपन्न कराना था। मंगल-वाद्यवालों को बुलाया गया था। राजभवन का नापित ही उस कार्य के लिए उपस्थित होनेवाला था। कुलपति, राजपुरोहित आदि को भोज में आने के लिए निमंत्रण भेजे गए थे। माता और पुत्री सारा आयोजन करते हुए आपस में संवादरत रहीं।

''बुडिल जी के आकर पीढ़े पर आसीन होते ही सब क्रियाएँ आरंभ हो जाएँ। तब तक सारा आयोजन ठीक-ठीक कर दें। यज्ञेश्वर के प्रज्वलन के लिए आवश्यक सूखी लकड़ी एकत्र कर ली जाए तो बिना किसी विघ्न के यज्ञ संपन्न हो जाएगा। रसोइए भाँति-भाँति के खाद्य, पाद्य, चोद्य आदि तैयार कर लेंगे। हमारा कार्यक्रम तो संध्या को होगा। तब 'उंडे बागिन' (लड्डू के उपहार) बाँटने होंगे। बच्चों और कम वय वालों के लिए छोटे लड्डू, बड़ों के लिए बड़े लड्डू। बड़े आकार के कम से कम सौ लड्डू तो तैयार कराने होंगे...'' ये ही सारी बातें हो रही थीं।

आचार्य ने पिछले दिन ही सारी व्यवस्था का आकलन किया था- यथा- यज्ञवेदी कहाँ स्थापित करनी होगी; नापित को कहाँ बिठाना होगा; स्वयं के लिए एवं बुडिलजी के लिए पवित्र वस्त्र कौन-कौन-से रखने होंगे ? यज्ञेश्वर को कौन ले आएँगे ? समिधाएँ सब ठीक हैं कि नहीं-आदि। कुलपति तथा दूर से आनेवाले सभी उसी दिन संध्या को आ पहुँचे।

बुधवार का दिन था। अभी सूर्य कुछ ही ऊपर चढ़ा था। तब तक बुडिलजी एवं अन्य ब्राह्मण आ पहुँचे। कर्म आरंभ हुआ तथा सहज रूप से संपन्न हुआ। चौल पंक्ति भोजन हुआ। (चौलकर्म के पूर्व ही शिशु को माता के संग भोजन कराया जाता है।) वटु का चौलकर्म हो गया, वह स्नान करने चला। बुडिलजी ने

कहा–''आलंबम्मा, पुत्र का अभ्यंजन (सिर और देह पर अरंड का तेल चुपड़कर गरम पानी से स्नान कराया जाता है) कराते समय उससे कहो कि वह आँखें बंद कर ले और देखे। वह तुम्हें जो कह सुनाएगा वह मुझे या अपने पति को बता देना।''

स्नान के समय आलंबिनी जब उसे पानी से नहला रही थी तब उससे पूछा– ''क्या दिखाई दे रहा है ?'' उसने आँखें मूँदकर देखा और कहा– ''यह क्या है, माँ मत्स्य, अत्रतत्र चमकते चल रहे हैं।''

आचार्य और बुडिलजी को इसका समाचार मिला तो वे प्रसन्न हुए। आचार्य ने बुडिल जी से पूछा– ''इससे क्या प्राप्त हुआ?'' इस पर वे हँसे और बोले–'अस्तु, आचार्य जी देखना चाहते हैं कि इस विचार में यह बूढ़ा क्या कहेगा। हाँ, इस बूढ़े को बतियाने की चपलता तो है ही। तो सुन भी लो। यह चौलकर्म जो है इस ओर संकेत करता है कि अन्नमय कोश एवं प्राणमय कोश स्वतंत्र एवं विलग हो चुके हैं। अब तक जो साथ–साथ थे उनके विलग होने के संकेत के रूप में प्राणमय कोश ने मत्स्य के रूप में दर्शन दिया, अब मनोमय कोश एवं विज्ञानमय कोश स्वतंत्र हो जाएँगे। मातृशिष्ट (माता के आश्रय में) रहने का समय समाप्त हो चुका। अब पितृशिष्ट होने का समय आसन्न है। तुम्हें बालक को सदा साथ लेकर चलना होगा। बुढ़ापा जो है विस्मरण होता रहता है। आज मत्स्यों को देखने के परिणाम-स्वरूप कल बालक के चेहरे पर भ्रूमध्य से लेकर शिरोमध्य तक एक काली रेखा उभरेगी। तुम पूछोगे कि वह क्या है ? अन्नमय कोश से लगे प्राणमय कोश का अपने में व्याप्त कालिख का वर्जन करना होता है। वह कालिमा इस रूप में व्यक्त हो जाती है। वह केवल दो–तीन दिनों तक रहेगा, बाद में विनष्ट हो जाएगा। हाँ, घर में समझा देना कि भय खाने की आवश्यकता नहीं।''

स्नाननंतर वटु फिर से पिता के पार्श्व में उपविष्ट हुआ। अक्षराभ्यास कराया गया। मंत्रोच्चार कर रहे बुडिलजी बीच में रुक गए। 'निषिसीद सरस्वती' मंत्र का साम में गान किया। पीछे मुड़कर देखा। उद्दालक एवं वैशंपायन ने कहा–ठीक है, ठीक है। पुन: उद्दालक ने आदेश दिया–'गणानांत्वा' का भी गायन हो। वैशंपायन ने भी हामी भरी। बुडिलजी ने 'गणानांत्वा' मंत्र का भी साम में गायन किया। सारा–का–सारा कर्म यथाक्रम संपन्न हो गया।

किंतु किसी को मालूम नहीं था कि पुरोहितजी ने अक्षराभ्यास के अवसर पर निषिसीद, गणानांत्वा, इन दोनों मंत्रों का साम में क्यों गायन किया। किंतु किसी में

यह कहने का साहस न था कि यह क्रमविरुद्ध है। यदि किसी से पूछना हो तो कुलपतियों से पूछा जा सकता था। किंतु उन दोनों ने स्वीकृति दी है। पर मौन कैसे रहा जाए ? वटुओं ने जाकर आचार्य जी को पकड़ा। तब वहाँ राजपुरोहित भी थे। उन्होंने भी कह दिया– ''हाँ, आचार्य मेरी भी समझ में नहीं आया। इसीलिए उन्हीं से पूछना चाहिए।'' सचमुच आचार्य जी भी समझ नहीं पाए थे तो निश्चय हुआ मध्याह्नानंतर पूछा जाए।

वैश्वदेव पूर्ण होने पर आचार्य दंपती एवं कुमार को आसीन कराकर सबने आशीर्वाद दिया। अब सभी तांबूलचर्वण के लिए एकत्र होनेवाले थे। तभी राजपुरोहित ने आचार्य जी को संकेत से बताया। तब उन्होंने बुडिलजी से कहा–''बुज़ुर्ग के सम्मुख एक विचार का निवेदन करना था।''

''अवश्य पूछो भाई, यदि हम नहीं जानते हैं तो महाज्ञानी कुलपति की सन्निधि है। एक नहीं दो–दो हैं। देवता भी हैं। यों देखा जाए तो यह ब्रह्म–सभा है। तुम्हारे संदेहों का समाधान यहाँ नहीं होगा तो और कहाँ हो सकेगा? पूछो न?''

''हमें मालूम नहीं हुआ कि आज आपने निषिसीद एवं गणानांत्वा मंत्रों का साम में गायन क्यों किया ? यह जानने के लिए हम सब आपके आश्रित हैं।''

''देखिए न कुलपतिजी, मैं चाहूँ भी तो क्या आचार्यजी का प्रतिवाद कर पाऊँगा?'' उनकी वाक् कितनी विनय–संपन्न है! कहते हैं, उत्तर के लिए वे हमारे आश्रित हैं। इस प्रकार की वचोवैखरी होने के कारण ही ऐसा महापुरुष आपका पुत्र होकर जन्म धारण कर चुका है। यदि कुलपतिजी की अनुज्ञा हो तो मैं स्वयं स्पष्टीकरण दूँ।''

वैशंपायन ने उद्दालक की ओर देखकर उनका आदेश पाकर कहा–''हम लोक की दृष्टि में कुलपति हैं। आपने अपरिग्रह ग्रहण कर कुलपतित्व को नकार दिया। परंतु ज्ञान में आप हम सबसे सर्वोपरि हैं। यदि आप आज भी 'हाँ' कह दें तो आपके यहाँ शिष्यत्व ग्रहण करने को प्रस्तुत हैं।''

उद्दालक ने कहा–''हम दोनों में इस विचार में मतैक्य है।'' वैशंपायन ने कहा–''अतएव आप स्पष्टीकरण देंगे तो हम भी अपने न्यूनातिरेकों को ठीक कर लेंगे।''

बुडिलजी ने कहा–''अस्तु, आपने हम पर वयोवृद्धत्व के साथ–साथ ज्ञानवृद्धत्व आरोपित किया तो अस्वीकार क्यों करें ? 'सत्या एते आशिष स्संतु'। ये आशीर्वाद सार्थक हों। अब आगे बढ़ें। सुनिए।

''देह में षट्चक्र होते हैं। उन सब में मूलाधार ही ज्येष्ठ है। जिस प्रकार सरोवर से निकलते नाले में जल प्रवहित होता है उसी प्रकार मूलाधार से शक्ति प्रवहित हो संपूर्ण देह में प्रसरित होती है। उसके बारे में आदिभूत स्वरूप में अवगति प्राप्त करनेवाले बहुतेरे होते हैं। वे उसे अन्नमय-कोश गत स्थिति में देखते हैं और कहते हैं कि देह सशक्त है। वही जिन्होंने उसे आध्यात्मिक स्थिति में देखा तथा पाया कि मनोबुंद्धियों में उसका खेल चल रहा है । कहते हैं देखो न, मनो-बुद्धि कितना स्पष्ट है। वही आधियज्ञ बनता है तथा देवता-शक्ति-स्वरूप में देह में प्रकट होता है तो वह अतिमानव कार्यों को संपन्न कराता है। जब वह आधिदेव बनता है तब यह शक्ति-प्रसरण देहांतर्गत होकर अंगांगों में भिन्न-भिन्न रूप में दीखने पर भी प्रतीति होती है कि वह एक ही होता है। इसलिए वेद-विद आधियज्ञ-शक्ति प्रसरण को या तो कर्मकांड के रूप में या ज्ञानकांड के रूप में देखा करते हैं। इतना तो समझ गए हो न ? अब आगे सुनो।

''आज प्रातः अक्षराभ्यास के समय में जब मंत्रोच्चार कर रहा था तब देखा, कुमार की देह में शक्ति, व्यूह का रूप धारण कर तिर रही है। यह भी ज्ञात हुआ कि वह व्यूह देह की सकल नाड़ियों में व्याप रहा है। मैंने देखा कि वह सरस्वती नाड़ी का स्पर्श कर रहा है। क्या आप जानना चाहेंगे कि यह सरस्वती नाड़ी कहाँ है? तो सुनो।

''सरस्वती सुषुम्ना के पीछे है। उसको जो प्रचोदित कर पाता है वह सर्वज्ञ बन जाता है। अब हम जिस किसी वस्तु के बारे में कहना चाहते हों तो हमने उसे जैसे देखा, जाना और समझा उसके अनुसार कहा करते हैं । किंतु क्या हमने तत्त्व को यानी तत्-त्व -उसके अपनेपन को देखा हुआ है। हम अब जो कर रहे हैं वह तो अपनी-अपनी मनोबुद्धियों के व्यापार की व्याख्या मात्र है न कि तत्-त्व दर्शन। अब केवल इंद्रिय साक्षात्कार की ओर ध्यान दे पाते हैं। हमारे सम्मुखवाला व्यक्ति जो कुछ कहता है उसको क्या प्रत्यक्ष कर दर्शा सकता है या नहीं– यही हमारे लिए प्रमाण-दर्शन होता है। किंतु तत्त्व प्रमाण से दृष्ट नहीं। वह प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमाओं से परे होता है। उसको प्रदर्शित करने के लिए विशेष 'शक्ति' की आवश्यकता पड़ती है। सरस्वती प्रचोदन द्वारा यह विशेष शक्ति प्राप्त होती है। कुछ देहों में यह विशेष शक्ति वाक् को व्याप लेती है तो उन देहियों को उपाध्याय कहते हैं।

''मैंने आज देखा कि इस बालक में सरस्वती का प्रचोदन हो रहा है। यदि इस देह में वह कभी–कभार संचरित होता रहे तो वह पर्याप्त नहीं। इसीलिए इसको सतत संचरित रखने के आशय से मैंने 'निषिसीद सरस्वती' मंत्र का साम में गायन कर उस शक्ति को अभिवंदित कर बालक को आशीर्वाद देकर कृतकृत्य बन गया। इस सब से अवगत हुए कुलपतियों ने आदेश दिया कि 'गणानांत्वा' का भी साम में गायन हो। अब उसका रहस्य भी जानिए।

''जब यह शक्ति–प्रसरण मूलाधार से सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों में होता है तब सरस्वती बनता है। तब वह चार स्थानों में यथा परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी में प्रकट होकर व्यूह रचता है। तब वह गणपति व्यूह बनता है। वह दूर्वा की भाँति त्रिधा होकर (तीन भागों में अभिव्यक्त होकर) देह भर में व्यापी नाड़ियों में संचरण करता है। चूँकि देह स्थूल होती है ,उसमें यत्र–तत्र विघ्न उठ खड़े होते हैं इन विघ्नों का स्वरूप बाह्य भी हो सकता है, अभ्यंतर भी। अतएव इन बाह्य एवं अभ्यंतर विघ्नों से पूर्ण रूप से मुक्ति पाने के हेतु हम गणपति की पूजा किया करते हैं। इसीलिए कुलपति का आदेश हुआ कि बिना एक साधारण विघ्न के भी देह भर में शक्ति प्रसरण हो, इस आशय से 'गणानांत्वा' का गायन करूँ। मैंने उनके आदेश का अनुसरण कर उसे साम में गाया।''

''किंतु उसे साम में ही क्यों गाया जाए ? यजुस् में क्यों नहीं ? वह छंदोबद्ध नहीं है तो ऋक् में गाया जा सकता था?''–सभा में किसी ने यह प्रश्न उठाया।

बुडिलजी ने कुलपति के चेहरे की ओर देखा । उद्दालक ने कहा–''बुज़ुर्ग महोदय, इस पर भी आपसे स्पष्टीकरण मिल जाए। आज आपकी जिह्वा पर माता सरस्वती नृत्य कर रही हैं। हम भी सुनें, उनकी पूजा कर कृतकृत्य बनें।''

बुडिलजी ने हाथ जोड़कर कहा– ''यथाज्ञापयति ।'' व्याख्या आरंभ करने से पूर्व याज्ञवल्क्य की ओर मुड़े। कुमार तो निश्चल पद्मासन में उपविष्ट हो ध्यानासक्त–सा बैठा हुआ था। बुडिलजी ने उनकी इस मुद्रा पर सबका ध्यान आकर्षित कर कहना प्रारंभ किया।

''हाँ, आपका प्रश्न उचित है। एक ही मंत्र ऋक्, साम, यजु–इन वेदत्रयों में हो तो वह विनियोग होता है। आप प्रश्न करेंगे कि यह कैसे संभव होगा। अव्यक्त जो है वह ऋक् से व्यक्त होता है। साम उसका विस्तार करता है। यों जो अभिव्यक्त होकर विस्तार पाता है उसकी आराधना यजुस् से होती है। अतएव देह में दृष्ट शक्ति–प्रधानत्व को स्थायित्व प्राप्त हो तथा निर्विघ्नता बनी रहे–इस आशय से प्रेरित होकर मैंने उस मंत्र का साम में गायन किया।''

सब एक-एक करके बुडिलजी के पास आए, उन्हें प्रणाम किया। यों प्रणाम करनेवालों में कुलपति भी थे। बुडिलजी ने 'वेद पुरुषाय नमः' घोष के साथ उनके प्रणाम को स्वीकार किया। परंतु अभी कुमार के नेत्र नहीं खुले थे-

बुडिलजी ने कहा-''आप सब ने मेरे द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को मान्य किया। एतदर्थ आपको मेरे नमस्कार। किंतु जिसके लिए मैंने यह सब किया, न जाने वह क्या कहेगा ; सुनें तो सही।'' यों कहकर कुमार की ओर मुड़कर सविनय प्रेम से पूछा-''क्यों भाई, मैंने जो स्पष्टीकरण दिया वह सही है न?''

कुमार ने आखें खोलीं। गंभीर हो, शांत रहकर सिर हिलाते हुए कहा-''हाँ, सही है।''

बुडिलजी ने शांति की साँस ली, मानो बच् निकले हों।

यह तो वही है

आचार्य दंपती जो बुडिलजी के पुत्र के विवाह में गए थे, लौटे। वहाँ विवाह के अवसर पर सभी का ध्यान याज्ञवल्क्य पर ही था। वह भी प्रत्येक के निकट पहुँच जाता। जो भी उसको बाँहों में लेता, उसको प्यार करता, हर कोई उसे कुछ-न-कुछ खाने को देता। विवाह की अवधि में एक विशेष घटना घटी। कात्यायन की वधू औपस्वस्ती से कुमार याज्ञवल्क्य यों घुलमिल गया मानो बहुत दिनों से उनका साथ रहा हो। उसकी भी दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था थी। सभी उसे दीदी कहकर पुकारते थे, जबकि लोगों के बार-बार समझाने पर भी याज्ञ उसे मामी (सासुजी) कहने लगा। यह समाचार बुड्लिजी तक पहुँच गई। वे हँस पड़े। कहने लगे-''यह तो भविष्य की ओर निर्देश करता है।''

एक और आश्चर्य भी था। सभी कुमार की आयु की ऊहापोह पाँच वर्ष की करते थे। कोई जानकर सही आयु तीन वर्ष बताता तो नाक भौं सिकोड़ कर कहता-'भई चुप भी हो जाओ। यदि पाँच वर्ष का नहीं तो यों धाराप्रवाह बोल पाएगा?' सभी को भय था कि कहीं बालक को नज़र न लग जाए। किंतु न जाने किस भगवान् की कृपा थी ; ऐसा कुछ अनिष्ट नहीं हुआ।

फागुन आ गया। धूप तेज होने लगी। अब तक धूप खाने के लिए जो लोग बाहर जाया करते थे वे अब धूप से बचने के लिए घर के भीतर आ छिपने लगे। पेड़-पौधों ने नई कोंपलों का सिंगार धारण किया था। प्रत्येक वृक्ष कांतिहीन शुष्क पत्रों को गिराकर मैली साड़ी को तज नई रेशमी साड़ी पहनी नवोढ़ा जैसा आकर्षक लग रहा था। यद्यपि पेड़ों पर हरे-भरे नन्हे पत्ते उग आए थे, धरती पर अभी घास उगी नहीं थी। ब्राह्मण-बंधुओं* के ब्राह्मण्य की भाँति अरुणोदय पूर्व ठिठुरन अपना अस्तित्व खो बैठी थी।

अब कुमार माता से बढ़कर पिता के सन्निकट हो गया था। किंतु माँ के पुकारने पर उसकी अवहेलना नहीं करता। हाँ, अग्निहोतृ का समय छोड़कर शेष समय में यदि माता पुत्र को देखने की इच्छा करती तो पुकारना पड़ता था , अन्यथा पिता जब शिष्यों को शास्त्र पढ़ाते होते तब पुत्र वहाँ अवश्य उपस्थित हो जाता। पिता ने एक ऊँचा पीढ़ा बनवाया ; उस पर बालुका फैलाकर अक्षर लिखे, उस पर उँगली से स्वयं लिखने का आदेश किया। अक्षरों का अभ्यास याज्ञवल्क्य के लिए कोई बात ही नहीं। आठ-दस दिनों में बारह खड़ी, संयुक्ताक्षर सब सीख लिया। पंद्रह दिनों में स्पष्ट लिखा हुआ जो भी हाथ आए उसे पढ़ने लगा। यदि कोई कुछ लिखाता तो लिख भी लेता। इतना सब कुछ सीख गया।

एक दिन की बात है। आचार्य किसी विचार में डूबे थे। याज्ञवल्क्य आकर गोद में बैठ गया। आचार्य जी सहसा प्रकृतस्थ हुए। गोद में बैठे पुत्र को एक हाथ से दबोचकर दूसरे से चहेरे को सहलाते हुए पूछा—''क्यों, अबतक लिखते रहे ना ?''

पुत्र ने कहा—''हाँ, कभी का पूरा कर लिया। जानते हैं कैसे ? माँ चक्कुली** देती है तो उसको जिस तरह मज़े में चबा लेता हूँ उसी तरह सब कुछ कर लिया। जानते हैं अब क्यों आया हूँ।'' पुत्र के दिए उपमान को सुनकर पिता हँसे, कहा—''तुम कहोगे तो मैं जान जाऊँ ? मुझे परकाय प्रवेश का ज्ञान नहीं है न ?''

पुत्र ने पिता के चेहरे की ओर देखते हुए कहा— ''आप तो आए हुओं का चेहरा देखकर ही समझ जाते हैं। शिष्यों के आने पर पूछते हैं, क्या कुछ शंका है? फिर कह देते हैं कि वह यह तो नहीं ?''

अपना अनुकरण करनेवाले पुत्र को देखकर प्रसन्न होते हुए कहा— ''यह तो रही शिष्यों की बात, किंतु तुम मेरे पुत्र हो। इसलिए तुम ही कह सुनाओ।''

---

* ब्राह्मण-बंधु वे हैं जो जन्म से ब्राह्मण होने पर भी कर्म-भ्रष्ट होने के कारण उनका स्थान समाज में ब्राह्मण की अपेक्षा निम्न-स्तर का होता है ।

** 'चक्कुली' चक्राकार का एक तला हुआ खाद्य जो खाने में कुरकुरा होता है ।

''हाँ, वही हो। आप बड़े जो हैं, आपकी बात मानना कोई ग़लत बात नहीं। आप ही ने कहा था, अपने ऊपर नियंत्रण रखना, चौलकर्म संपन्न होने तक ठहर जाओ। उसके उपरांत जो चाहे पूछो, यही न ?''

''हाँ।''

''तो वही पूछने आया हूँ। पूछूँ ?''

पिता को भय हुआ कि न जाने पुत्र क्या पूछ बैठे ! संदेह भी हुआ। तथापि एक प्रकार की माया आ घेरी, सोचा 'चलो छोटा बच्चा है, क्या पूछ लेगा?' तो उन्होंने कहा–''हाँ, पूछो।''

पुत्र ने कहा–''पहले 'धोवन' की बात कहें। माँ ने कहा था कि बाहर नहीं धोएँगे तो कालिख लगेगी, भीतर नहीं धोएँगे तो मैल। मैंने इसके बारे में सोचा भी। बाहर धोने की बात तो समझ पाता हूँ। किंतु भीतर धोना कैसे? बहुत विचार करने पर भी मालूम नहीं हुआ। इसीलिए आपसे पूछ रहा हूँ।''

पिता ने पुत्र के चेहरे की ओर देखा। प्रतीत हुआ कि कहीं देखा हुआ है। स्मरण हो आया–ठीक है उस दिन को सपने में देखा था। हाँ. यह वही है जिसे सपने में देखा था। इसमें कोई संदेह नहीं। तब बड़ी देह में समान स्तर पर निकट बैठे थे; आज छोटी देह में गोद पर आ बैठा है ; बस यही अंतर है।

आचार्य समाहित हुए। बुडिलजी ने कहा था कि वह जो भी पूछे बिना दुराव के बता दो। इसका भी स्मरण हो आया तो उन्होंने व्याख्या प्रारंभ कर दी।

''सुनो पुत्र, तुमने जो पूछा, वह बड़े महत्त्व का प्रश्न है। इस संसार में कोई भी 'भीतर धोने' की बात पर ध्यान नहीं देता। किंतु हम जब तक आंतर्य का प्रक्षालन कर परिशुद्ध नहीं हो लेते तब तक हमें श्रेयोमार्ग सूझता ही नहीं। अतएव भीतर धोने की प्रक्रिया बहुत महत्त्व की हो जाती है, कुछ और पूछना है?''

''हाँ, उस दिन माँ ने जो श्रेय एवं प्रेय की बात कही थी, उसी के बारे में कह रहे हैं न ?''

''हाँ, दोनों बातें यम धर्मराज ने नचिकेता से कही थीं। जो आंतर्य का प्रक्षालन करना चाहता है उसे जानना पड़ेगा कि आंतर्य में क्या होता है? क्या प्रक्षालन संभव है ? इसके बारे में विचार करना होगा न? सुनो, प्रत्येक व्यक्ति इस देह को अपनी–अपनी दृष्टि से देखता है। वैद्य लोग कहा करते हैं–यह देह प्राण का आवास है; वात, पित्त एवं कफ़ यहाँ के स्वामी हैं। योगी तो कहा करते हैं कि यह देह नाड़ियों का मंडल है, चक्रों का स्थान है, प्राणादि वायुओं का क्रीड़ाक्षेत्र है।

मांत्रिक लोग इसको देवताओं का आवास-स्थान मानते हैं, कहते हैं कि सारे-के-सारे देवता-कार्य के लिए आवश्यक तेजोराशि का अंश यहाँ बीज रूप में धरा हुआ है। अतएव इसको देवमंदिर कहा करते हैं।

''ज्ञानीजन इस देह को पंचकोशों से बना बड़ा पिंजड़ा मानते हैं। यह तो हुआ क्षेत्र, एक क्षेत्रज्ञ भी होता है। यह तो उसी का घर है। लौकिक तो इस देह को 'आप' या 'स्व' मानते हैं। इसकी हानि ही उनके 'स्व' की हानि है, वृद्धि ही 'स्व' की वृद्धि है। अतएव इसको स्वस्थ बनाए रखना चाहिए। तो इन सब में लौकिकों के अनुसार-आंतर्य का प्रक्षालन का मायने है उसको स्वस्थ रखना। यदि भीतर कहीं मैल शेष रह गया तो वह रोग का कारण बन जाता है। अतएव शुद्ध बने रहो, सफ़ाई रखा करो। यही इनका मत होता है।''

''माँ कभी-कभार मुझे तेल पिलाती है। कारण पूछने पर कहती है तुम्हारी देह स्वस्थ बनी रहे। क्या आपका संकेत इसी ओर है ?''

''हाँ, यह प्रथम स्तर होता है; यह तो वैद्यों द्वारा करणीय काम है। वैद्य, मांत्रिक, ज्ञानी सभी मानते हैं कि इस देह में जो कुछ देखते हैं उससे भिन्न अदृश्य कोई और भी बात है। वैसे ही इस देह को एक साधन भी मानते हैं। यद्यपि इसके प्रक्षालन की आवश्यकता सभी मानते हैं तथापि इसको धोने की रीत के बारे में सभी का अलग-अलग मत हैं। वैद्य इस प्रक्षालन क्रिया को विरेचन आदि पंचकर्मों द्वारा कराने के पक्ष में हैं। योगियों के अनुसार प्राणायाम द्वारा शुद्धि होनी है। मांत्रिक तो मंत्र जप एवं आचरण से शुद्धि मानते हैं। ज्ञानी-जन इंद्रिय मनोव्यापार पर अंकुश रखते हुए विचारों द्वारा पवित्र बनाना चाहते हैं।

''देह शुद्धि से क्या परिणाम होगा, इसके संबंध में भी इनके अलग-अलग लक्ष्य हैं। वैद्य के अनुसार देह को सुपुष्ट बनना चाहिए, तब स्वास्थ्य लाभ होगा, इससे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-इनमें से किसी को या सभी को साध सकते हैं। योगी तो नाना सिद्धियों को गिनाता है, शुद्ध देह से क्या नहीं हो सकता ? आकाश में विचरण किया जा सकता है। पहाड़ जितना भारी या अणु जितना सूक्ष्म आकार ग्रहण कर सकते हैं। समाधि में रहा जा सकता है। मांत्रिकों का मंतव्य है-उपासना द्वारा दैवी तेजस् में वृद्धि कर इसी लोक में रहते हुए वांछित सुख पा सकते हैं, पुण्यलोकों को प्राप्त कर सकते हैं। अंत में देवाप्यय भी प्राप्त कर सकता है अर्थात् उपासक उपास्य देवता में समा सकता है। किंतु ज्ञानियों का कहना है- 'ये सब कुछ क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। महत्तर सिद्धि का आशय है आनंद-लाभ। उसे पाने के लिए

शुद्ध देह को काम में लाना होगा। तुम ही कहो कि हमें इनमें से किसकी चाह नहीं है? हमें तो वैद्य, योगी, मांत्रिक एवं ज्ञानी इनके द्वारा अनुपालित चारों क्रमों का अनुसरण करना होगा ?''

पुत्र ने एकाग्र मन से सब कुछ सुना। चरी घास की जुगाली करनेवाली गाय की भाँति क्षण-भर के लिए आचार्य की सभी बातों पर मन में मंथन किया। तत्पश्चात् पिता से पूछा–''बापू, आपने जिन चार उपक्रमों के बारे में कह सुनाया समझिए कि उनका अनुसरण करते हैं ; तब इनसे कोई हानि तो नहीं होगी न ?''

''हानि क्योंकर होगी ? एक दूसरे का उपकार ही करता है। सब को सम्मत होनेवाला एक उपाय है, सुनो। मानव देह तथा अन्य प्राणियों की देह संरचना में एक अंतर होता है। पशुओं की देहों में आपसी अंतर है, मनुष्यों में नहीं। मानवों में जो अंतर होता है वह देहों में नहीं मनों में। अतएव जानकार लोग प्रत्येक देह के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शुद्धि-प्रणाली का निर्धारण करते हैं। ये प्रणालियाँ तो उनके मन पर अवलंबित हैं। पशुओं में जो नहीं वह एक बात मनुष्य में है। वह कह देता है 'मुझे उसमें विश्वास नहीं है।' यों वह सब को एक ही लाठी से हाँकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह इस प्रकार के नकारात्मक पथ को त्याग दे। 'मैं किस पर विश्वास करूँ?'–इस प्रकार की सकारात्मक विधि को सुनिश्चित कर ले। तत्पश्चात् उसके अनुकूल साधन को अपना ले।''

''इसको कोई नाम दिया जा सकता है ?''

''हाँ, ज्ञानी-जन इसी को श्रद्धा कहा करते हैं। श्रद्धा देह की वृद्धि का परिचायक है तो देह की शुद्धि का द्योतक भी।''

''देह-वृद्धि से क्या आशय है ? छोटी-सी देह का बड़ा बनना ही है न?''

'' नहीं, देह का बाह्य में बढ़ना अलग बात है। भीतर उसका संवर्द्धन होना दूसरी बात है। बाहर शरीर में जो वृद्धि होती है उसमें हो सकता है बड़ी मात्रा में मैल भरा हो। उसमें श्रद्धा का अभाव भी दृष्टिगोचर होता हो। अतएव हम जिस देहवृद्धि की बात करते हैं वह भीतर से संबंध रखता है। वह देह लिंग रूप एवं वय से किसी भी कोटि का क्यों न हो, यदि उसमें स्थैर्य एवं सौजन्ययुक्त श्रद्धा अवस्थित हो तो वह संवर्धित देह होगी।''

''श्रद्धा की व्याख्या कुछ और विस्तार से करें।''

''अब देखो, यदि मैं या तुम्हारी माँ कुछ कहती है तो तुम उस पर विश्वास करते हो। यदि हम तुम्हें किसी काम को करने से तुम्हें रोकते हैं तो तुम उसको नहीं करोगे, यदि किसी कार्य को करने का आदेश देते हैं तो उसको मानोगे, यही श्रद्धा

होती है। स्वेच्छा से अपनी विचारशक्ति पर अंकुश लगाते हुए अपने से बड़ों की बातों को सत्य मान लेना श्रद्धा होती है। श्रद्धा वही है जो यह मानती है कि हमसे बड़े भी हैं। वे हमसे अधिक जानकारी रखते हैं। समझो कि यदि किसी कारणवश बड़ों से चूक हो गई तो हमें शास्त्रों द्वारा श्रद्धा को प्राप्त करना होगा। नचिकेता के पिता ने दान में अनुपयुक्त गायें दीं। तब नचिकेता की श्रद्धा ने शास्त्रवाक्य का आश्रय लिया। शास्त्रवाक्य ने उसे ज्ञान दिया कि अदेय-वस्तुओं के दान से असुर्य लोकों की प्राप्ति होती है। तब उसमें जिज्ञासा जगी। जिज्ञासा ने पूछा- 'क्या इसको सर्वस्व-दान कहा जाता है, तो मैं जिसका हूँ उसे वह दान में दे देंगे ?' इसका परिणाम जो हुआ, वह तुम्हें ज्ञात है। अब सुनो। जो सबसे सम्मत है वह है सबसे श्रेष्ठ श्रद्धा, जो आंतर्य को धोने में सबसे आगे हैं। श्रद्धा है तो वह वैद्य, योगी, मांत्रिक एवं ज्ञानी इनके क्रमों में किसी एक को, या इन सबसे थोड़ा-थोड़ा अंश स्वीकार कर नए क्रम का या पद्धति का निर्माण करती है।''

''यदि श्रद्धा विपथगा हो गई तो...''

''उस पर शोक करने की आवश्यकता नहीं। चट्टानों के बीचवाले सुराख़ में से उग आनेवाला पौधा सूर्य की ओर ही उन्मुख होता है। सूर्य-दर्शन की स्थिति में बने रहने के लिए विपरीत परिस्थितियों से जूझकर वह सूर्याभिमुखी होता है। इसी प्रकार यदि श्रद्धा विपथगामी हो जाए तो स्वभाव से वह पुन: सुपथ पर ही प्रत्यावर्तित होती है। पुत्र, तुम यही सब कुछ न समझना। जिस प्रकार ब्रह्मदेव ने भरद्वाज को वेद उपदिष्ट किए उसी प्रकार मैं तुम्हें ज्ञान का मुट्ठी भर अंश ही दे रहा हूँ।''

''तो भरद्वाज की कथा सुनाइए न ?''

''भरद्वाज तपस्या द्वारा ब्रह्म के पास पहुँचे। ब्रह्म ने पूछा-'तुम्हें क्या चाहिए?' भरद्वाज ने कहा-'मुझे वेद चाहिए'। ब्रह्म उसे प्रज्वलित पर्वत के पास ले गए; उसे दर्शाते हुए कहा ये ही वेद हैं , यों कहकर उस तेजोराशि से उन्होंने मुट्ठी भर अंश दे दिया। इसी तरह मैंने भी तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया है।''

''ठीक है। तो इसको विस्तृत रूप में कब बताएँगे ?''

''सुनो याज्ञवल्क्य, तुम सर्वप्रथम शास्त्रों का अध्ययन करो। तब तुम्हारा मन उड़ान भरते हुए तर्क करने लगेगा कि क्या यह सत्य है या वह सत्य है। तब उसकी स्वेच्छाचार्या पर नियंत्रण रखो। शास्त्र को सही रूप में जानना ही निष्ठा होती है। तब निष्ठा से तुमने जो जाना उसको पुष्ट बनाने हेतु तथा स्वयं एवं दूसरों को उसका सही अर्थबोध कराने हेतु लौकिक युक्तियों का सहारा लो। यों युक्ति एवं

अनुभवों द्वारा शास्त्रों को आत्मसात् कर लोगे तो वहाँ श्रद्धा उपजेगी। अतएव तुम शास्त्रों का अध्ययन करो। वह तुम्हारी समझ में आ जाए, उसके बाद विस्तृत रूप में कहेंगे। जो परमाणु जितना है उसको पर्वताकार सदृश विस्तार देकर बताएँगे।''

''अस्तु, सर्वप्रथम शास्त्राभ्यास, उसके बाद उसका अनुभव, शास्त्र एवं अनुभवों में सामंजस्य के लिए युक्ति–ठीक है न? ''

''हाँ, एक और बात है। ध्यान रहे, देह में मैल भरनेवाले होते हैं दूषित आहार, दुराचार एवं दुर्विचार। अतएव उन्हें त्यागना होगा।''

''अर्थात् ?''

''सर्वप्रथम जो आता है वह प्रेय है। अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण ही प्रेयोमार्ग है। जहाँ प्रेयोमार्ग का अनुसरण होता है वहाँ केवल दूष्य ही दूष्य होता है। अस्तु, आज यहीं समाप्त करें। फिर कभी विस्तार से चर्चा होगी।''

गायों के संग

सूर्योदय के थोड़े समय बाद आलंबिनी ने अग्निहोत्र संपन्न किया तथा दूध दुहने गोशाला में गई। आज पुत्र सदा की भाँति अग्नि–मंदिर में बैठने के विपरीत माता के संग गोशाला में गया। दूध दुहने के बाद गोपालक ने उन गायों को चरागाह ले जाने के लिए खोल दिया। जब गायें जाने लगीं तो याज्ञवल्क्य प्रत्येक गाय का स्पर्श करता रहा। किसी भी गाय ने प्रतिरोध नहीं किया। न जाने उन्हें किस भाँति की सुखानुभूति हुई, वे वहाँ रुकतीं, कुमार का स्पर्श स्वीकारतीं ; फिर आगे बढ़तीं।

कुमार ने माँ के पीछे–पीछे जाते हुए कहा–''माँ मेरी एक इच्छा है।''

माता ने प्यार से पूछा–''क्या है रे?''

''मैं इन गायों के संग जाना चाहता हूँ।''

''हाँ, हाँ, हो आ। पर वे लौटेंगी संध्या समय। तब तक बिना खाए–पिए रह लोगे ?''

''तब तो गोपालक भी बिना खाए–पिए रहेंगे ?''

''नहीं, वह रात का बचा बासी खाना खा लेता है। दुपहर के लिए कुछ ले जाता है।''

''तब मैं अयोधान के शिष्य जैसा करूँगा।''

''अर्थात् क्या करोगे ?''

''उसने गाय के थन में मुँह देकर दूध पी लिया था न ?''

''हाँ हाँ, सावधान, तुम तो वह भी करोगे। किंतु होम-धेनु के साथ ऐसा कभी न कर बैठना।''

''क्यों माँ ?''

''सुनो, होम-धेनु का मतलब है, उसी गाय के दूध को होम के काम में लाते हैं। इससे पूर्व गोवत्स पिएगा। यदि उससे पूर्व तुम ही उसका सारा दूध पी लोगे तो बछड़ा क्या पिएगा ? फिर होम के लिए क्या करें ?''

''तुमने तो वह लाल रंगवाली गाय को ही होम-धेनु बनाई है। मैं उसका दूध नहीं पिऊँगा। श्वेत धेनु गंगा या कालवर्णवाली काली-किसी का दूध पी लूँगा। हाँ, आज एक और घटना घटी।''

''क्या है रे ?''

''गायें आपस में बतियाती हैं। मैंने स्पर्श किया और पूछा-'क्या मैं भी तुम्हारे साथ चरागाह में चलूँ ?' उनमें प्रत्येक ने हामी भारी।''

''क्या , हामी भरी ! तुम्हारा सिर! यदि तुम किसी और के पास जाकर कहोगे कि गायों ने बात की तो सब हँस पड़ेंगे। सचमुच !'' वे आपस में बोलीं!

''क्या मैं असत्य कथन करता हूँ ?''

पुत्र का मुख लाल-लाल हो चुका था, यह सोचकर कि जिसमें यह दृढ़ विश्वास है कि असत्य कथन महापाप है उसके साथ सावधानी से बात करनी चाहिए, माता ने बात को हाथ से निकलने नहीं दिया।

''अच्छा, ऐसा हुआ क्या ? तुम तो कभी असत्य कथन नहीं करोगे। तथापि तुम्हें जाना हो तो उनसे अनुज्ञा लेकर जाना सही होगा। आज वे अध्यापन में व्यस्त हैं । समय नहीं मिलेगा। कल चले जाना। तुमने कहा कि उन धेनुओं ने तुमसे बात की। क्या मैं भी उनको बातें करते सुन पाऊँगी ?''

पुत्र ने कहा, ''यह कोई बड़ी बात नहीं-उसमें क्या है ? कल ही होमधेनु के साथ तुम्हारी बात कराऊँगा। आज पिताजी से बात कर लेना, कल मुझे गायों के संग भेज देना ?'' उसने माता का हाथ पकड़कर विनय किया।

पुत्र को यों गुहार लगाते देख माता ने कहा-''इतनी-सी बात है तो यों दैन्य क्यों करते हो ? हो जाएगा। अब मुझे जाने दो। दही मथना होगा। तुम बैठक में जा बैठो, अध्ययन भी हो जाए।'' यों कहकर वह चल पड़ी।

संध्या को अग्निकार्य संपन्न होने पर पुत्र ने संकेत से माता से पूछा–''पिताजी से अनुज्ञा ले ली ?'' माता ने पुत्र के संकेत पर आश्चर्य करते हुए पति से कहा–''आपका पुत्र कल गायों के संग जाना चाहता है ?''

''क्या कहा ?''

''हाँ, उसी से पूछिए। वही आपसे ब्यौरेवार कहेगा। कहता है अयोधान के शिष्य की भाँति गाय का दूध पी लेगा और संध्या को घर लौटेगा।''

''क्यों पुत्र, क्या विचार है ?''

''पिताजी, वह ऐसा है। आज भी मैं गोशाला में था। एक ध्वनि सुनाई पड़ी–तुम भी हमारे साथ क्यों नहीं चले चलते। देखा तो लगा कि गाय यह प्रश्न पूछ रही है। उसको दृढ़ करने के लिए मैंने गाय का स्पर्श करके पूछा–'मैं तुम्हारे संग चलूँ? तो प्रत्येक गाय कहती गई–चले चलना।' इसीलिए उनके संग हो आना चाहता हूँ।''

आचार्य गंभीर हो गए। उन्होंने सुना था कि अपनी इच्छा से गायें मौन रहकर ही आपस में बतियाती हैं। उनको पूर्व में एक योगी के दर्शन हुए थे। जब संपूर्ण जगत् शांत होकर सो जाता था तब वे इससे वार्ता करने लगते थे। उनका बोलना इन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ता था। उसका उत्तर यह अपने मन में ही दे लेते, जिसको वह सुन पाता। 'हम आज यह व्यापार कर्मेंद्रिय द्वारा किया करते हैं। संभव है कि केवल कर्मेंद्रिय से ही नहीं ज्ञानेंद्रिय द्वारा भी यह व्यापार होता हो। पर इस प्रकार ज्ञानेंद्रिय द्वारा व्यापार जन–साधारण द्वारा संभव नहीं होता हो। स्वप्न में बिना कर्मेंद्रियों की सक्रियता के यह व्यापार संभव होता है। किंतु क्या जागृति में इसकी संभावना है?' इसी प्रकार के प्रश्न एक के बाद एक उनके मन में उठने लगे।

यद्यपि इसका सही उत्तर नहीं मिला, तथापि आचार्य ने पुत्र से पूछा–''तो, प्रातः में क्या खाओगे।'' पुत्र ने बिना कुछ कहे माता की ओर देखा। तब उसने कहा–''तो तुम्हें भी गोपालकों की तरह रात का बासी खाना खाना होगा।''

आचार्य ने कहा–''नहीं,अपने पुत्र को कभी बासी खाना नहीं खिलाना। पाक किए रसोई में प्राण का आवास तभी तक है जब तक उसमें ऊष्म अवशिष्ट रहता है। ऊष्म की समाप्ति पर प्राण भी समाप्त हो जाता है। देह के सारे व्यापार प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्राण द्वारा ही संचालित हैं। अन्न होकर अन्नमय कोशों का, फिर अन्नाद होकर प्राणपंचकों एवं मनोबुद्धियों को संचालित करनेवाले प्राण

के लिए बासी खाना हितकर नहीं होता। अतएव तुम अलग से हवि जैसे अन्न का पाक करो। उसमें नमक, घी एवं दही मिलाकर उसको खिला दो। उसके बाद वह गायों के संग जाए। सुनो पुत्र, जो गाय तुम्हें आने को कह रही है उसी से भूख लगने पर बात करो। वही तुम्हें बताएगी कि तुम्हें क्या करना होगा।''

रात को आचार्य लेटने से पूर्व पुत्र के पास बैठकर रक्षोघ्न मंत्रों का पाठ करते रहे। फिर उन्होंने मनौती की– कल यह गायों के संग जाएगा तो इसको किसी प्रकार का अनिष्ट न हो। सब कुछ शुभ ही हो। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि मैंने पुत्र को जाने की अनुज्ञा क्यों दी ? प्राय: यह भी उसका प्रभाव ही होगा ?

आजकल उनको विचित्र अनुभव हो रहे थे। पुत्र के साथ रहते समय कामेष्टियों का विचार मन में उठता। पुन: प्रश्न मन में लहराते–'क्या इन यज्ञों का कोई विशेष आशय भी है? हाँ, कुछ ऐसा ही है। पशु यज्ञ क्या है? प्रत्येक यज्ञ का कोई अंतरार्थ रहता होगा। यूपादि की स्थापना कर जो यज्ञ किया करते हैं उनकी बात छोड़ दें। जिनको यज्ञाधिकार प्राप्त नहीं, उनके लिए यज्ञफल की प्राप्ति कैसे उपलब्ध हो? कौन–से उपक्रम से कोई यज्ञ ब्रह्म–यज्ञ होगा?'

उन्होंने कई बार इन सब के पीछे निहित कारणों को खोजने का प्रयास किया। ज्ञात रूप में कोई कारण नहीं सूझ रहा था। अंततोगत्वा सोचा–'हाँ, हो सकता है कि उसके प्रभाव से ही यह सब कुछ हो रहा हो। अन्यथा यह ऐसा क्यों होता है ? जब पुत्र साथ में नहीं होता तब बलात् स्मरण करने पर भी इस प्रकार के प्रश्न उठते नहीं।' तो अन्वय एवं व्यतिरेक न्याय द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह सब पुत्र के प्रभाव से ही संभव हो रहा है।

विचित्र अनुभव

अगले दिन प्रात: हुआ, माता ने पुत्र को स्नान कराया। सदा की भाँति वह अग्नि–मंदिर में शांत बैठा था। अग्नि–परिचर्या समाप्त हो चुकी थी। पुत्र को शांत बैठे देख माता ने सोचा–'आज प्राय: यह गायों के संग नहीं जाए।' इसलिए वह गोशाला की ओर चली।

पुत्र ने पूछा–''माँ, आज मुझे जाना जो है, तुमने 'हवि' तैयार की है?''

चलने को उद्यत माँ रुकी– 'अभी तैयार हो जाएगा ।' उसने चावल को भूना; फिर उसे पकने के लिए चूल्हे पर धर दिया। (चावल से भात बनाते हैं, पर चावल को भूनकर बिना कांजी छाने पकाने से हवि बनती है।) गायों को बाहर एकत्रित करते समय तक हवि तैयार हो गई थी। हवि खाकर याज्ञवल्क्य गोपालकों के संग गायों के पीछे चल पड़ा।

आलंबिनी को चिंता हुई, तीन वर्षवाले शिशु को गायों के पीछे भेज दिया न? देखने में पाँच वर्ष की आयु का लगनेवाला जब चल पड़ा, तब वह सोच आड़े नहीं आई। फिर उसने अपने को समझाया– भय क्या है ? साथ में छोटे–बड़े सभी हैं न?'' फिर वह अपने काम में जुट गई।

सभी गायें एक स्थान पर इकट्ठी होने तक रुकी रहीं। फिर धूप के बढ़ने से पूर्व चल पड़ीं। तब तक गोपालक मुँह में पान ,तमाखू चबाते हुए मस्तक पर 'भभूत' धारण कर वहाँ एकत्र हुए। उनमें जो बुज़ुर्ग साथ था वह आगे–आगे चला, उसके पीछे गायें चलीं, उनके पीछे गोपालक थे। गोपालकों के संग याज्ञवल्क्य था।

इतने में अधेड़ आयु के एक व्यक्ति ने बालक को देखकर पूछा– ''अरे, तुम साथ चले हो। इस रास्ते पर कंकड़–पत्थर और काँटे हैं । आओ ना, मेरे कंधे पर बैठ जाओ।'' यों कहते हुए उसे उठा लिया।

दो पग चला होगा। उसे आश्चर्य हुआ। उसकी डील–डौल से वह जान गया था कि उसकी आयु के और बच्चों से यह दुगने वज़न का है, पर अब उसको कंधे पर बिठाने के ब़ाद उसे प्रतीत होने लगा कि तरल–सा कुछ उसकी देह से प्रवहित हो रहा है। कोई बहाना बनाकर नीचे उतारकर देखा तो कुछ नहीं। पुनः उठाया। फिर वही अनुभूति ! उस प्रवाह का टपकना अवांछित नहीं लगता था, उससे सुख ही सुख है। प्रिय है।

लगभग दस पग जाने पर अनजाने ही उसकी आँखें लग गईं; उस उनींदी अवस्था में भी ठीक साँस लेते हुए बिना रास्ता चूके सबके पीछे पग बढ़ाता रहा।

चरागाह बस्ती से दूर नहीं था। कुमार को जिसने उठा लिया था, वहाँ पहुँचने तक कभी न ठिठका, न टक्कर खाया। चरागाह में गायें पहुँच गईं तो यह भी वहाँ पहुँच गया। तभी उसकी नींद खुली। कुमार को नीचे उतारा।

उसके मन में प्रश्न उठा—क्या मैं सचमुच सो गया था? किंतु नींद से उठनेवाले में जो फुर्ती होती है वह उसे अनुभव हो रही थी। देह में किसी प्रकार की थकावट नहीं। रास्ते में क्या कुछ घटा, इसकी प्रतीति है ही नहीं। वह जान न पाया कि उसकी आँखें खुली थीं कि नहीं। ऐसे में कैसे कहा जाए कि नींद आ गई थी ?

तथापि उसने किसी से इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया। सोचा, 'अच्छा, लौटते समय देखूँ।'

अन्य बालक जो थे उन सबने इसे खेलने के लिए बुलाया। किंतु वह गया नहीं। चुपचाप बैठा था। उसे भान हो रहा था कि उसके पीछे कोई है। किसी अंगरक्षक की भाँति उसकी उपस्थिति के बारे में उसे विश्वास हो गया। उसके बारे में जानने की ललक भी नहीं हुई।

गायें चरने के बाद पानी पीकर छाया में लेट गई। कुमार होमधेनु के पास जा बैठा। वह जुगाली करती हुई मौन रूप में ही उससे बातें करती रही। उसने भी उस विद्या के जानकार की भाँति उसके पास बैठकर बातें कीं।

''तो हमारे साथ आ गए ?''

''आपने कहा तो आ गया ?''

''अस्तु, आज कुछ विशेष देखा क्या ?''

''नहीं, ऐसा कुछ नहीं दीखा।''

''तुम्हारे साथ तुम्हारी रक्षा हेतु कोई आए हैं न ?''

''हाँ, कोई एक है, पर नहीं जानता कि वे कौन हैं ?''

''वे ही हैं अग्नि पुरुष ! इस संसार में आग के स्वरूप में जलनेवाले दीप की भाँति प्रज्वलित वे ही हैं। वे ही तुम्हारे पार्श्व में हैं; वे जन-जन से पूजित होकर इच्छित वस्तु प्रदान करते हैं। ''

''यदि कोई पूजा न करे तो।''

''स्वयं निश्चिंत रह जाते हैं। देवताओं को मानव की ओर आकर्षित करनेवाली विधि है पूजा।''

उसे स्मरण हो आया, माता अग्नि-गृह की ओर उन्मुख होकर हाथ जोड़ा करती है। उसने पूछा-''तो क्या हाथ जोड़ने से पूजा होती है ?''

''निस्संदेह, धूप-दीप-नैवेद्य समर्पण द्वारा पूजा होती है, वैसे ही हाथ जोड़ना भी पूजा का अन्य विधान है। अस्तु, क्या तुमने अपने पार्श्व में स्थित अग्नि-देव को देखा ?''

''उसने कहा, तुम मेरी उपस्थिति को जानो, मेरी ओर मत देखो। गाय जो कहती है उसे सुनो। इसीलिए हाथ जोड़कर पूजा संपन्न की।''

''ठीक है सुनो, ये जिस प्रकार भूलोक एवं आकाश में निवास करते हैं वैसे भू एवं आकाश के बीच वाले अंतरिक्ष मंडल में भी निवसित हैं।''

''तो ऊर्ध्व भाग के आकाश के नीचेवाले अंतरिक्ष में निवसित हैं क्या ?''

''हाँ, आकाश में आदित्य बने हैं, अंतरिक्ष में वायु।''

''तो क्या प्रखर किरणों से दग्ध कर रहा सूर्य एवं संचरण निरत वायु दोनों ये ही हैं?''

''हाँ, अग्नि, आदित्य एवं वायु तीनों एक ही हैं।''

''मैं इन तीनों को पृथक-पृथक रूप में जानता हूँ। किंतु इन सबको एक ही कैसे मानूँ ?''

''अरे पगले, पौधे में जड़ एवं पत्ते एक होते हैं। किंतु दोनों एक ही हैं क्या? इसी प्रकार ये तीनों एक भी हैं, पृथक भी। सोचकर देखो, तुम्हें ज्ञात होगा।''

कुमार ने विचार किया–''माता ने यह बात कभी कही थी। कब कही थी ? हाँ ज्ञात हुआ, जब उसने कहा था भद्रंकर्णेभि श्रुणु याम देवा:। तभी देवा: जो कहा, तब मैंने पूछा था। तो उसने कहा–हाँ बेटे, सारे देवता प्राण-मंडल से ही आविर्भूत होते हैं। जब आग जलती होती है तब क्या उससे चिनगारियाँ नहीं निकलतीं ? यह तो उसी प्रकार होता है, यह धेनु वही तो कह रही है। माता ने और भी कुछ कहा था। पूर्णमद: का पाठ करते समय कहा था कि जब हम पूर्णमद: कहते हैं तब वह ब्रह्मपूर्ण होता है क्योंकि सारे देवता उसी में अवस्थित होते हैं। जब ये भिन्न-भिन्न थे तब संसार का सृजन हुआ। तो धेनु से पूछ लूँ–हे धेनु, तुम्हारा कहना कुछ इस प्रकार है न ? पूर्व में सब एकत्र थे, तदनंतर पृथक हुए ? तो यदि कोई चाहे तो वे पुन: एक हो पाएँगे !''

''हाँ, एक होंगे। जिनके कारण या जिनके लिए वे एक होते हैं वे श्रेय के पथ को पार करेंगे। इसके विपरीत किसी की इच्छा के बिना स्वेच्छा से वे एक होंगे तब वह प्रलय बनेगा।''

कुमार ने पुन: विचार किया। माता ने यही कुछ कहा था। श्रेय के पथ पर चलनेवाले पहले तो देवताओं को पृथक-पृथक मानकर आगे बढ़ते हैं। पर अंत में सब को एक साथ पाते हैं। तो वही पूर्ण दर्शन होगा, 'महादर्शन' होगा। उसे प्रतीत हो रहा था कि माता पार्श्व में खड़ी हो यह सब उसे बता रही है। उस ध्वनि से उसको एक विचित्र आनंद की अनुभूति हुई। उसने मुड़कर देखा। माता ! उसके वक्ष में। पिता !!! बात माता की थी, अर्थ पिता का था ! न जाने क्यों वह दक्षिण की ओर घूम गया। पुन: वहाँ माता-पिता दीखे। किंतु अबकी बार उनके चारों ओर

अग्निचक्र था। अग्नि–देव प्रसन्न थे। यद्यपि अग्नि–देव उनकी परिक्रमा में हैं, तथापि उनको जला नहीं रहे– इस बात का ज्ञान उसे हो गया था।

तभी लगा कि कुछ उलट गया। उसको माता का प्रश्न स्मरण हो आया– ''क्या, गाय ने बात की ? यह क्या कहते हो ?'' तो बालक ने पूछा– ''अस्तु, तुमने कान को सुनाई दे–इस तरह बात नहीं की। तथापि मैंने तुम्हारी बातें सुनीं। मैं माँ को इसका विश्वास कैसे कराऊँ ?''

गाय हँसी– ''इतनी आतुरता क्यों ? तुम्हारा जन्म ही संसार को विश्वास कराने के लिए हुआ है। तो क्या माँ को इस पर विश्वास नहीं करा पाओगे ? फिर भी, सुनो, प्रत्येक देह में प्राण अवस्थित है। वही प्राण पृथ्वी से लेकर आकाश तक सर्वत्र व्याप चुका है। वह प्राण प्रत्येक देह में व्यान, प्राण, अपान, समान एवं उदान के पाँच रूपों में विद्यमान है। उसमें बात करने का कार्य उदान का है। मेरी देह में जो उदान अवस्थित है वह इस देहयंत्र में प्रकट होगा, तब तुम्हारे कान केवल कुछ शब्दों को सुनने में समर्थ होंगे। किंतु वही उदान प्रत्यावर्तित होकर प्राण में प्रविष्ट होगा, तब जो भी बातों से अभिव्यक्त होना है वह भावरूप धारण करेगा। तब प्राण उस भाव को तुम्हारे प्राण में देगा। तुम उस भाव को ग्रहण करोगे। तुम्हारा उदान उसमें वृद्धि करेगा। तब उसे तुम्हारा मन बातों के रूप में ग्रहण करेगा। यही तो दूर–श्रवण विद्या है। इसको कोई भी साध सकता है, किंतु कोई ऐसा नहीं करता।''

कुमार ने धेनु से पूछा–''तो क्या माता भी इसको साध सकेगी?''

''क्यों, पूछकर देखो कि उसने अब तक इसको साधा है कि नहीं। कई बार चूल्हे के सामने बैठे ही वह तुमको देखने की इच्छा कर लेती है। तुम कहीं अन्यत्र बैठे होते हो, उसके न पुकारने पर भी उसकी इच्छा से तुम अवगत होते हो तथा माँ के पास दौड़ लगाते हुए पहुँच जाते हो। क्यों ठीक है न ? क्या वह दूर–श्रवण विद्या नहीं है ?''

''तो सभी लोग इस पर विश्वास क्यों नहीं करते ?''

''जो मन काल एवं देश की सीमाओं में बँधा हुआ है वह इस पर विश्वास कैसे करेगा ? उनसे पूछो,क्या तुम स्वप्न नहीं देखा करते ? तब बातें नहीं करते? तब न जिह्वा हिली, न ओठ फड़के, कानों ने नहीं सुना। फिर भी तुमने बात की, बात सुनी, पूछो वह कैसे ?''

तब तक दोपहर ढल चुकी थी, गोपालक घर जाने का समय आसन्न समझकर गायों को हाँकने लगे। कुमार ने उनकी अर्थहीन ध्वनि सुनी। धेनुओं को तो उसका

अर्थ ग्रहण हुआ। वे उठीं। 'हाँ, धेनुओं ने जो कहा वह सही था। प्रत्येक प्राणी जगत्प्राण का शिशु है। वे भाव को प्राण से संगृहीत किया करते हैं।'

थोड़ी देर बाद यह जत्था प्रातःकाल को जैसे निकला था वैसे ही लौट पड़ा। वही बुज़ुर्ग सामने चले, उसके पीछे गायें। उनके पीछे गोपालक और अन्य। आते समय जिसने कंधे पर बिठाया था वही कुमार के पास पहुँचा। और कहा–''आ जा, कंधे पर बैठ जा!'' कुमार को कंधे पर बिठाया। उसे अब पक्का विश्वास हो गया कि प्रातःकाल का अनुभव झूठा नहीं था। उसको प्रतीत हुआ कि कुमार की देह से कुछ प्रवहित होकर उनकी देह को व्याप रहा है। उसका अनुसरण करते सुख–नींद की एक लहर दौड़ पड़ी। जब तक वह जाग पाया, तब तक सारे मवेशी घर के द्वार पर थे।

यह तो विकिरण है!

आलंबिनी होमधेनु को गोशाला के भीतर ले जा रही थी, तब वह आदमी जो कुमार को कंधे पर बिठा लाया था, गोशाला के द्वार पर खड़ा हुआ और कहा–''माताजी, आज एक अजीब बात हुई।''

आलंबिनी का कौतूहल जागा। गोपालक ने कौन–सी विचित्र संघटना देखी होगी? उसने सुनाया कि बग़लवाले जंगल में बाघ है। 'क्या आज कोई बाघ आया था? किसी गाय को पकड़ा तो नहीं?' यों सोचकर वह घबरा गई। किंतु गोपालक के मुख पर उभरी मुस्कुराहट को देख वह शांत हो गई और पूछा– ''क्या है?''

''आज आपने छोटे यजमान को भेजा था। मैंने सोचा, राह में कंकड़–पत्थर हैं, इसलिए बच्चे को कंधे पर उठा लूँ। वही किया। राह चलते क्या हुआ, मालूम है? मुझे लगने लगा कि उनके शरीर से कुछ बह रहा है। वह गरमी तो न थी? मैंने कभी ऐसा कुछ नहीं देखा था तो कैसे कहूँ कि वह क्या था? पर वह तो मेरे बदन में भर गया। मुझे उस वक़्त नींद भी आ रही थी? एक अजीब बात और कि उस नींद में भी एक पग इधर–उधर ग़लत नहीं रखा था। लौटते समय भी यही हुआ।''

आलंबिनी समझ नहीं पाई कि एक देह से दूसरी देह में क्या आएगा? तो देवी ने कुछ ऐंठ के साथ कहा–''अच्छा, मैं उससे बात करूँगी और कल बताऊँगी।'' यों कहकर वे चली गईं।

माता-पिता के संग-संग पुत्र भी संध्या के स्नान में शामिल होता था। वह जान गया था कि बिना स्नान के अग्निमंदिर में जाया नहीं जाता। जब पिता पवित्र वस्त्र धारण कर लेते, तब वे पुत्र के लिए एक पवित्र वस्त्र लाकर धर देते थे। पुत्र उसे धारण कर माता के आने तक अग्नि-मंदिर में बैठा रहता। यह तो उसकी दिनचर्या थी।

माता ने पुत्र को पवित्र वस्त्र ठीक तरह से पहनाया। वह गोपालक की बात नहीं भूली थी। उसके मन में प्रायः वही बात थी। इसलिए जब पुत्र को छुआ, उसके मन में रोमांच-सा हुआ। हाँ, जब भी वह उसको बाँहों में थामती, उसको यही अनुभव होता था। ऐसे में आज विशेष क्या था ? वह विह्वल थी, इसका ताना-बाना उसकी समझ में नहीं आया। इसलिए उसने ठान लिया- ''अस्तु, आज इस बारे में उनसे बात करूँगी ?''

इधर पवित्र वस्त्र धारण किए पुत्र उतावला हो रहा था कि धेनु की कही बातें माँ को कब सुनाऊँ। तथापि पिता के सम्मुख गंभीर हो बैठा था। इधर जप में रत पिता को न जाने क्या हुआ, उन्हें लग रहा था कि पुत्र गोद में आ बैठा है तथा उससे एक प्रकार की शक्ति प्रवहित हो उसकी देह में व्याप रही है, वह कुछ कहना चाहता है तो न जाने क्या कुछ दीखने लगा है। इससे पूर्व कभी ऐसा नहीं हुआ था। उन्होंने आँखें खोलीं तो देखा-पुत्र तो दीवार के पास पद्मासन लगाए बैठा है; ध्यानासक्त है, उसकी आँखें बंद हैं। वे सोचने लगे कि ऐसा क्या हुआ ? चंचल-मना होकर ही जप को पूर्ण किया।

तब तक आलंबिनी आ गई। आज सस्वर मंत्रपाठ कर कर्म समाप्त किया। जो कुछ हुआ उसे पत्नी को सुनाने की ललक थी। किंतु पुत्र की उपस्थिति में कैसे कहें, इसीलिए किसी तरह अपने को संयत कर लिया। इधर पत्नी को गोपालक की बातें एवं अपने अनुभव को पति से कह देने की आतुरता थी। किंतु अवकाश नहीं था। पुत्र को भी गायों के साथ हुई बातचीत माँ से कह सुनाने की ललक थी। किंतु उसको लगा था कि माँ बहुत व्यस्त हैं। अतएव वह भी रुका हुआ था। तो इस प्रकार की ललक,आतुरता की मनःस्थिति में ही पिता-पुत्र दोनों का भोजन समाप्त हुआ। भोजन के तुरंत बाद पुत्र को नींद आ गई। वह वहीं सो गया। माता ने वहाँ पड़े कृष्णाजिन को बिछाकर पुत्र को उस पर लिटा दिया तथा एक चादर ओढ़ा दी।

आलंबिनी गृहकार्य समाप्त कर सोने के लिए चली तो एक हाथ में बच्चे को उठाया था, दूसरे में तांबूलवाली थाली थी। उसे भान हो रहा था कि पुत्र की देह

से मन को सुख–स्पर्श दे रही एक झरनी–सी झर रही है। दूसरे हाथ में धरी तांबूल की थाली तो जड़ चीज़ थी। अत: उससे कुछ प्रवहित हो, इसकी संभावना नहीं थी। तो जो भी हो रहा था वह तो पुत्र की देह से हो रहा विकिरण ही था, इसमें कोई संदेह की गुंजाइश नहीं।

बच्चे को लिटाते समय आलंबिनी ने पति से कहा कि बच्चे का स्पर्श कर देखिए। यह सुन पिता घबराए–आज दिन–भर वह खुली धूप में रह आया है। ज्वर तो चढ़ा नहीं! ''क्यों, क्या हुआ है ?'' यों प्रश्न करते हुए उसका स्पर्श किया। उनकी चित्तवृत्ति को शांति मिली। चेहरे पर कुतूहल का भाव था। ''यह कैसा विस्मय है!''अतएव थोड़े समय तक हाथ हटाया भी नहीं।

पत्नी ने पूछा–''आग के पास बैठे रहने पर लगनेवाले ताप जैसा, दीप से निकलती किरणों जैसा, कुछ निकल रहा है न ?''

''हाँ, किंतु समझ नहीं पाया हूँ कि वह क्या है ? इसीलिए देख रहा हूँ। पुत्र तो शांति से सो रहा है तथा साँस ले रहा है। अतएव यह ज्वर तो नहीं। मेरा भी यही अनुभव रहा है। किंतु यह क्या है, इसके बारे में विचार नहीं किया है। हाँ, बुडिलजी से परामर्श करना होगा।''

आलंबिनी ने पति को गोपालक की कही बातें कह सुनाईं। पुत्र को स्नान कराते समय उसे स्वयं जो अनुभव हुआ था यह सब कह सुनाया। इधर पति ने भी पत्नी को वह सब कुछ सुनाया जो उसे जप करते समय होता था। दोनों एक सिद्धांत पर पहुँचे–आजकल याज्ञवल्क्य में परिवर्तन आया है। शिशु में यों तो चंचलता कभी नहीं थी। अब वह अधिक गंभीर हो गया है। बातें करता है तो वह उसकी आयु के प्रमाण से बहुत ऊँची होती हैं; किंतु जब उसके मुँह से सुनते हैं तब ऐसा नहीं लगता है।

पति ने पत्नी से अपना मंतव्य कह सुनाया–''कल अग्निहोत्र के बाद बुडिलजी के घर जाकर उन्हें इन सभी चर्याओं से अवगत कराना होगा।'' पुन: उसने सो रहे पुत्र का स्पर्श किया। विकिरण में कमी आई थी।

दूसरे दिन अग्निहोत्रानंतर बुडिलजी से भेंटकर आने के लिए प्रस्तुत हुए। तभी आलंबिनी उनके पास पुत्र को ले आई। उसकी भी इच्छा थी कि जाने से पूर्व पुत्र को गोद में बिठाकर देखा जाए कि क्या कुछ होता है।

आलंबिनी ने कहा–''आपका पुत्र अग्नि, वायु, आदित्य के विषय में बातें करता है। और तो और, देह में बसे प्राण और जगत् में व्याप्त प्राण की भी चर्चा करता है। सुनेंगे ?''

देवरात को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा–''क्यों रे, तू मुझसे भी कुछ कहेगा?''

पुत्र ने बिना संकोच के वह सब कुछ कह सुनाया जो उसने धेनु से सुना था। उसने यह भी कहा कि उसने अग्नि–पुरुष को देखा तथा उसके ज्वाला–मंडल में सुखपूर्वक रह रहे माता–पिता को भी। यह सब सुनकर आचार्य को मानो साँप सूँघ गया। किंतु अपनी इस मन:स्थिति को पुत्र के सामने अभिव्यक्त होने नहीं दिया। पुत्र की प्रशंसा करते हुए कहा–''साधु, साधु,तुम हमारे अर्जित पुण्य की देन हो। यदि भविष्य में तुम्हें ऐसा ही अनुभव होगा तो मुझे भी सुनाना। अब मैं बुडिलजी के घर हो आऊँ !'' उनके कथन में अनुज्ञा पाने जैसा अनुनय था। पर जाने से पूर्व पुत्र को गोद में लिया। उसकी देह से विकिरित होते तेजस् को,उसमें निहित सुखद भाव को अनुभूत किया। 'यह कौन–सा प्रभाव है ?' यों विचारते हुए चल पड़े।

विप्र बन गए

आचार्यजी के आने तक बुडिलजी अग्निहोत्र आदि संपन्न कर पवित्र वस्त्र धारण किए दूध–चिउड़ा खा रहे थे। अभी अंतिम कौर मुँह में था कि आचार्यजी का आगमन हुआ। पुत्र को बुलाया तथा आचार्यजी को पाद्य दिया। उनके बैठने के लिए कृष्णाजिन बिछाया; कहा–''मैं आपके घर आता हूँ तो आप मुझे उपविष्ट होने के लिए वेत्रासन देते हैं। मैं कम–से–कम कृष्णाजिन बिछाऊँ, आपको इसी में संतोष करना होगा। अस्तु ! थोड़ा–सा दूध लिया जाए ?''

''नहीं, अभी घर से ही सब कुछ ग्रहण करकेनिकला हूँ।''

''ऐसा नहीं है कि आपको इसकी आवश्यकता है, इसलिए दे रहा हूँ। यह भी नहीं कि आपके पास यह सब कुछ नहीं है । किंतु जब कोई ब्राह्मण किसी के यहाँ आता है तो अपने साथ पंचाग्नि ले आता है। उसके पादों में एक अग्नि होती है, उसके शमनार्थ पाद्य; हस्तों में एक अग्नि होती है, उसके लिए अर्घ्य; मुख में एक अग्नि होती है, जिसके लिए आचमन; पृष्ठ में जो अग्नि होती है, उसके लिए आसन; उदर में अन्य अग्नि जो होती है, उसके लिए किंचित् भोजन,पानीय–इन सबकी व्यवस्था होनी चाहिए। यदि अब मैं आपको भुंजनार्थ कुछ दूँ तो उसका परिणाम होगा आपके घर में बने पकवानों के भुंजन से आपको वंचित करना।

अतएव, किंचित् पानीय चल सकता है। यदि आप दूध का वर्जन करते हैं तो शर्करापूरित दधि क्यों नहीं दिया जाए ? क्या दिया जाए?''

''पूर्वरूप का वर्जन है , उत्तररूप स्वीकार्य होगा।''

'अस्तु', कहकर बुडिलजी ने शर्करा-मिश्रित दही मँगाया। आचार्यजी ने वह ग्रहण किया।

''ठीक है, अब समाहित चित्त हो, प्रसन्न मन से आदेश दें कि आपने किस कार्यवश यहाँ पधारने की कृपा की। हम गृह में रहते हैं तो गार्हस्थ धर्म तो निभाते हैं न ? अतिथि-सत्कार तो वानप्रस्थों के लिए भी अनिवार्य होता है। ऐसे में गृहस्थ इससे मुकर कैसे सकते हैं, क्यों ? कठोपनिषद् को याद कर लीजिए। आकाशवाणी ने झिड़क दिया था न?—वैवस्वत, हरोदकं। अस्तु, आप यह न समझें कि बुड्ढा अगड़म-बगड़म कह रहा है। आपका कैसे आना हुआ ?''

''जब मैं आपके पास आया हूँ तब आपकी समझ में बात आ ही गई होगी? मुझे संकोच है, कहीं आप मेरी हँसी न उड़ाएँ?''

''मैं जानता हूँ, जब आचार्यजी आते हैं तो पुत्र के बारे में कोई समाचार लाते हैं। यह महापुरुष अभी हमारे पल्ले पड़नेवाले कार्य ही कर रहा है। अन्य पक्षियों की अपेक्षा गरुड़ एवं हंस बहुत आगे उड़ा करते हैं। वैसे आपके इस पक्षी ने हंस एवं गरुड़ के पथ को अपनाया नहीं, हमारे लिए यह भाग्य की बात है। अस्तु, कहिए न, क्या समाचार लाए हैं ?''

''कल गायों के साथ चरागाह चला गया था।''

''अच्छा।''

''एक गोपालक ने इसे कंधे पर उठा लिया था ताकि काँटे-कंकड़ उसके पैर में न चुभें।''

''अच्छा।''

''जब इसको उठाए राह चलने लगा तो उसे अनुभूति हुई कि उससे कुछ प्रवहित हो रहा है। परिणाम में गोपालक की आँखें लग गईं।''

बुडिलजी दीवार से सटकर बैठे थे, तो अब कुछ सँभलकर सीधे बैठ गए। यद्यपि वे प्रसन्न थे, तथापि चेहरा यही द्योतित कर रहा था कि वे ध्यानस्थ हैं। पूछा—''क्या कहा? फिर से कहो।''

आचार्य ने दुहराया।

बुडिलजी ने कहा–''तुम्हारा पुत्र उपनयन से पूर्व ही विप्र बन चुका है। जानते हो कि वह विकिरण क्या है ? वही तो प्राणमय कोश की क्रिया है। जिस तरह सूर्य से किरणें निकला करती हैं उसी तरह बिना किसी प्रकार के जड़-चेतन भेद के हर व्यक्ति में हर प्राणी में, यह विकिरण होता रहता है। किंतु कुछ देहों में यह अन्यों द्वारा अनुभूत कर सकने की मात्रा में प्रबल रहता है। सामान्य कोटि की देहों में इतना प्रबल नहीं होता। तो तुम्हारे पुत्र में यह क्रिया अभी से प्रकट हो गई?''

''हाँ।''

''तो इसके बाद भी कुछ संचरित हुआ होगा। क्या-क्या हुआ?''

''ऐसा है कि कुमार ने गाय के संग बातें की हैं। उसे उसके रक्षक अग्नि-पुरुष के दर्शन भी हो चुके हैं। कहता है कि गाय ने उससे कहा कि अग्नि, वायु एवं आदित्य तीनों एक ही रूपा हैं।''

''उसने सुना कैसे ?''

''कहता है कि वह भी गाय ने ही बताया।''

''क्या ? उदान से प्राण, देहगत प्राण से जगत्प्राण, पुनश्च जगत्प्राण से देह में प्राण–इस प्राण द्वारा उदान–ये ही सब कहा होगा न ?''

''तो आप भी यह सब कुछ जानते हैं।''

''हाँ, समझ लो, जानता हूँ; पर उससे क्या ! अंततोगत्वा तुम्हारा पुत्र दर्शनीय बना। चलो उससे मिल आऊँ, किंतु जाने से पूर्व तुम इसके रहस्य को जानना चाहते हो न ? ठीक है, सुनो, विकिरण जैसी, बिना बात किए सुनने की श्रवण-विद्या से सभी अवगत हैं। किंतु उसका ज्ञान स्थूल रूप में होता है, सूक्ष्म रूप में नहीं। कई बार हमें किसी के पास न रहने की स्थिति में अर्थात् एकांत में कुछ बातें सुनाई पड़ती हैं न? बात यह है कि ध्वनि का यह वैखरी रूप है। ध्वनि को वैखरी रूप में परिवर्तित करने के लिए एक प्रकार के यंत्र की आवश्यकता पड़ती है। क्या तुमने कभी सोचा है कि यह यंत्र कौन-सा है ?''

''मैंने एकांत में वाणी तो सुनी है। किंतु कभी विचार नहीं किया है कि वह किसकी होगी।''

''हाँ, चूँकि तुमने सुना है, इसलिए तुम्हें समझा रहा हूँ। यदि तुम उसकी कंठध्वनि के लक्षणों को परखकर देखो तो मालूम होगा कि वह ध्वनि किसकी हो सकती थी। तब क्या कहते ? कहते कि वे निकट आकर बातें कर रहे थे? यह कहते कि सुननेवाले के मन ने ही वह रूप धारण किया था। यह बड़ा ही सूक्ष्म

विचार है। शास्त्रवेत्ताओं को भी वह भ्रमित कर देगा। इसीलिए ज्ञानी इसे दो कोटियों में विभाजित करते हैं। एक तो है– जागृत स्वप्नावस्था। ध्वनि को वैखरी में परिवर्तित करनेवाला यंत्र केवल मानव में ही है । किंतु इस यंत्र को संचालित करनेवाली उदान-वायु केवल वहीं होती है जहाँ प्राण होता है। यही नहीं, बातें करने का कार्य तो उदान-वायु का ही होता है। बैलगाड़ी में सवार व्यक्ति की तुलना में घोड़ागाड़ी में बैठा व्यक्ति अपने गंतव्य-स्थान पर शीघ्र पहुँच जाता है न ? किंतु गाड़ी में सवार व्यक्ति हो या घोड़े पर सवार व्यक्ति वह स्वयं चले बिना ही संचार करता है। यह भी वैसा ही है।''

''इस विद्या के बारे में आज तक आपने बताया ही नहीं। ''

''तुमने पूछा नहीं, मैंने बताया नहीं। तुम जानते हो कि मैंने अपरिग्रह व्रत ग्रहण किया है। क्या तुम जानते हो कि इससे मुझे कितना बड़ा लाभ हुआ है? ये सारी विद्याएँ अपरिग्रही के पास स्वयं पहुँच जाती हैं। क्यों? इसलिए कि मन दर्शन आदि चपलवृत्तियाँ त्याग देता है। घुड़सवार के रास खींचने से चलायमान घोड़ा न चाहते हुए भी जिस प्रकार रुक जाता है, उसी प्रकार मन नियंत्रण में आ जाता है। मन अपनी इच्छा थोप नहीं पाता, परंतु वह आपकी इच्छा के अधीन हो जाता है। तब ये सारी विद्याएँ समझ में आ जाती हैं।''

''तो क्या ? हम जब भी चाहें अपरिग्रहव्रत ग्रहण कर पाएँगे?''

''तुम अपने बारे में पूछ रहे हो क्या ? तुम तो अग्न्योपासक हो। तुम तो सहज ही यह व्रत ग्रहण कर सकोगे। किंतु यह इतना सरल भी नहीं। तुम इसका कारण जानना चाहोगे। आजकल के लोग उपासना को गंभीर रूप से नहीं लेते। उनके लिए यह तो नदी में जाकर डुबकी लगाने सदृश सरल क्रिया हो चुकी है। यह सही नहीं। उपास्यमान देवता तो सर्वत्र व्याप्त है। इस सर्वव्यापी स्थिति को समझते हुए उसमें यह विश्वास जगाना चाहिए कि वह स्वयं उसकी गोद में बैठा है। इस प्रकार के विश्वास का अर्जन ही उपासना है। ऐसा न होने पर अपरिग्रह सधता नहीं। अन्यथा नदी स्नान कर घर पहुँचने से पूर्व ही पसीना–पसीना होकर पुन:स्नान करने की इच्छा जगती है न, ऐसी स्थिति आ जाती है। इसके विपरीत वह नदी में ही रह जाए तो ? वह अपरिग्रह के लिए सन्नद्ध स्थिति की पहचान होगी। ऐसी स्थिति की प्राप्ति के लिए उसे चाहिए कि वह अपने को दैव के प्रति समर्पित कर ले। इस प्रकार सौंपने की क्रिया को दैव स्वीकृति दे, यह भी अनिवार्य है। तब शिष्य का पथप्रदर्शन करनेवाले गुरु जैसा, बैल को जिधर चाहे उधर हाँकनेवाले गाड़ीवान

जैसा, दैव इसको सन्मार्ग पर ले आएगा। उस स्थिति में उपासक अपने किए के बारे में निश्चिंत हो स्वस्थ-मना बनेगा। यह विचार भी नहीं रह जाएगा कि उसने जो किया वह सत्कार्य था कि अकार्य। तब ऐसी कौन-सी बात होगी जिसे वह जान न पाए ? अब अधिक क्या कहूँ मेरे मित्र, आत्मोद्धार का प्रथम सोपान अपरिग्रह है तो दूसरा सोपान है उपासना।''

आचार्य जी मंत्रमुग्ध से बैठे सुनते रहे। 'तो क्या पौरुष नामक कोई उद्यम है नहीं? चूँकि मनुष्य उपासक हो जाता है इस कारण से उसे पौरुष को त्यागना होगा?'–ये ही सारे प्रश्न पूछना चाहते रहे। किंतु उनकी उपमाओं के प्रभाव में आकर वे बुडिलजी के विचारों के विरोध में कुछ भी कह न पाए; एक दीर्घ उसाँस छोड़ बस यही कहा–''ठीक है।''

अब बुडिलजी ने कहा–''चलो, तुम्हारे घर चलें। उससे एक बार मिल लूँ।''

पूर्ण का पथ है शास्त्र

आचार्यजी बुडिलजी के साथ अपने घर चले। रास्ता चलते समय बातें भी हो रही थीं, ''आचार्य, अपरिग्रह का तात्पर्य क्या है? जानते हो? सभी नियम-संयमों का उल्लंघन कर रहे इंद्रिय-रूपी मस्त हाथी पर अंकुश होता है अपरिग्रह''–बुडिलजी अभी अपरिग्रही भाव-धारा से मुक्त नहीं हुए।

आचार्यजी ने सविनय पूछा–''क्या मैं कुछ कह सकता हूँ ?''

बुडिलजी ने कहा–''हाँ, हाँ, जो भी जानना हो उसके बारे में पूछकर जान लेना चाहिए। अन्यथा आज जो शलाका रूप में है, वह कभी-कभार हृदय के लिए शूल बन जाएगा।''

''अच्छा, जिनके मन में इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने का विश्वास होता है उनके लिए आपकी बात सही ठहरती है। किंतु इसके विपरीत इंद्रिय लोलुपता को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानकर उसी में रत लोगों के लिए अपरिग्रह से क्या लाभ है?''

बुडिलजी हँस पड़े–''मान लो अंधकार के कारण गधे को ले जाकर भेड़ों के संग छोड़ दिया जाए तो क्या इससे गधा भेड़ बनेगा ?''

''नहीं तो।''

''नहीं न? यह भी कुछ ऐसा ही है। यही नहीं; मानव सदा से इंद्रिय-जय की आकांक्षा रखता है। इसके विपरीत किसी की सोच है तो वह एक पशु है, जो भूल से मानव बन गया है। प्रकृति ने पशुओं को इंद्रियलोलुप बनने से रोकने के लिए कुछ अड़चनें बनाई हैं। इसी भाँति मानव यदि भटककर इंद्रियलोलुप बन जाता है तो प्रकृति ही किसी न किसी रूप में उसके लिए अड़चनें खड़ी कर देती है।''

''ऐसा करने में प्रकृति को इतनी आस्था क्यों ?''

''देखो आचार्य, स्वभाव न तो श्रद्धा होता है न अश्रद्धा। प्रत्येक इंद्रिय-व्यापार के लिए कुछ मूल्य तो चुकाना पड़ता है। हम दूकान पर जाते हैं, कुछ ख़रीदते हैं। यदि हमारे पास पर्याप्त धन नहीं है तो उधार ले आते हैं। हैं न? इसी प्रकार जन्म के साथ ही हमारे संग कुछ शक्ति-संचय अवस्थित रहता है। वह सत्कार्य करने से बढ़ता है। दूषित कार्य करने से घटता है। इस जन्म में हमारे द्वारा जो कार्य संपन्न होते हैं उसके लिए हमारे साथ आई शक्ति की पूँजी पर्याप्त नहीं होती तो प्रकृति भी उसमें कुछ भरपाई करती है। यदि वह भी पर्याप्त न हो तो इंद्रियों की दुर्बलता आदि जन्म लेती है। वह इसी जन्म में संभव हो सकता है या जन्मांतर में।''

''जो जन्मांतर को नहीं मानते उनका क्या होगा?''

''सभी वैचारिक जन्मांतर को मानते हैं। तथापि समझो कि कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इसे नहीं मानते? इससे हानि क्या है? जिसने समुद्र को नहीं देखा है, उससे यदि हम कहें कि समुद्र की गहराई दो नारियल के पेड़ जितना है तो वह कैसे विश्वास करेगा ! यदि उसने शंका व्यक्त की भी तो क्या समुद्र की गहराई में लोप होगा। अच्छा छोड़ो, घर आ गया। व्यर्थ की चर्चा यहीं छोड़ दें।''

आचार्यजी का घर आ गया। आचार्य ने शीघ्रता से घर के भीतर जाकर हाथ-पाँव धो लिए। तब तक आलंबिनी ने बुडिलजी के लिए पाद्य दिया तथा अर्घ्य-आचमन प्रस्तुत किया। आचार्यजी बुडिल जी को भीतर ले गए, कृष्णाजिन बिछाए हुए वेत्रासन पर बिठाया। अल्पाहार की उपचर्या भी हुई।

बुडिल जी ने पूछा-''कहाँ है हमारा याज्ञवल्क्य ?''

''हाथ-पैर धोकर आएगा।''

इतने में याज्ञवल्क्य ने आकर बुडिलजी को दंडवत् नमस्कार किया। बुडिलजी ने आशीर्वाद दिया-''जुग-जुग जिओ।'' और अपनी ओर खींच लिया। उसका

मुख उदित आदित्य जैसा खिला था–लाल–लाल। बुडिलजी उसको उठाकर अपनी गोद में बिठाया और यथोचित सत्कार कर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा–

''आचार्य, तुम्हारा पुत्र इस आयु में ही विप्र बन चुका है। हमारे सम्राट् की इच्छा फलित हुई। ईश्वर की कृपा से यह तो सर्वज्ञ बनेगा। पास–पड़ोस के राज्यों में इसको चुनौती देने की बात तो दूर; इसके बराबर का विद्वान् भी कोई नहीं रहेगा।''

याज्ञवल्क्य ने अनजान बनकर कहा–''दादाजी, मैं आपसे मिलना चाहता था।''

बुडिलजी आश्चर्य प्रकट करते हुए हँसे और पूछा–''कारण?''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''मैं आपसे दो बातों के बारे में जानकारी पाना चाहता हूँ। पिताजी से पूछ न पाया। यदि आप 'हाँ' कहें तो पूछूँ, नहीं तो उन्हीं से पूछूँगा।''

''तुमको क्या लगता है ?''

''पिताजी ने इसके बारे में अर्धांश ही बताया है। सोचता हूँ कि शेषांश भी उन्हीं से सुनूँ। यदि आप भी यही चाहेंगे तो वैसा ही होगा। मुझे इसका ज्ञान चाहिए। यहाँ से या वहाँ से, कहीं से भी ।''

बुडिलजी ने भीतर–भीतर हँसते हुए आचार्य जी की ओर देखा। आचार्यजी ने कहा–''मैंने तो उसे यह सब नहीं सिखाया। यह तो उसके स्वयं के प्रश्न हैं।''

बुडिलजी ने याज्ञवल्क्य की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा– ''ठीक है वत्स, पूछ लेना, बढ़ रहे इस वृक्ष को हम भी कलसा–भर जल सींच दें।''

याज्ञवल्क्य ने पूछा–''कल हमारी होम धेनु ने कहा–'प्राण देह में भी होता है, संसार में सर्वत्र भी है।' मेरा प्रथम प्रश्न है कि उसका साक्षात्कार कर उसे कैसे जाना जा सकता है ? दूसरा प्रश्न है कि शास्त्र के माने क्या हैं ? उसका ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होगा ? शास्त्र–ज्ञान का परिचायक क्या होता है ?''

बुडिलजी गंभीर बने, ''सुनो याज्ञवल्क्य, प्राण के विचार में इतना जान लो। वह जब देह में अवस्थित होता है तब अग्नि है । इसीलिए हम अग्निपूजा करते हैं। जब वह कार्यशील बनता है तब वायु बन जाता है। देह में हो तो उसे प्राण कहते हैं, बाहर हो तो मातरिश्वा वायु कहते हैं। वही आकाश में सर्व–प्राणाधारी आदित्य बनता है। जब तक तुम स्वतंत्र रूप से अग्नि–होत्र नहीं कर पाओगे तब तक इसी प्रकार से ध्यान करते रहो। अब शास्त्र की बात कहूँ?''

''हाँ, कहिए न ?''

''सुनो याज्ञवल्क्य, हम जब व्यापार करते हैं तब दो तरह से करते हैं– बहिर्मुख एवं अंतर्मुख। बहिर्मुख से आशय है कि हमसे भी विस्तृत जो संसार है, उसके साथ इंद्रिय, मन एवं बुद्धि द्वारा व्यापार करना। वही जागृति है। यदि वह चूक गया तब क्या होगा ? स्वप्न-सा बन जाएगा। जागृत रहने पर भी आँखों को कुछ कुछ दिखाई देता है। कान भी कुछ कुछ सुना करते हैं। इस प्रकार के देखने एवं सुनने में एक नियम होता है। उस नियम के अनुसार आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं। तब क्या होगा?तब वह अंतर्मुखी होगा। साधारणतया हम सब बहिर्मुखी होते हैं। जानते हो क्यों?''

''यमधर्म ने नचिकेता को उस संबंध में कहा था न ?''

''हाँ, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, केवल वहीं पर यह प्रश्न उठा है। कहा जाता है कि ब्रह्म ने इंद्रियों को बहिर्मुखी ही रखा। इसीलिए हम सब बहिर्मुखी रह गए हैं। किंतु इनमें से कोई धीर इंद्रियों के वश में पड़े बिना, उनको वश में कर लेनेवाला अंतर्मुखी हो जाता है। तो इस प्रकार जब अंतर्मुखी हो जाता है, जानते हो तब क्या होता है?''

इंद्रियों के वश में पड़े बिना, उनको वश में कर लेनेवाला–इस उक्ति पर याज्ञवल्क्य ने गंभीर होकर विचार किया।

बालक को इस प्रकार के गंभीर विचार में मग्न पाकर बुडिलजी ने ध्यान धारण किया। आलंबिनी एवं आचार्यजी वहीं खड़े रहे। वे मानो अपने अस्तित्व को विस्मृत कर घर के खंभे या अन्य उपस्कर ज्यों अवाक् हो खड़े रह गए।

बुडिलजी ने अपनी वार्ता पुन: प्रारंभ की– ''हाँ, जो इंद्रियों को वश में कर लेता है वह अंतर्मुखी हो जाता है। बहिर्मुख व्यापार में नेत्र प्रधान होते हैं, नेत्रों से जो देखा जाता है वही सही है। किंतु अंतर्मुख व्यापार में कानों से जो सुना गया वह प्रधान होता है। यहाँ कान जो कुछ सुनते हैं उसे आँखें देखती हैं। ऐसी स्थिति में वह अंतर्मुखी आवृत-चक्षु बन जाता है। कानों की प्रधानता हो जाने पर शास्त्र-प्रधान बन जाते हैं। आज तक शास्त्रों का अस्तित्व न के बराबर था। अब क्या होगा ? जो अबतक देखी हुई वस्तुओं के बारे में ही बात करता रहा, वह आज शास्त्रों का ज्ञाता बन तत्त्वज्ञ बन जाएगा। अर्थात् अब तक उसने जो देखा था, उसके रहस्य का ज्ञाता बनकर उसके बारे में बात करेगा।''

''तब तक क्या होगा?''

''मैंने पहले ही कह दिया था न–देखने–भर से जो अनुभूति होती है वही कुछ बताएगी। किंतु मन उसे जैसे ग्रहण करता है, उसे बुद्धि द्वारा परखने पर भी वह अतत्त्व ही बना रहेगा। तत्त्व कैसे बनेगा? तो जब तक वह तत्त्ववेत्ता नहीं बन पाएगा, तब तक आत्मज्ञ कैसे बनेगा? अतएव वह तत्त्ववेत्ता बनना चाहेगा तो जो उसने देखा, उसका 'आत्मतत्त्व' या उसका अपनापन जानने के लिए शास्त्र के आश्रय में जाएगा। किंतु जब तक वह अंतर्मुखी हो नहीं जाता, तब तक शास्त्र के आश्रय में नहीं जा पाएगा। जब तक आवृत–चक्षु नहीं बन जाता, तब तक अंतर्मुखी नहीं हो पाएगा। अतएव हमारे लिए यही आदेश है कि हमें सर्वप्रथम इंद्रियों पर नियंत्रण कर लेना चाहिए। इसके बाद ही मन, तदनंतर बुद्धि एक–एक करके नियंत्रण में आएँगे। अतएव तत्त्व को ज्ञात करानेवाला ही शास्त्र होता है। जिसने इंद्रिय, मन एवं बुद्धि पर अंकुश कर लिया है वही उसे समझ पाएगा; समझे?''

याज्ञवल्क्य अनन्य तन्मयता से सुन रहा था। ''तो पिताजी के कथनानुसार श्रेय को प्राप्त करने के इच्छुक को शास्त्र की आवश्यकता है। किंतु अंतिम लक्ष्य है पूर्ण ही। तो पूर्ण की ओर ले जानेवाला पथ ही शास्त्र है?''

बुडिलजी बहुत प्रसन्न हुए–''साधु, बड़ी ही अच्छी व्याख्या है। आचार्य सुना न, उसने किस सरलता से व्याख्या कर दी; स्वेच्छा से प्रेय पथ को त्याग कर श्रेय की ओर उन्मुख होनेवाले के लिए शास्त्र ही शरण्य है। उसका अंतिम लक्ष्य पूर्ण है। पूर्ण का पथ तो शास्त्र है। साधु, साधु। बहुत ही सुंदर व्याख्या है।''

प्रतीत हो रहा था कि बुडिलजी पलभर उसी व्याख्या पर विचारमग्न रहे। अब उन्होंने आँखें खोलीं, कहा–''आचार्य, तुम्हारे पुत्र का जन्म सर्वज्ञ बनने के लिए हुआ है। गर्भाष्टम यानी आठ वर्ष की आयु तक प्रतीक्षा न करना, गर्भ पंचम में ही अर्थात् पांच वर्ष की आयु में ही इसका उपनयन–संस्कार संपन्न कर देना।''

उपनयन का आनंदोत्सव

चैत्र शुद्ध पंचमी बृहस्पतिवार के दिन याज्ञवल्क्य का उपनयन निर्णीत था। केवल पंचांग से वय का निर्धारण करनेवाले मानो उपहास के लहजे में कहते रहे–''अरे, अभी पाँच वर्ष की आयु भी पूर्ण न हो पाई है। क्या यह शिशु मंत्रोच्चार कर

पाएगा?'' किंतु जिन्होंने स्वयं उसको देखा था वे तो कहने लगे- ''वह तो आठ वर्ष का लगता है। उसके वदन से बातें इतनी स्पष्ट निकलती हैं, बस दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। जो श्लोकों का इतना स्पष्ट उच्चारण कर सकता है उसके लिए मंत्रोच्चार करना कौन-सी बड़ी बात होगी!''

जायंती एवं उसके पति को जब उपनयन का निमंत्रण मिला तब वे आश्चर्य में पड़ गए। महिदास ने व्यस्तता के कारण इन दो वर्षों में पोते को नहीं देखा था। पुत्री ने अब समाचार भेजा था तो जायंती ने पति से कहा-''सुनते हैं कि परसाल ही जब गाय के साथ वार्तालाप की घटना घटी थी तब बुडिलजी ने कहा था कि गर्भ पंचम में ही उपनयन हो जाए। आपके जामाता के लिए बुडिलजी का कथन तो वेदोक्त आदेश सदृश है।''

महिदास ने कहा-''बुडिलजी सदृश व्यक्ति सहस्रों में एक होते हैं। उनका इस प्रकार परामर्श देना कौन-सी बड़ी बात है?'' यों अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए उन्होंने पूछा-''तो कब चलना होगा?''

जायंती ने हँसते हुए कहा-''मुझसे पूछते हैं तो मैं क्या कहूँ ? आप जब भी गाड़ी ला खड़ा करेंगे तभी चल देंगे।'' महिदास ने विचार कर कहा-''प्रतिपदा के दिन स्थालीपाक के उपरांत चलें।''

जायंती ने वृद्धा-सहज कृत्रिम-कोप प्रकट करते हुए कहा-''वाह,कहीं ऐसे भी जाया जाता है? इसके बदले में कहला दीजिएगा कि हमें नहीं आना है।''

महिदास इस भाँति की भर्त्सना सुनने के लिए तत्पर नहीं थे।

''क्या कहना चाहती हो ?''

''और नहीं तो क्या ? आप एकदम अज्ञ जैसे बातें करते हैं। आप जानते हैं कि मुझे वहाँ पहुँचकर कितनी सारी व्यवस्था करनी होगी? पापड़ तैयार करने होंगे, संड़िगे (एक प्रकार के बड़े) सुखाने होंगे। बहुत सारी नमकीन वस्तुएँ तलनी होंगी। भाँति-भाँति के लड्डू बनाने होंगे। पहाड़ जितने काम पड़े होते हैं। ऐसे में मेरा जाना प्रतिपदा तक टाला नहीं जा सकता। लोग-बाग क्या कहेंगे?''

''हाँ, सही है। तुम्हें तो बेटी की चिंता है। तुम वहाँ नहीं जाओगी तो आलंबिनी ये सब तैयारियाँ कर नहीं पाएगी। तो ऐसा करो, कल दशमी सोमवार है। भोजनोपरांत तुम चल पड़ो। मैं द्वितीया तक वहाँ पहुँच जाऊँगा।''

''जैसा आप कहें। किंतु यदि आप भी कल मेरे साथ चलेंगे तो अच्छा होगा। मुझे वहाँ छोड़कर लौट आइए। जामाता के साथ बातचीत हो जाए। फिर आप द्वितीया को ही आना।''

''देखो न, मुझे इसीलिए बुद्धू कहते हैं; क्यों, मुझे सूझना नहीं चाहिए। गाड़ी में चलते हम दोनों का एकांत होगा तो कुछ आमोद–प्रमोद हो जाएगा न?''

जायंती ने छेड़ते हुए कहा–''अधेड़पन में पाँव धरे हैं। आपकी आदत नहीं छूटी।''

महिदास भी छेड़ते हुए बोले–''कुछ फल तो अधपके ही स्वादिष्ट लगते हैं; अन्य कुछ चकोत ज्यों होते हैं जो बहुत समय तक पौधे में रहकर परिपक्व होकर ही आनंद देते हैं। क्या करें, हमारे भाग्य में चकोत ही आया है।'' उनके कहने का ढंग द्योतित कर रहा था कि वे पत्नी के देह–विन्यास की तुलना चकोत से कर रहे हैं। दोनों को यह नोकझोंक अप्रिय तो नहीं लगी।

जायंती पति के साथ दशमी के दिन पुत्री के घर आई। पुत्री को माता के आने पर पंख लग गए। उसकी प्रसन्नता सीमा पार कर गई। उसने स्वयं माता–पिता का पादाभिवंदन किया। पुनः पुत्र एवं पति से करवाया। माता को स्नानघर में ले जाकर कहा– ''तुम आ गई तो अब सब कुछ बिना विघ्न के हो जाएगा। हाथ–पैर धोकर भीतर आ जाओ तो पूरी कहानी सुनाऊँ?''

इतने में याज्ञवल्क्य ने माँ के पास पहुँचकर कहा–''माँ, पिताजी तुम्हें बुला रहे हैं।'' आलंबिनी पति से मिलने के लिए पुत्र को साथ लिए गई।

पति ने पिता की ओर संकेत करते हुए कहा–''ये देखो, ससुर जी आए हैं, न जाने कब निकले होंगे। कुछ व्यवस्था करो।'' आलंबिनी ने कहा–''आओ बापू सब तैयार है।'' तब तक पुत्र ने पानी का कलसा थमा दिया।

महिदास ने पूछा– ''क्यों बेटे, हम ही पाद–प्रक्षालन कर लें, या तुम कराओगे।''

याज्ञवल्क्य ने पिता की ओर देखते हुए कहा–''इनका आदेश हो तो मैं धुलाऊँ।'' देवरात ने कहा–''तथास्तु ।'' महिदास पैरों को सटाकर खड़े हो गए। याज्ञवल्क्य ने भक्ति सहित नानाजी के पाँव धोए। वह जल माता–पिता पर छिड़क कर स्वयं भी अपने सिर पर छिड़क लिया।

महिदास पोते की भक्ति को देख बड़ा प्रसन्न हुए। हृदय से उसकी प्रशंसा करते हुए कहा–''तुम्हारा पुत्र बड़ा अच्छा पला हुआ है। इसको इतना भक्ति–संपन्न देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। यह तो हम सब का अहोभाग्य है।''

महिदास ने पवित्र–वस्त्र धारण किए। जामाता ने श्वसुर की बड़ी सेवा की तथा जलपान करवाया। वे लौटने को हुए। बहुत अनुनय करने पर भी उन्होंने यह

कहते हुए विदा लिया कि द्वितीया के दिन तो आ ही रहा हूँ। आलंबिनी, देवरात एवं याज्ञवल्क्य ने उन्हें पुन: पादाभिवंदन किया तथा निवेदन किया कि उपनयन संस्कार में अपने समस्त बंधुओं को बुला लाएँ।

पिता को विदा करने के बाद आलंबिनी माता के पास आई। ''माँ, तुम्हारे आने से अब उपनयन अविघ्न संपन्न होगा। अब तुम्हें कुछ बातें बताना चाहती हूँ। सबसे पहले राजघर की बात कहूँ। यह देखो, यह सारा सोपस्कर राजभवन से आया है। चार बोरे बढ़िया-सा चावल, दो बोरे गेहूँ, दो बोरे शक्कर, एक बोरा भर गुड़ की डलियाँ, चार कलश भर घी तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ। वहाँ धरा है न आठ कलश भर तेल। ये सब क्यों, जानती हो! चौल के समय बालकों की अलग पंक्ति बैठती है न, उसके लिए भी है तथा ब्रह्मभोज के लिए भी–पंचान्न, पंचखाद्य आदि के पाक के लिए है। घी तो दोनों में भर-भरकर परोसना होगा,छोटी दर्वी में नहीं। राजाज्ञा है कि भोज का भव्य आयोजन हो, वैश्वानर संतुष्ट हो; सभी लोग हमको शुभाशीर्वाद दें; इसके पिता तो तीन दिनों से हठ पकड़े हुए हैं कि हम यह सब नहीं लेंगे। पर भार्गवजी ने उनसे कहा है– 'राजधानी में रहते हुए राजाज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं। सुनते हैं कि बुडिलजी ने कहा है कि आपका पुत्र सर्वज्ञ बनेगा। जानते हो कि राजभवन में बुडिलजी के कथन का कितना आदर होता है। जब राजभवन वाले स्वेच्छा से सर्वज्ञ के लिए भेंट के रूप में दे रहे हैं तो आप क्यों उसमें बाधा डालते हैं?' तो लंबे वाद-विवाद के उपरांत वे मान गए हैं।''

''अच्छा, इतना सब कुछ हुआ?''

''हाँ, अब कंभोली* के दूसरे दिन यहाँ की पूरी बस्ती के लिए भोज का आयोजन होना है।''

''ठीक है।''

''हाँ, यह सब कुछ वैदिक कर्मों से संबंधित व्यवस्था की बात रही। इसकी देख-रेख बुडिलजी करेंगे और वे सँभाल लेंगे। पर हाँ, इस अवसर पर हम गृहणियों के कुछ दायित्व होते हैं, कुछ आचारों का निर्वाह करना होता है। मेरे लिए उपनयन को आचरित करने का एक मात्र अवसर मिला है । दुबारा कहाँ! इसलिए जो भी करना है अभी कर संतोष कर लेना है। हाँ,मेरा मन करता है कि इसको इतना महान् उत्सव बना दूँ कि पास-पड़ोस के गृहस्थ एवं गृहणियाँ भविष्य के दस वर्षों

* 'उपनयन ' के अंतर्गत एक धार्मिक आचरण।

तक इसका स्मरण कर प्रशंसा किया करें। हाँ, इसीलिए माँ मैंने ठान लिया है –सुहागिनियों में बँटने के लिए जो 'चक्कुली' तलेगी, वह इतने बड़े आकार का हो कि वह बड़ी से बड़ी थाली में भी न समाए। लड्डू तो इतने बड़े–बड़े बनेंगे कि वे किसी के सिर के माप जितना हों। क्यों माँ, सुन रही हो न?''

आलंबिनी अपनी माँ के सामने मानो गोद की शिशु बन गई थी। अपने मन में उठ रही कामनाओं को, अपने विचारों को मानो उड़ेले जा रही थी। माँ ने धीरे–धीरे पास सरक रही पुत्री को देखकर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा– ''हाँ, तुम जितनी बड़ी चक्कुलि बनाना चाहो उतनी बड़ी बन जाएगी। पर उसे तलने के लिए बहुत बड़ी कड़ाही चाहिए न! लड्डू बड़ा बना सकते हैं किंतु जो हाथों में समा सके, उतना ही बड़ा हो सकता है । यदि उससे भी बड़े आकार का बनाने को कहो तो वह मेरे बस की बात नहीं। अभी तुमने पापड़ तथा 'संडिगे' की बात तो नहीं की न?''

''हाँ, हाँ,पापड़ भी बड़े ही बनें, संडिगे भी बड़े–बड़े गोल–गोल बनें। तुम कड़ाही और थालियों की चिंता न करना। मैंने इस अवसर के लिए बहुत बड़े–बड़े बनवा लिए हैं। अब चक्कुलि के लिए बोरे भर आटा तैयार है । दो बोरे घर की फुरपुरी तथा दो बोरे चिउड़े के मुरमुरे, उसके लिए आवश्यक सामग्री, बोरा भर उड़द का आटा, मंगरुबेल, चमेली बेल, सब मँगा लिया है। तुम एक बार सब कुछ देख लेना। अगर इसमें कुछ कमी रह गई है तो बता देना, भरपाई करा देंगे।''

अब माँ पुत्री द्वारा संगृहीत वस्तुओं के पुनरीक्षणार्थ भंडार–गृह की ओर चल पड़ी।

उपनयन

चैत्र शुद्ध चतुर्थी को देवरात के घर में उपनयन पूर्व देवता–भोज का आयोजन था। राजधानी में सब के यहाँ निमंत्रण भेजा जा चुका था। इधर भागर्वजी सभी पर दबाव डाल रहे थे–''ब्राह्मण भोजन संपन्न होने पर ही महाराजा को इसकी सूचना देनी होगी। तब तक वे राजभवन में बिना भोजन किए प्रतीक्षारत रहेंगे।''

ठीक समय पर ब्राह्मण भोजन करने बैठे। स्वयं आचार्यजी एवं भार्गवजी राजभवन जाकर यह समाचार दे आए।

उसी दिन संध्या को वैशंपायन, उद्दालक, बुडिलजी, भार्गवजी एवं देवरात एक स्थान पर एकत्र हुए। महिदास को भी वहीं बुला लिया। छह के छह साथ बैठ गए। अगले दिन के करणीय कार्यों के बारे में विचार किया।

देवरात ने हँसते हुए कहा– ''अब चूँकि बुडिलजी ने पुरोहिताई का भार सँभाल लिया है, आचार्यजी का दायित्व हलका हो गया है। आप जो आदेश दें, उसका पालन कर दें तो हमारा दायित्व निभ जाएगा।''

बुडिलजी उत्तर में हँसे; पुनः गंभीर होकर बोले– ''क्यों भई, तुम भी सारा दायित्व पुरोहित के हाथ सौंपकर कलियुगी ब्राह्मण बनोगे ? यह तो नहीं होगा। यहाँ तुम यजमान हो, मैं तुम्हारा ऋत्विज हूँ। अतएव कल जो भी करणीय होगा, उसके संबंध में आज ही निर्णय कर लो। यह तर्क–पाद (तर्क में श्रेष्ठता) नहीं, क्रिया-पाद (आचारण में परिपक्वता) है। क्यों, क्या कहते हो?''

वैशंपायन ने कहा– ''ठीक है आचार्यजी, बुडिलजी ने जो आदेश दिया वह सही है। हाँ, केवल रस्म निभाने के लिए उपनयन का कार्यक्रम रचकर, कुछ मंत्र-पाठ कर, कर्म को निभा देना एक चीज़ है। किंतु माता–पिता द्वारा प्रदत्त जन्म को परिशुद्ध बनाते हुए दूसरा जन्म मंत्रों द्वारा प्रदान कर माता–पिता दोनों के वंशों को तारते हुए वटु को भी तारना सच्ची विधि है। आप स्वयं अध्वर्यु के रूप में देवता साक्षात्कार कर होम द्वारा दीक्षित व्यक्ति का उद्धार करते हैं; पर पिता के लिए पुत्र का उपनयन संस्कार उससे भी बढ़कर महत्त्व का होता है।''

उद्दालक ने कहा– ''यों तो यह वटु के द्विजन्मा बनने का अवसर है, आप ज्ञानी हैं, आस्तिक हैं और श्रद्धालु भी। अतएव करणीय आचरणों के बारे में अभी से जानकारी रखें तो हानि ही क्या है!''

देवरात ने भार्गवजी के चेहरे की ओर देखा। उसने महिदास की ओर संकेत किया। उसने सिर उठाकर, अपनी ओर देख रहे आचार्य की ओर देखकर कहा– ''अवश्य, बुज़ुर्गों ने जो आदेश दिया वह सटीक है।'' आचार्य समाहित हो बैठे।

तबतक महिदास का पुत्र शांडिल्य आ पहुँचा। महिदास ने पुत्र को बुलाया और बुडिलजी की कही बातों का उल्लेख करते हुए कहा–''तुम बैठ जाओ, इन बुज़ुर्गों द्वारा कही जानेवाली बातें सुनो, न जाने ऐसा अवसर पुनः कब प्राप्त हो !''

बुडिलजी ने बात आरंभ की–''उपनयन संस्कार तो अग्नि, आदित्य एवं वायु के तेजस् को संगृहीत करने का कर्म है। सब की देह में अग्नि, वायु एवं आदित्य अवस्थित होते हैं। किंतु बहुत कम लोग जानते हैं कि ये सब मुख, नासिका एवं चक्षु में रहकर व्यापार किया करते हैं। ये ही भौतिक संसार में पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं आकाश में निवास करते हैं। इन तीनों देवताओं के अनुग्रह को पुत्र के लिए पिता द्वारा उपलब्ध करा देने का संस्कार ही उपनयन होता है। उपनयनानंतर वटु स्वतंत्र हो जाता है। वह अग्नि, आदित्य एवं वायु की आराधना स्वतंत्र रूप से करने में समर्थ हो जाता है। कल सर्वप्रथम अग्नि की आराधना होगी; दूसरे, प्राण को बार-बार आ घेरनेवाले अशौच को धोने के लिए आचमन क्रिया की शिक्षा दी जाएगी। आदित्य को दर्शाकर उसके सावित्र किरणों का संग्रह कर हृदय में स्थापित कर लेना तीसरी क्रिया होगी। इन तीनों देवताओं को पृथक्-पृथक् रूप में जानकर कर्म कर कृतकृत्य हो जाएगा तो कर्मकांड में यशस्वी हो जाएगा। यदि इन तीनों को एक ही रूप में देख पाए तो वह ज्ञानकांड होगा। यों कल जो कर्म संपन्न होगा उससे कर्मकांड एवं ज्ञानकांड दोनों के लिए बीजारोपण होगा।''

शांडिल्य उठा तथा उसने बुडिलजी को प्रणाम किया; तदनंतर निवेदन किया– ''इन सारे विचारों से हमें अवगति तो है। अग्नि, आदित्य एवं वायु– इन देवताओं का अनुसंधान हम सदा से करते आए हैं। किंतु उनको पृथक करके देखना तथा एकत्र समझकर देखना– यह बात अभी हमारी समझ में नहीं आई है। अतएव निवेदन है कि इसको कुछ विस्तार देकर हमें समझा दें।'' बुडिलजी ने हामी भरी। विस्तार देकर कहने लगे–''जो इस उपनयन संस्कार को ग्रहण करेगा वह तो द्विज बन जाएगा। गुरु, व्रत एवं देवता सामीप्य पाएगा। केवल यही ऐसा कर्म है जिसमें गुरु एवं शिष्य दोनों कर्म के अधिकारी होते हैं। आचार्य बननेवाले को चाहिए कि वह बारह सहस्र गायत्री-पाठ किया हुआ हो। तभी उसे शिष्य को उपदेश देने का अधिकार प्राप्त होगा। इसीलिए हमारे आचार्यजी परसों से आसन जमाए बैठे हुए थे तथा 12 सहस्र गायत्री-पाठ पूर्ण किया है। आचार्य एवं शिष्य दोनों तीन-तीन बार कृच्छ्र (कालुष्य निवारण) कर चुके हैं। आचार्य इसलिए कि संघटित पाप का प्रायश्चित हो जाए। शिष्य इस आशय से कि कामाचार, कामचर्या एवं काम भक्षणादि दोष विदूरण के लिए प्रायश्चित्त हो। इसलिए देवताओं एवं पितरों की पूजा कर वटु को चौलकर्म एवं भोजन आदि कराकर आचार्यजी की सेवा

में प्रस्तुत किया जाता है। इसका आशय क्या है ? प्राण को अन्न प्रदान कर उसको तुष्ट करने के बाद शेष सभी कर्म संपन्न हों। क्या अब तक मैंने जो कुछ कहा वह सटीक है न?''

''हाँ हाँ, आगे अनुग्रह करें।''

''इसके बाद आचार्य शिष्यार्थ होम करने के आशय से लौकिकाग्नि को लिवाकर उसको मंत्राग्नि में परिवर्तित करेंगे। उसमें होमकार्य संपन्न करने के बाद वटु को कौपीन धारण कराते हैं तथा उसको नया जन्म प्रदान करने के आशय से मातृगर्भ में स्थित 'उल्ब' (मांस का थैला) सदृश नए वस्त्र पहनाते हैं। उस समय जिस मंत्र का पाठ होता है उसके देवता होते हैं मित्र–वरुण। मित्र–वरुण किसे कहते हैं? दिवा एवं प्राणवृत्ति के देवता हैं मित्र। रात्रि एवं अपानवृत्ति के देवता हैं वरुण। अर्थात् दिवा–रात्रि एवं प्राणापान का अनुसंधान करने के लिए कौपीन एवं वस्त्र धारण कराया जाता है।

''अब आती है बारी यज्ञोपवीत धारण कराने की। इस मंत्र के अधि देवता परमात्मा हैं। इस मंत्र का अर्थ क्या है। 'हमें अविद्या आदि दोषों से मुक्त करो। तुम प्रजापति गर्भ संजात हो। यज्ञ–स्वरूप विद्या की ओर हमें अग्रसर करो। परम समर्थ तुम्हें धारण करने से हमारा वर्चस्व बढ़े।' उसके बाद है आचमन। आचमन का अर्थ क्या है ? प्राण के लिए कवच है अर्थात् आचमन प्राण–संजीवन होता है। तदनंतर जब वटु दक्षिण हस्त थामा रहता है, पवमानाग्नि एवं प्रजापति के लिए होम किया जाता है। अर्थात् अग्नि को, अग्नि प्राणों के जनक विराट् पुरुष को उद्देश्य कर होम किया जाता है। बात आई समझ में ?''

''ठीक है।''

''तब सूर्यात्मा एवं अग्न्यात्मा बनकर अपने सम्मुख उपस्थित कुमार के शुचित्व की प्राप्ति के लिए सूर्यदेव को प्रसन्न करने के आशय से आचार्य अंजुलि–क्षालन कराते हैं तथा जिस मंत्र का पाठ करते हैं उसका अर्थ है कि 'हम सवितृ देव के पक्षवाले हैं। श्रेष्ठ शत्रुनाशक तथा सब कुछ प्रदान करनेवाले उनके धन को प्राप्त करें।' शत्रुनाशक का अर्थ क्या है ? काम से बढ़कर शत्रु कौन हो सकता है ? काम तो पूर्ण चेतना को अपूर्ण बना देता है। इस मंत्रोच्चार के साथ अपनी अंजुली में से जल का विसर्जन वटु की अंजुली में करते हैं। वटु उसके बाद अपनी अंजुली से विसर्जन करता है। जानते हो, इससे क्या होता है? आचार्य की देह में अवस्थित शक्ति वटु की देह में प्रविष्ट होगी। तब वटु उसको ग्रहण कर उनका शिष्य बनेगा।

यों अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त शिष्यत्व को प्रत्यक्ष करने के लिए हस्त ग्रहण करेंगे। यहाँ भी एक मंत्र-पाठ है। सवितृ देव के आदेशानुसार आश्विनियों की बाँहों एवं पूषन के हस्त से मैं अमुक का हस्तग्रहण करूँगा।' पुनः दो अंजुली भर पानी वटु की अंजुली में विसर्जित करते हुए मंत्र पाठ होता है– 'सवितृ ने तुम्हारा हस्त ग्रहण किया। अग्नि तुम्हारे आचार्य बन चुके'–इसको आप क्रियापाद कहेंगे न? या आप कहेंगे कि समय बिताने के लिए अभी तक गप्पें हाँक रहा था ?''

अब महिदास ने बात की–''न, ऐसी हँसी-ठट्ठा कोई कैसे करे? यदि आचार्य अपने में सवितृ, अश्विनी, पूषन एवं अग्नि को आवाहित न करें तो शिष्यों का शिष्यत्व कैसे फलीभूत होगा ? अतएव यह तो क्रियापाद ही है। इसमें कोई संदेह नहीं।''

बुडिलजी ने आगे की बात कही–''उसके बाद आचार्य संकल्प करते हैं कि व्रतपति आदित्य के वश में वटु को दिया जाएगा। उसे सूर्यदेव का दर्शन कराते हुए कहते हैं–'हे सवितृ देव; यह ब्रह्मचारी आपका है। इसकी रक्षा करना।' यह तो हो गया वटुदान। इसके बाद शिष्य एवं आचार्य अग्नि के पास परस्पर अभिमुखी होकर खड़े हो जाते हैं। आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं–'तुम 'क' देव के ब्रह्मचारी हो, प्राण के ब्रह्मचारी हो, 'क' देव ने 'क' रूपी तुम्हारा उपनयन कर दिया है। उस 'क' देव को हम तुम्हें दान में दे देंगे।' इसके बाद उसके श्रेयोभिलाषी होकर पूर्वाभिमुख हो जाते हैं।'' और मंत्र पाठ करते हैं–

''जो साहसी एवं कवि होते हैं वे मन से वटु में देवताओं का आवास कराएँ तथा दूसरा जन्म दें।'' यों कहकर उसकी भुजाओं का स्पर्श कर पुनः उसके हृदय का स्पर्श करते हैं। इसका रहस्य है कि भुजाओं के स्पर्श द्वारा अनुगृहीत देवांश उसके हृदय में स्थिर रहें।

''तब आचार्य कुमार को दक्षिण पार्श्व में बिठाकर उससे अग्निकार्य संपन्न कराते हैं। 'हे जात वेद, अर्थात् जन्म से ही सब कुछ जानकर जन्म लेनेवाले अग्नि, मैं तुम्हें समिधा दूँगा। तुम समिधा द्वारा वर्धित हो, हम–ब्रह्मवर्चस्व द्वारा अर्थात् ध्यान से वृद्धि प्राप्त करें।' यों कहकर समिधादान करेंगे। उसके बाद अग्नि को अपनी हथेली दिखाकर तीन बार कहेंगे– 'तुम्हारा तेजस् मुझे भी प्राप्त हो।' यों कहकर अपना मुख पोंछ लेगा। वहाँ भी एक रहस्य है। अग्नि, वायु एवं आदित्य मुख, नासिका एवं चक्षु में निवसित होते हैं। उनका मंतव्य होता है कि वह तेज इन तीनों में दृष्ट हो।''

सबने प्रशंसा में सिर हिलाया। बुडिलजी ने आगे बात की–''उसके बाद अग्नि को उपस्थापित कर स्तुति करते हुए प्रार्थना करते हैं–'मुझे मेधा एवं प्रज्ञा दो। अग्नि तेजस्, इंद्र इंद्रिय तथा सूर्य प्रकाश दें। हे अग्नि, तुम्हारी दया से मैं तेजस्वी, वर्चस्वी, हरस्वी (हर से प्रसादित) तथा दानपात्र बनूँ।'' फिर रुद्र से रक्षा की याचना करते हुए प्रार्थना करता है।

''रुद्र कौन है ?' प्राणांनां ग्रंथिरसि रुद्र। जब प्राण आपस में मिला करेंगे, घुलमिल जाएँगे तब वही रुद्र होता है। हमारे इंद्रियों से निकलती, सर्ववृत्तियाँ प्राण होती हैं। चूँकि हमारा मन अन्यान्य कार्यों में स्थित रहता है प्राणोत्सर्जन को हम देख नहीं पाते। यदि उसको देख पाएँगे तो हमें रुद्रदर्शन होगा। जन्म के क्षण से ही रुद्र का आवेग प्रश्न करता रहता है–'किसे मारूँ ? किसे पीटूँ।' इसीलिए हम रुद्र से रक्षा की प्रार्थना किया करते हैं– 'हे रुद्र, हमारे पुत्र एवं पोतों को नहीं मारना। हमारी गायें और घोड़ों पर हिंसा नहीं ढाना। हमारे वीरों की हत्या न करना। तुम्हें हवि देकर तुम्हारी स्तुति करेंगे।'' वहाँ से रक्षा प्रसाद लेकर उसे धारण करता है।

उपनयन

बुडिलजी ने कुलपति की ओर देखा। जब उन्होंने सम्मति में सिर हिलाया तब आगे कहना प्रारंभ किया–

''इसके उपरांत वटु अपने गोत्र का परिचय देते हुए 'अहं भो अभिवादये' कहकर आचार्य का अभिवादन करता है तथा वाम हस्त से वाम पाद–दक्षिण हस्त से दक्षिण पाद का स्पर्श करते हुए पादाभिवंदना करता है। रक्षक तेजस् सदा पादों से उत्सर्जित होता रहता है। अतएव जो पादस्पर्श करता है वह अनुगृहीत होता है। यों पादाभिवंदना कर वटु आचार्य से निवेदन करता है–''कृपया मुझे सावित्री का उपदेश दें।'' तब आचार्य वाम हथेली पर दक्षिण हथेली धर उसे दक्षिण जंघा पर रखकर वटु को गोद के दक्षिण भाग में आसीन करा लेता है। वटु की अंजुली को अपने हाथ में लेकर प्रणवव्याहृति–पूर्वक सावित्री का उपदेश देकर अनुगृहीत करता है। उसमें भी रहस्य निहित होता है। पाद द्वारा जो रक्षक तेजस् उत्सर्जित होता रहता है, वह हथेली से भी होता रहता है। किंतु जो निस्संकल्प ही उत्सृष्ट

होता है वह रुद्र बनकर अन्यों को ग्रसता है। इसीलिए वटु की अंजुली को संकल्प-पूर्वक अपनी अंजुली में लिया जाता है।

''गायत्री के तीन पादों द्वारा तीनों वेदों को प्रदान करते हुए आचार्य प्रार्थना करता है–'तुम्हारा हृदय मेरे व्रत में सम्मिलित हो। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त जैसा बने। तुम मेरा कहा मानने योग्य बनो। वृहस्पति तुम्हें यों मेरे वश में कर दें।' प्रार्थना कर उसे वृहस्पति से प्राप्त कर लेता है। उसके उपरांत रक्षणार्थ मेखला बंधन का कर्म संपन्न करता है। उस समय के मंत्र-पाठ में यह प्रधान अंश होता है–'यह मेखला दुष्टवचनों से हमारी रक्षा करती रहे, हमें पवित्र बनाने हेतु सुखपूर्वक आगमन करे। प्राणापानों से हमें शक्ति प्रदान करे। सौभाग्य संपन्न मेखला देवताओं के लिए प्रिय बने।' आप पूछेंगे कि फेंटे हुए घास से इस प्रकार की प्रार्थना करने से बढ़कर अपमान की बात क्या होगी ? परंतु यहीं पर विशेषता निहित है। जिसको सभी तिनका कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, हम उसे समिधा अभिदान देते हैं। सर्वत्र प्राप्त आग को मंत्रपूत बनाकर उसे अग्नि का अभिदान देते हैं। सदा सर्वत्र संचरित हवा को हम सर्वकर्तृ मातारिश्व कहकर आदर करते हैं। कहीं अस्त होनेवाले सूर्य को आदित्य एवं प्रथम कहते हैं। आत्मा जगत: तस्थुषश्च; जंगम स्थावरों की आत्मा कहते हैं। इसी प्रकार फेंटे घास की मेखला यदि हमारे कटिदेश में बँधा हो तो ईर्ष्या करनेवालों की दुरुक्तियों से हमारी रक्षा करती है। वह कैसे होगा? दुरुक्तियों की सामर्थ्य को क्षीण बनाकर उससे विचलित न होने की हमारी सामर्थ्य में वृद्धि करती है। आपने राजकुमारों की शिक्षा क्रम को देखा है न? उनकी देह लोहे के घनीभूत पिंड सदृश होती है, सहने की सामर्थ्य वहाँ मूर्त बनी होती है। इसीलिए वह बाण एवं खड्गों की मार को सह लेती है। यह भी उसी तरह का होता है। यह मेखला हमें पवित्र बनाती है। हमारे प्राणापानों से शक्ति संग्रह कर हममें भरती है। हममें देवताओं के आवाजाही का दर्शन कराता है। यह सब कब संभव होगा? जब हम इस फेंटे हुए घास के बंध में प्राण-प्रतिष्ठा करेंगे। इन सबके लिए पूर्व तैयारी चाहिए कि नहीं !''

किसी ने बुडिलजी का प्रतिवाद नहीं किया। तब बुडिलजी ने आगे की बात कही–''आचार्य भाग्यशाली है। उसके पूर्व जन्मों का पुण्य है जो कि उसे एक जातवेद पुत्र मिला है। यदि कुछ लोप कहीं हो जाए, तो उसकी ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेतना उसे प्राप्त है। अभी से विप्र जो बना हुआ है तो फिर क्या कहना?

इसीलिए आचार्यजी से पूर्व तैयारी के बारे में कह सुनाया। क्यों आचार्य, मुझ पर अप्रसन्न तो नहीं हो न?''

आचार्य ने विनयावनत होकर कहा–''हमें भी ये बातें ज्ञात थीं। किंतु इतने सारे विवरणों से हम अनभिज्ञ थे। आपने हमें इन सब से अवगत कराकर हम पर अनुग्रह किया।''

बुडिलजी ने मानो उपसंहार करते हुए कहा–''अब शेष रह जाता है दंडग्रहण प्रक्रिया, तदनंतर व्रतोपदेश। इससे उपनयन के प्रमुख कर्म संपूर्ण हो गए। पुनः तीन रात तक व्रत रखने के बाद होगा मेधाजनन। सुनो, यदि मेधाजनन सटीक हुआ तो वह एकसंतग्राही (किसी भी बात को एक बार सुन लेने पर जो ग्रहण कर लेता है, उसे एकसंतग्राही कहते हैं।) बनेगा। अन्यथा त्रिवेदी या चतुर्वेदी कैसे बन पाएगा। इसके अतिरिक्त वेदांग, पुराणेतिहास, अन्य शास्त्र इन सबमें समन्वय साधना होगा। और इसका ध्यान रखना होगा कि इनमें आपसी विरोध न हो। इसके उपरांत अपने लिए उचित साध्य निर्धारित कर उसके लिए साधनारत हो गृहस्थ बनना होगा। है न बड़ी कठिन यात्रा!''

सब मौन रहे। दोनों कुलपतियों के नेत्रों से आनंदाश्रु झर रहे थे। वे किसी विचार में खोए हुए थे। तब शांडिल्य पिता के पास आया। उनसे फुस–फुसाकर कुछ कहा। अब बुडिलजी को नमस्कार करने के बाद पूछा–''बुजुर्ग ने जो कुछ कहा यह सब आस्तिक ब्राह्मणों के लिए ही है। पर नास्तिकों का क्या होगा ? अब्राह्मणों के लिए कौन–सा निस्तार है ? जिन देशों में वर्णाश्रम धर्म का अनुपालन नहीं होता वहाँ क्या होगा ?''

बुडिलजी ने हँसकर कहा–''उनका क्या होगा ? यह प्रश्न करने से पूर्व हमें अपने समाज की बुनियाद के बारे में विचार करना पड़ेगा। सर्वप्रथम बात है कि हम जन्मांतरों में विश्वास करते हैं। हम मानते हैं कि देवता होते हैं। जो यह मानते हैं कि यद्यपि समस्त संसार के लिए धर्म एक ही होता है तथापि वह प्रति पुरुष के रूप में भिन्न–भिन्न दीखता है। उनका कहना है कि ब्राह्मण हो या अब्राह्मण अपने लिए निर्धारित कर्म करने पर एक–सा फल मिलता है। उनका यह भी विचार है कि विहित कर्म दोषयुक्त होने पर भी अन्य कर्म से श्रेष्ठ होता है। अब प्रश्न रह जाता है कि नास्तिक अब्राह्मण, वर्णाश्रम धर्म विहीन– इन सबका क्या होगा ? नास्तिक की बात छोड़िए, क्या उनका कोई भविष्य है ? तथापि जो नास्तिक मानता है कि उसके लिए भी भविष्य है तो वह उसके लिए उपयुक्त सूत्रों को स्वयं निर्धारित कर

लेगा। इस प्रकार जो अपनी बुद्धि एवं उसके द्वारा निर्देशित प्रमाणों पर चलेगा उसको हम असुर कहते हैं। उसको आपके मंतव्य की दरकार नहीं पड़ती। यदि वह वाद-विवाद की वस्तु बने तो उसका स्वरूप विलग हो जाता है। अब आती है ब्राह्मणों की बात जो विचारधारा फलैक्य का उपदेश देते हुए समाजरूपी वृक्ष में अन्योन्याश्रयी जीवन का आदर्श प्रस्तुत करती है, उसमें केवल आचरण के लिए ब्राह्मण, ब्राह्मणेतर का भेद मानता है न कि पारमार्थिक विचार में। अब प्रश्न है, वर्णाश्रम धर्मविहीन समाज का क्या होगा? यद्यपि उनमें वर्णाश्रम रूपी व्यवस्था नहीं होती, तथापि ऐसा नहीं कि उनमें उत्तमाधम धर्म का अस्तित्व ही नहीं। उनमें भी उच्च-नीच भेद विद्यमान होता है। वह अधिकार के बल पर आधारित हो सकता है या धन संपत्ति के आधार पर। यद्यपि वे सब प्रेयोमार्ग के पथिक हैं तथा कामहेतुक जीवन व्यतीत करते हैं तथापि उनमें भी कोई-कोई ऐसा व्यक्ति जन्म लेता है जो दैव साक्षात्कार पाकर संसार को अपनी राह चलाने का प्रयास किया करता है। यद्यपि वहाँ का समस्त संसार उसके सामने अवनत होकर उससे उपदिष्ट धर्म का अनुसरण करता है तथापि पुनः अपनी राह चलने लगता है। तो सारांश यह है कि-हाँ क्या नाम बताया तुमने ? मैं भूल गया भई ?''

''शांडिल्य।''

''हाँ शांडिल्य-हम प्रदेशों को ऊसर, नदीमातृक, देवमातृक क्षेत्र कोटि में विभाजित करते हैं न? जो दैवानुग्रह से वंचित है वह ऊसर क्षेत्र होता है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से वह दैवमातृक ही है। नदीमातृक तो प्रत्यक्षवर्षा से फलता है। दैवमातृक भी परंपरा से मानी हुई बात ही है न? कहते हैं कि एक बार बारह वर्षों तक वर्षा न हुई, गंगादि नदियों में भी जल सूख गया; दुर्भर अकाल पड़ा। तब अत्रि पत्नी अनुसूया स्वयं गंगा बनकर प्रवहित हुई, संसार को अनुगृहीत किया। क्या हम इसकी तह में जाकर इसको समझ पाएँगे? इसी प्रकार नास्तिक, अब्राह्मण एवं वर्णाश्रम धर्म रहित देश के लोगों की दशा को साधारणतया समझ नहीं पाते। इसीलिए हमारे लिए यही आदेश है कि ब्राह्मण सर्वदा सबका मित्र बना रहे। उसको सदा से यही आसीसना चाहिए कि जो कुछ मैं देखता हूँ वह गुणपूर्ण हो, जो कुछ मैं कहता हूँ वह पवित्र हो।

''तो उसको पारस-मणि सदृश सबको गुण-पूर्ण बनाते हुए जीना चाहिए। पुनः एक बात से सावधान रहने को कहता हूँ। यद्यपि हम नास्तिकों को असुर अभिदान देते हैं, तथापि वे प्रजापत्य भी हैं। अर्थात् वे भी ईश्वर संतान हैं। यही

नहीं केवल मनुष्य ही नहीं, जन्म लेनेवाला प्रत्येक जीव ईश्वरांश संपन्न होता है। अतएव हमारा आचरण ऐसा होना चाहिए कि एक से दूसरे की हानि न हो। तुम प्रतिदिन संध्या करते समय क्या कहा करते हो? सर्वेषामविरोधेन ब्रह्म कर्म। अर्थात् ब्रह्म कर्म किसी का विरोधी न हो। तो प्रश्न उठता है—ब्राह्मण जो कर्म किया करते हैं वे तो अन्यों के विरुद्ध में हो जाते हैं न?

''यह भी कोई प्रश्न है? संसार में प्रकाश एवं अंधकार दोनों का अस्तित्व आपसी विरोध में ही है। किंतु उसी को यथार्थ मानकर उसी को लक्ष्य नहीं बनाना है। जब लक्ष्य सर्वभूतहित का होता है तो कहीं न कहीं थोड़ी-सी कमी-बेशी हो सकती है। एक है आदर्शवाद, दूसरा है यथार्थवाद। हम तो आदर्शवादी हैं।

''शांडिल्य यह कथन, यह व्याख्या आठ-आठ दिन तक चल सकती है। परंतु घर में चावल के बोरे या धान का संग्रह भरा-भरा होने पर भी हम जितना खा सकते हैं उतना ही पकता है न? गुरुजी गाय की ख़ुराक देखकर उसका मूल्य आँका करते थे। पर्वत सदृश आदर्शों को उद्धृत करते हुए आचरण में अंशभर भी अनुपालन नहीं करनेवाले के लिए ब्राह्मण धर्म क्यों? अंतिम बात कहता हूँ, सुनो। जिसको अन्य लोग केवल आदर्श कहते हुए हाथ झाड़ लेते हैं, उसको अपने आचरण में लाने के लिए जो त्रिकरण-पूर्वक प्रयास करता है वही ब्राह्मण होता है। श्रेय एवं प्रेय के बीच श्रेय-प्राप्ति के लिए प्रेय की बलि चढ़ानेवाला ब्राह्मण होता है। समस्त विश्व को एक मानकर, अपने कर्म से चाहे वह बहुत साधारण कोटि का हो या बृहत प्रमाण का, विश्वस्थिति में परिवर्तन की संभावना को माननेवाला ब्राह्मण होता है। विश्व से परे जो अमूर्त सत्य निहित है उसी को अपना लक्ष्य बनाकर उसके लिए संघर्ष करनेवाला ही ब्राह्मण होता है। जब अन्य लोग अर्थ और काम को ही जीवन का चरमोद्देश्य मानते होते हैं, तब इस संसार में धर्म,परलोक में मोक्ष-इस भाँति का विश्वास करनेवाला महादृष्टा ब्राह्मण होता है। पर्याप्त है या कुछ और कहता रहूँ।'' शांडिल्य ने पुनश्च नमस्कार किया और हाथ जोड़कर कहा—''बड़ा अनुग्रह हुआ। परम कृपा हुई।''

बुडिलजी ने कहा—''अरे भाई, मेरी ही व्याख्या पर परमाश्चर्य करते हुए कहते हो, परमानुग्रह हुआ। यदि हमारा याज्ञवल्क्य प्रवचन देने लगे तब न जाने क्या कहोगे! मेरी वाणी से निकले महादर्शन को साक्षात्कारित किया हुआ महानुभाव है याज्ञवल्क्य।'' उसके बारे में बात करते हुए उनके नेत्र सजल हो गए।

ब्रह्मत्व की देन

यथासमय स्वस्ति-वाचन, अंकुरार्पण, गृहयज्ञ, नांदी-श्राद्ध आदि संपन्न हो गए। कुमार का चौल-कर्म एवं मातृ सह-भोजन भी हो गया। वटु को सजाकर आचार्य के पास लिवा लाए। बुडिलजी पुरोहित बनकर उठ खड़े हुए। सदस्स (धर्मसभा) की अभिवंदना कर निवेदन किया-''यह तो वैदिक कर्म है। यहाँ के सदस्य इसकी सफलता की कामना कर अनुग्रहीत करें। आप सब देवता-मूर्ति बन आशीष की सफलता के साक्षी के रूप में उपविष्ट रहें।'' यों कहकर आचार्य की ओर उन्मुख हो स्वयं ब्रह्म बने बैठ गए।

स्वयं आचार्य ने मंत्राधिदेवता बनकर प्रत्येक मंत्रोच्चारण के समय उस-उस देवता को अपने में आवाहित कर कर्म संपन्न किया। भिक्षाचर्या तक सब कुछ संपन्न हुआ। वटु ने देवांशसंभूत होकर वेदों का परिग्रहण किया। जब सूर्य-दर्शन कराया गया तब सवितृ की प्रार्थना कर सावित्र करण प्राप्त किया तथा उसे हृदय में धारण कर स्वयं एक सवितृ जैसा उद्भासित हुआ। जब उसने 'भो सावित्रीं अनु ब्रूहि' कहते हुए उसको क्रमशः शब्द एवं अर्थसहित आत्मसात् कर लिया तब सबको पूर्व का वह दृश्य स्मरण हो आया, जब भारद्वाज ने ब्रह्म को प्रसन्न कर वेदों को मुट्ठी दर मुट्ठी हस्तगत कर लिया था।

कुलपतियों के आनंद की सीमा न रही। इस सभा में कुलपतियों से बढ़कर किसी और को परमाधिक आनंद की प्राप्ति हुई थी तो वह थे जनक महाराजा। याज्ञवल्क्य को वटु के रूप में ही नहीं, अपितु उन्होंने लोकोद्धारक महाब्राह्मण उसमें अंतर्निहित पाया। उसकी सोच थी- 'मैंने जो धर्म संपृक्त होकर राज्य का पालन किया, यह आज सार्थक हो गया। कुरु, पांचाल, मद्र, काशी आदि देशों में निवसित सभी विद्वानों से श्रेष्ठ, कर्म-ब्रह्म दोनों में अन्य सभी से ज्येष्ठ, निष्णात एक महापुरुष ने मेरी राजधानी में अवतार लिया है।' उसकी प्रसन्नता की सीमा न रही। कल बुडिलजी ने आचार्य को जिन तथ्यों का बोध कराया था उन्हें उन्होंने भार्गव-मुख से सुना था, तो आज उनको प्रत्यक्ष देखकर वे आनंद-विभोर हो गए।

भिक्षा का रस्म प्रारंभ हुआ। मातृ-भिक्षा हुई। मातामह आदि भिक्षा भी हो गई। कुलपतियों की पत्नियों ने भिक्षा दी। उसके बाद क्षत्रियों द्वारा भिक्षा हुई तो राजा ने वटु को स्वर्ण एवं रत्नों का उपहार दिया तथा अभीप्सा व्यक्त की- ''ऐसा

विद्ववरिष्ठ बनो कि संपूर्ण राज्य उपहार में देने पर भी वह अपर्याप्त लगे और हमारा उद्धार हो जाए।''वहाँ आगत वैश्यों ने भी भिक्षा दी।

आचार्य ने समस्त भिक्षावस्तु वटु को आशीर्वाद देने के बाद बुडिलजी को दे दी। बुडिलजी ने उसका अल्पांश ग्रहण कर शेष सब लौटा दिया ताकि वह ब्रह्म भोज एवं दक्षिणादि के लिए काम में लाया जाए।

जब महाराजा अपने अधीनस्थ राजपुत्रों के साथ चल पड़े तो एक विचित्र घटना घटी। उनके साथ भार्गव भी चल पड़े। राजा जो चलने को ही थे, रुक गए। उन्होंने कुलपति एवं बुडिलजी से मिलने की इच्छा प्रकट की।

आचार्य की ओर से महिदास उन तीनों को बुला लाए। जब वे आ गए तो राजा ने भार्गव को अलग ले जाकर एकांत में पूछा–''अब अभिवादन की रीत कैसे हो ?'' उन्होंने भी रहस्य में ही उनसे कहा–''ब्रह्म–विद्या संपन्न होने के कारण कुलपति उद्दालक का सर्वप्रथम अभिवादन होना चाहिए। कर्म–विद्या संपन्न होने के कारण कुलपति वैशंपायन का द्वितीय क्रम में अभिवादन हो। उसके उपरांत आज के ब्रह्म–स्थान पर आसीन बुडिलजी का अभिवादन हो।''

इतने में तीनों पधारे। महाराजा ने बुडिलजी को, उद्दालक जी को और उसके उपरांत वैशंपायन को नमस्कार किया तथा हाथ जोड़कर विनती की– ''यदि व्यतिक्रम हुआ है तो क्षमा करें।''

दोनों कुलपतियों ने प्रसन्न–भाव से कहा– ''महाराजा ने जो कुछ किया क्रमपूर्ण रीत से किया। बुडिलजी वय में ही नहीं ज्ञान में किसी भी प्रकार से हमसे कम नहीं हैं। बुडिलजी ने प्रतिक्रिया व्यक्त की–''न, यह ठीक नहीं। आप कुलपति हैं। हमारा अभिवादन अंत में होना चाहिए था। अस्तु। जो हो गया सो हो गया।''

महाराजा ने सविनय निवेदन किया– ''आज वेदमूर्ति ब्रह्मत्व स्थान पर है। हम आपसे एक वरदान की याचना करते हैं।''

वैशंपायन ने कहा–''वरदान माँगने के लिए यही सही समय है। अब वे न नहीं कह सकते।''

''मेरी मनोकामना है कि बुडिलजी को एक ग्राम उपहार में समर्पित करूँ। मेरी इस प्रार्थना को वे कृपया मान्य करें।''

बुडिलजी ने हँसते हुए कहा– ''कुलपति एवं मेरा ब्रह्मत्व इन दोनों के कारण आज मेरी वाणी मौन हो गई है। यों अवसर का लाभ उठाकर महाराजा ने जो कुछ

साध लिया है उसको मैं एक निबंधन की सीमा में स्वीकार करूँ; इसकी स्वीकृति मिले।''

''अस्तु, आदेश हो।''

''महाराजा स्वयं मेरे घर आएँ तथा इसे यज्ञेश्वर को समर्पित करें। राजभवन तो लक्ष्मीस्थान होता है। यदि हम वहाँ आ जाएँ तो वहाँ की संपदा एवं वैभव हम जैसों के मन में कामनाएँ जगा देंगी? कोई दीवार से टकराकर व्यर्थ में सिर नहीं फोड़ता।''

महाराजा ने हामी भरी। बुडिलजी अपनी लाचारी पर फीकी हँसी बिखरते हुए बोले–''देखो न, याज्ञवल्क्य के यज्ञ में ब्रह्म बनने का प्रत्यक्ष फल मिल गया। दोनों कुलपति हैं। गुरु बनने जा रहे दोनों कुलपति यहाँ हैं। न जाने आप दोनों को क्या-क्या मिलेगा!''

दोनों कुलपतियों ने एक–दूसरे को देखा। दोनों के चेहरे पर पर्वत सदृश संशय दीख रहा था– ''एक ही वटु दो–दो आश्रमों में रहकर गुरुकुल कैसे निभा पाएगा?'' बुडिलजी ने वह देखा तो कहा–''क्या करूँ, मैं कहना नहीं चाहता था किंतु दैव ने मुझसे कहलवाया। अस्तु, स्पष्टमग्रे भविष्यति, अर्थात् भविष्य में सब कुछ स्पष्ट होगा।'' फिर वे आचार्य एवं वटु के पास गए।

वहाँ आचार्य को साक्षी बनाकर वटु से प्रश्न किया–''अब व्रत कितने दिन का होगा?'' यद्यपि देखने में वटु वामन सदृश था तथापि त्रिविक्रम जैसा कहा–''मेरा कर्तव्य है कि आचार्य एवं आप जितनी अवधि तक व्रत निश्चित करते हैं तब तक मुझे करना है। यदि इसके विपरीत मेरा मत जानना चाहेंगे तो तीन दिन ही पर्याप्त है।''

बुडिलजी ने अपने निर्णय को सही मानते हुए पूछा- ''आचार्य जी का इस संबंध में आदेश क्या होगा?''

आचार्य ने कहा–''कल आपके द्वारा वर्णित सब कुछ आज प्रत्यक्ष देख लिया। आपका आदेश श्रुतिविदित है– 'अनुचित्त बनो, मेरी आज्ञा का अनुपालन करो। यह श्रुतिविदित है तथा उसी के अनुकूल विधायक भी। किंतु व्रत कितने दिनों का हो, इसका निर्धारण वही करे।' तो निष्कर्ष हुआ कि व्रत तीन दिनों का हो तथा चौथे दिन मेधा–जनन हो।''

गुरुकुलवास

आचार्य ने पुत्र को एक वर्ष तक घर में ही रहने दिया। ऋजुस्संहिता का अध्ययन कराया। एकसंतग्राही शिष्य को वेदपाठ सिखाना कौन-सी बड़ी बात थी! ऋजुस्संहिता में गद्य-पद्य में मंत्र हैं। कहीं-कहीं ब्राह्मण में मंत्रों की भरमार है, तथापि कुमार ने बिना किसी विशेष श्रम के एक ही वर्ष की अवधि में पूर्ण संहिता सीख ली।

आचार्य को लगा कि संहिता में यत्र-तत्र यज्ञ-मंत्रों को विलग कर विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाए तो कितना बड़ा लाभ होगा। एक दिन की बात है-अध्ययन समाप्त हो चुका था। तब पिता ने पुत्र से कहा- ''यह संहिता तो एक झमेला हो गया है। यज्ञभाग, रहस्यभाग एवं ब्राह्मणभाग एक-दूसरे में मिले हुए हैं। यदि कोई महापुरुष जन्म धारण कर इनका अलग-अलग वर्गीकरण करे तो कितना बड़ा काम होगा?'' तभी याज्ञवल्क्य उठा, पिता को नमस्कार किया और कहा-''मेरा जन्म इसी कारण से हुआ है। आप आशीर्वाद दें कि मैं अपने लक्ष्य में सफल हो जाऊँ।''

याज्ञवल्क्य की ये बातें सुनकर आचार्य हक्के-बक्के हो गए। 'हाँ, यह सत्य है। कुमार अन्यों की तुलना में तेजस्वी है। किंतु पीढ़ियों से चली आ रही संहिताओं का सम्यक रूप में वर्गीकरण कर पाएगा ? यह कितना महान कार्य होगा! लगभग पच्चीस वर्षों से इस दिशा में प्रयत्नशील रहने पर भी मुझसे जो कार्य हो नहीं पाया उसे यह संपन्न करेगा ? क्या कृष्ण-यजुर्वेद शुक्ल-यजुर्वेद बनेगा ?'- ये ही सारी शंकाएँ उठने लगीं। तथापि उसने अपने को समझाया- 'कौन जाने, यह तो अति-पिता है, अति- पितामह भी। मेरे पिताश्री के मन में भी यह कार्य करने की आकांक्षा थी। वही आकांक्षा मुझे भी है। कौन जाने हम दोनों की आकांक्षा इसमें फलीभूत हो जाए। मैं क्यों विघ्न डालूँ?' यों सोचकर जाने-अनजाने कह दिया-'तथास्तु।' सम्मुख हाथ जोड़ विनय-भाव से खड़े रहने पर भी एक महाविद्वान् जैसे प्रखर तेज से उद्भासित कुमार को देखकर मानो तंद्रा से जाग गए। पुनः मन से 'तथास्तु' कहा। इस तथास्तु द्विरुक्ति में स्वप्रेरित सदिच्छा की अभिव्यंजना थी। 'जो कार्य होना है, वह यदि हमारे घर में हमारे पुत्र द्वारा परिपूर्ण हो जाए तो हमारे वंश का भाग्य ही जग जाए।'

किंतु शुभकार्यों के लिए कई विघ्न आ उपस्थित होते हैं। अतएव उनके निवारणार्थ तथा इष्टार्थ की पूर्ति के आशय से तीसरी बार 'त[illegible]ा। कुमार

ने पुनः उठकर नमस्कार किया। पूर्व में अनवरोध कही बात आचार्य को याद आई– ''सरस्वती एवं गणपति व्यूह देह में कार्यरत रहें।'' उन्हें इसके स्मरण से प्रतीत हो गया कि यह कार्य इसी के द्वारा संभवनीय है।

उस दिन से अध्ययन के क्रम में परिवर्तन किया। संहिता को सुनाना तो था। किंतु अब क्रमाध्ययन के उपरांत अमुक कांड के, अमुक प्रपाठक के अनुवाक्य को सुनाने के लिए कहते थे ताकि वर्गीकरण सरल हो। यद्यपि कुमार को प्रारंभ में कुछ कठिनाई का अनुभव हुआ, तथापि शनैः-शनैः वही क्रम बन गया।

किंतु आचार्यजी ने एक बात की ओर ध्यान नहीं दिया। कबूतर को उड़ानेवाले उसे ऊपर को उछालेंगे। किंतु उसकी गति तो मेघमाला तक होती है। ऐसे में उसे इस उछाल से क्या लाभ होगा? इसी भाँति वेद को सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए ईश्वर का अनुग्रह चाहिए। आचार्यजी की समझ में यह बात नहीं आई कि मनुष्य प्रयत्न से यह काम नहीं हो पाएगा। चाहे तो मानव एक सीमित क्षेत्र में सिंचाई कर पाएगा। किंतु क्या मानव का यह प्रयास वर्षा से टक्कर ले सकता है? यों दो वर्ष का समय व्यतीत हो चुका। प्रथमोपकर्म संपन्न हो गया, दूसरा भी। उपनयन के दो वर्ष के बाद गुरुकुल में भेजने का विचार उठा। आचार्यजी ने अपने सभी हितू जनों से परामर्श कर कुमार को वैशंपायन के गुरुकुल में भेजने का निश्चय किया। इसके लिए उसने कुलपति की अनुज्ञा प्राप्त की, एक शुभदिन पर आचार्यजी पत्नी सहित कुमार को आश्रम में ले आए और कुलपति के वश में कर दिया।

आचार्य ने कुलपति से निवेदन किया–''कुलपति जी हमें एक बात का आश्वासन दें। हमारा पुत्र किसी के विषय में अनज्ञाकारी नहीं रहा है। किंतु संगीत की ओर उसकी हृदय से प्रवृत्ति है। आप इस एक बात पर उसको क्षमा करें।''

कुलपति जी हँसे और कहा–''यह तो कोई बात ही नहीं। हम संगीत का वर्जन इसलिए चाहते हैं कि वह काम प्रचोदक होता है। वह तो गंधर्व-शास्त्र है न ? गंधर्वों में काम की प्रधानता होती है। किंतु हम संगीत को नादयोग की ओर प्रवृत्त कर देंगे। बहिर्मुख काम की आकांक्षा अंतर्मुखी हो जाएगी। तब प्रणव ही लक्ष्य बनेगा तथा अध्यात्म-साधना में योगदान देगा। वही करेंगे।''

''ठीक है।''

आलंबिनी ने नमस्कार किया और कहा–''मेरा भी एक निवेदन है।'' कुलपति जी ने ताड़ लिया कि वह क्या कहना चाहती है। अतएव अर्थपूर्ण ढंग से हँसते हुए उन्होंने कहा–''हाँ, कहो न !''

आलंबिनी ने कहा– ''आज तक कुमार घर से दूर नहीं रहा है। अतएव आप से निवेदन है कि उसे कोई कष्ट न पहुँचे।''

वैशंपायन स्वयं उसको आश्वस्त करने को उद्यत हुए। पर अपने को रोककर याज्ञवल्क्य से कहा–''याज्ञवल्क्य, तुमने अपनी माँ की बात सुनी? तुम्हारा अभिमत क्या है?''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''नदी को सदा से अग्रसर होना पड़ता है। आज तक माता-पिता के संग रहकर शिक्षा पाई। अब आपके कृपाश्रय में शिक्षा पाने की इच्छा लेकर आया हूँ। नदी को गहराई एवं विस्तार पाना हो तो आगे बढ़ना अनिवार्य तो है ?''

वैशंपायन ने यह उत्तर सुना तो उस पर सहमति में सिर हिलाते हुए कहा– ''बस, इसका यह कथन पर्याप्त है, तथापि आपके मन की तसल्ली के लिए कुछ कहना चाहता हूँ। हमारे गुरुकुल में जो भी छात्र रहते हैं, उन्हें हम अपनी संतान जैसा स्नेह देते हैं। अपने घर का स्मरण कर वे व्यथित न हों–यों उनका पालन हमारा कर्तव्य बनता है। हमारे आश्रम के निवासियों को गंगा नदी तक जाना नहीं पड़ता, क्योंकि वहाँ मछली एवं मगरमच्छों का भय हो सकता है। अतएव हम गंगा नदी के ऊपरी भाग से एक नहर यहाँ तक लाए हैं। उसमें कमर-भर ही जल होता है। हाँ, कुमार को शीतल जल में स्नान करना पड़ेगा। अपने वस्त्र स्वयं धो लेने पड़ेंगे। क्यों याज्ञवल्क्य, इतना कष्ट तो सह पाओगे न?''

याज्ञवल्क्य ने एक सुलझे हए व्यक्ति की भाँति कहा–''उसमें कष्ट क्या होगा? मुझे अपने घर के पिछवाड़े वाले सरोवर में स्नान करने का अभ्यास पड़ चुका है। आज तक वहीं स्नान किया करता था। वस्त्र धोना भी कोई समस्या नहीं होगी। उसका अभ्यास भी है।''

वैशंपायन ने उसका अनुमोदन करते हुए कहा– ''आचार्यजी, यदि आप अनुज्ञा दें तो इससे मैं दो प्रश्न करना चाहता हूँ।'' आचार्य ने हामी भरी। कुलपति ने पूछा–''क्यों ? तुम्हें वेदांगों में किसमें अधिक रुचि है ?''

याज्ञवल्क्य पर उस प्रश्न का कोई असर नहीं पड़ा। उसने उत्तर दिया–''कल्प-ज्योतिष यज्ञ से प्रत्यक्ष रूप में संबंधित है। निरुक्त वेदार्थों की व्याख्या करता है। छंद तो मंत्रों के अक्षरों का औचित्यपूर्ण प्रयोग जानने का साधन होता है। शिक्षा अक्षरोच्चारण की साधुता या असाधुता की परख जताती है। किंतु मुझे इन सबसे अधिक व्याकरण की ओर आकर्षण है।''

''ऐसा क्यों ?''

''वहाँ शब्द का प्रकृति–प्रत्यय कोटि में विभाजन होता है। प्रकृति शब्द खंड है, उनके साथ प्रत्यय मिलकर कृदंत या सुबंत शब्द बनता है। यदि प्रत्यय को प्रत्येकित करें तो प्रकृति रह जाती है। इसी तरह जो जगत् है वह भी शब्द की भाँति पूर्ण है। यदि उसमें से हम प्रत्यय को निकाल दें तो प्रवृत्ति पूर्ववत पूर्ण ही रहती है। इस प्रकार यह पूर्णमदः मंत्र की व्याख्या करती है, अतएव मुझे व्याकरण के प्रति बड़ा आकर्षण है।

''शिक्षा भी शब्द होती है। परापश्यंति मध्यमा वैखरी रूप में तो प्रकट होती है, उसकी भी व्याख्या इसी भाँति हो सकती है न?

''शास्त्र की परंपरा के अनुसार परास्थान वहाँ दिखाई नहीं देता। पर प्रकृति दीख पड़ती है। व्याकरण प्रयोगसिद्ध है। अतएव व्याकरण के प्रति मेरी आस्था है।''

वैशंपायन कुमार की बौद्धिक प्रखरता देखकर प्रसन्न हुए तथा उस पर उनका विश्वास बढ़ा। उन्हें अतीत की बातें स्मरण हो आईं। वे फूले न समाए। उन्होंने कहा–''इससे लोककल्याण होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसका हमारे शिष्य वर्ग में प्रविष्ट होना हमारे लिए भाग्य की बात है। उन्होंने अपने मन के हर्ष को आचार्य दंपती पर यथोचित रूप में व्यक्त किया। पुनः कुमार को बुलाकर कहा–''तुम्हें संहिता का पाठ हो चुका है। तुमने अपने पिता के संग यत्र–तत्र जाकर प्रयोग एवं तंत्रों के बारे में भी किंचित जानकारी प्राप्त कर ली है। ऐसे में तुम इस गुरुकुल से क्या पाना चाहते हो?''

कुमार ने माता–पिता की अनुज्ञा पा हाथ जोड़कर कहा–''माता–पिता की दया से धान बना, पुनः सूखकर चावल बन निकला हूँ। किंतु चावल को परिपक्व होकर भात तो बनना चाहिए न? इसीलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। चावल जब भात बन जाता है तब उसका विनियोग किस प्रकार से हो, इसका ज्ञान चावल को क्योंकर होगा? तथापि उसको बाहर फेंकने के लिए कोई इतना कष्ट क्योंकर उठाएगा? इसीलिए आपके चरणों में आकर कृतकृत्य बनने का विश्वास मुझे है। अब मुझे किस प्रकार कृतकृत्य बनाएँगे यह तो आप पर निर्भर है।''

वैशंपायन इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। उसको निकट बुलाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त की तथा हृदय से आशीर्वाद दिया।

''ठीक है,जिस देव ने हम दोनों को गुरु-शिष्य के रूप में मिलाया है वह तुम्हें कृतकृत्य बनाए, तुम तो माताशिष्ट एवं पितृशिष्ट सदृश बातें कर रहे हो। तुम्हें गुरु-शिष्ट बनने का योग भी प्राप्त हो। इहलोक में अनन्य कीर्ति और परलोक में उत्तमोत्तम सद्गति भी प्राप्त हो।'' कुमार ने इस आशय से कि उनका आशीर्वाद सफल हो, उन्हें पुनः नमस्कार किया।

किसने क्या कहा ?

मध्यंदिन का समय है, कुछ ही समय व्यतीत हुआ होगा। चिड़ियाँ अभी साये से बाहर नहीं निकली हैं। गाय-बछड़े अभी पेड़ों की छाया में जुगाली कर रहे हैं। नहर के पास आश्रम की सभी स्त्रियाँ एकत्र हुई हैं। बच्चों की माताएँ उन्हें सुलाकर उनके जगने से पूर्व ही नहर के पास आकर जूठे बरतन-भांडा तथा कपड़े धोने का कार्य पूरा कर लौटना चाहती हैं।

इनमें ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जिन्हें लौटने की हड़बड़ी नहीं। वे सब नहर के पानी में पैर डुबाए धूप सेंकते हुए इधर-उधर की बातों में लगी हुई हैं। धूप से सिंकी देह इस गपशप को प्रोत्साहित कर रही है। बात कहीं से निकली, कहीं भटक गई; अंत में याज्ञवल्क्य पर आ टिकी। वहाँ बैठी स्त्रियों में अधेड़ ही अधिक थीं, ये गृहस्वामी से भय की सीमा कभी की लाँघ चुकी थीं।

एक ने कहा- ''आश्रम में अब तक जो भी छात्र आए, उनमें याज्ञवल्क्य की टक्कर का कोई नहीं रहा होगा !''

''हाँ री, मैं भी यही कहनेवाली थी। वह प्रतिदिन भिक्षान्न हेतु आता है न! मैंने उससे पूछा, क्या तुम सबके घर भिक्षा माँगते हो? उसने कहा- नहीं,मुझे जितना आवश्यक है उसका दुगना ही संग्रह करता हूँ। उसके उपरांत लौट जाता हूँ।''

''शास्त्र का नियमन भी इस प्रकार का है। उसके विपरीत कई भिक्षार्थी तो ढेर सारा भरकर लाते हैं, ऐरे-गैरों को खिलाते हैं। भोजन को बासी क्यों बनाएँ?''

''आश्रम में भिक्षा देनेवाले बहुत सारे लोग हैं। कुछ लोगों को यह डर सताता है कि यदि किसी के घर में भिक्षा[illegible]न जाया जाए तो वह क्या समझ बैठे!''

''तुमने सुना, कुलपति की पत्नी कबांधिनी हैं न, वे याज्ञवल्क्य को अपने यहाँ ही भोजन के लिए निमंत्रण दे बैठती हैं। उस दिन वह भिक्षान्न के लिए कहीं नहीं जाता। सभी का यही कहना है कि वे याज्ञवल्क्य को निमंत्रण देने के लिए ही सालभर में तीन सौ दिन व्रत रखा करती हैं।''

''यह कौन-सी बड़ी बात है! मेरा बस चले तो मैं उसे अपने घर ही बुला लूँ। उसका वर्चस्व देखो, वह तो परमादर के योग्य है ही।''

''हाँ, एक बात और है। ऐसा नहीं कि यह बात आपके देखने में न आई हो, मैं फिर भी कहना चाहती हूँ। वह द्वार पर खड़ा हो जब 'भवति भिक्षां देहि' कहता है उसकी भंगिमा एकदम ही अलग होती है। उसे देखने के लिए ही सही, हमारी इच्छा होती है कि वह हमारे द्वार पर आया करे। आप मेरी हँसी ही क्यों न उड़ाएँ, मैं अपनी बात कहे बिना न रहूँगी।''

''अरी, इन्होंने केवल 'भवति भिक्षां देहि' की बात कही–परंतु उसका डीलडौल, उसकी हर भंगिमा–सबमें एक प्रकार का अनूठापन है। लगता है, कोई देवपुत्र भटककर इस आश्रम में आ पहुँचा है।''

''हाँ, एक बात और है । जान–बूझकर कह दो कि आज भिक्षा नहीं, भोजन हो चुका तो वह कोई प्रतिक्रिया ही नहीं करता।''

''आप तो केवल उसके बाह्य आचरण की बात करती हैं। सुना है, वह एकसंदिग्राही है। चाहे वेद हो चाहे शास्त्र, चाहे पुराण हो चाहे और कोई विषय–उसके लिए एक बार सुनना पर्याप्त है; उसको ज्यों–का–त्यों दुहरा देगा।''

''हाँ, तो लगता है कि इसीलिए उसे वीणा–वादन के लिए भी अवसर मिल जाता है।''

''तुमने उसका वीणा–वादन कहाँ सुना ?''

''परसों हमारी गाय बछड़े को खोजते हुए उधर चली। वहाँ वीणा–वादन सुनाई पड़ा। मैंने पूछा, 'कौन है वादक', तभी मालूम हुआ कि यह तो याज्ञवल्क्य है?''

''मुझे बहुत पहले ही मालूम था। उसके माता–पिता उस दिन आए थे न, तब उसने अपनी माँ के पास बैठकर वीणा बजाई थी। माता ने हम चार–पाँच सुहागिनों को बुलाकर कुंकमादि मंगलद्रव्य दिए। तभी हमें मालूम हुआ कि याज्ञवल्क्य वीणावादक भी है।''

''आप तो भट्टजी की घरवाली हैं न ? आपको जो सुअवसर मिला, वह हमें क्योंकर मिले !''

''वह तो छोड़िए, हाँ एक और बात है, जानिए न! जब वे सब समवेत वेदाध्ययन करते हैं तब सुनिएगा। उसकी कंठध्वनि अन्यों से भिन्न, काँसे की बनी घंटी की ध्वनि जैसी प्रतिफलित होती है।''

''हाँ, हाँ, शेष सभी उसका अनुसरण ही कर पाएँगे। ऐसा पुत्र भाग्य से मिलता है। चलो, अब घर चलें।''

''हाँ, हाँ, गोधन के घर लौटने का समय हो चुका।'' सबने हड़बड़ाकर अपना काम पूरा किया। सबने बरतन-भांडे धोए। कपड़े पटके जाने लगे। पलभर में सब अपने-अपने काम पूरा कर अपने-अपने बरतन-कपड़े सँजोए वहाँ से चल पड़ीं। राह चलते पुनः याज्ञवल्क्य की बात उठी।

''एक बात थी! वह ऋग्वेद का पाठ पूर्ण कर अब सामवेद का अध्ययन कर रहा है। उन्हीं सामों को वह वीणा पर बजाता है।''

''अच्छा!''

''हाँ, और क्या ! आप लोग ही जाकर सुन आओ न !''

''उसकी कुटिया से वीणा-वादन सुनाई पड़ता था। मैंने उसका साम में होने की ओर ध्यान नहीं दिया था। मैंने सोचा, कोई गीत बजा रहा है।''

''अस्तु, वह इतनी कम आयु में त्रिवेदी बनेगा?''

''इसमें कोई शंका नहीं । यदि वहाँ एक वर्ष और ठहरेगा तो ब्रह्म-वेद सीखकर चतुर्वेदी बनेगा। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं।''

''अरे, उन पिता का पुत्र चतुर्वेदी बने तो इसमें आश्चर्य क्या है ?''

''हाँ, तुम्हारा कथन सही है। आश्रम आ गया। चलो अपने-अपने घर चलें। याज्ञवल्क्य कहीं भी रहे, सुखी रहे। चलो, चलें।''

ऊर्ध्व लोकवालों का संकल्प

कुलपति वैशंपायन जी सायं अग्निहोत्र संपन्न कर बैठे हुए थे। मन में कोई सोच नहीं थी, निरातंक सात्विकावस्था में प्रसन्नचित्त थे। अरंड के ते[illegible]रे दीप का मंद प्रकाश लोभी की संपत्ति सदृश दृष्ट-अदृष्ट रूप में बैठक में [illegible] कुलपति जी रुद्राध्याय का पाठ करते रहे।

सहसा बैठक में तीव्र प्रकाश आवृत हुआ तो कुलपति जी का पाठ स्थगित हुआ। जब भी वे पाठ किया करते देवताओं को साक्षात्करित किया नहीं करते। उनका अडिग विश्वास था कि परोक्षप्रिया वे देवा:, अर्थात् देवता सदा से परोक्षप्रिय ही हुआ करते हैं। इसलिए वे देवता साक्षात्कार के प्रति अनासक्त ही रहते तथा मानते–''देवता तो इस संसार के धर्माधिकारी होते हैं। यदि उनकी इच्छा होगी तो वे स्वयं प्रकट होंगे। हम उनके आदेशों का पालन भर किया करें।''

आज उन्होंने देखा कि एक तेजस् प्रकट हुआ है। मन व्यग्र होकर आगत व्यक्ति के उपचार के लिए तत्पर है। नेत्र दर्शनाकांक्षी होकर शेष सब तज चुके हैं। कान आगत महापुरुष की बातें सुनने के लिए आकुल हैं। जब तेजो-देही प्रकट होता है तब प्रसरित होनेवाली सूक्ष्म गंध का घ्राण लेते हुए नासिका उधर घूम जाती है। श्वास नियमबद्ध हो जाता है। जिह्वा स्तुति के लिए तत्पर हो आँखों के आदेश की प्रतीक्षा में हो चुकी है, जैसे स्नान के लिए जलराशि में पाँव धरते ही तब जल का स्पर्श देह-भर को व्याप जाता है वैसे ही अपने से प्रबल दैव सान्निध्य में रहते समय उनकी उपस्थिति की अनुभूति देह के कण-कण में होती है। कुलपति जी को रोमांच हो आया है; वे देह-भर को नेत्र बनाए प्रतीक्षा में हैं।

आगत व्यक्ति ने दर्शन दिया। वह सूर्य को आच्छादित कर रहे सफ़ेद मेघ की भाँति तेजस्वी है। आँखों को चौंधिया न देनेवाला एक प्रभा-मंडल बन गया है तथा उसमें एक आकृति दृग्गोचर हो रही है।

वह स्त्री की मूर्ति थी–मातृभाव संपन्ना, प्रेम की जीती-जागती वात्सल्य-मयी, करुणापूर्ण दृष्टि तथा प्रसन्ना। रत्नमय मुकुट धारण किए हुई हैं। कंठ में दिव्य मालाएँ हैं, अलौकिक कांति से भरपूर उसका मुख प्रसन्नता एवं गांभीर्य प्रतिबिंबित कर रहा है। वह भूमि के स्तर से कुछ ऊपर ही है, मानो चेतावनी दे रही हो–''मैं तुमसे ऊर्ध्व स्तर की हूँ, मेरे आदेश का उल्लंघन न करना।'' उसकी स्तुति में निरत चारण मृदु-मधुर-मंजुल सामगान कर रहे हैं जो व्यक्ताव्यक्त रूप में सुनाई दे रहा है।

माँ को पहचाननेवाले गोवत्स की भाँति किसी के न कहने पर भी कुलपति के मन ने उस मूर्ति को श्रुति भगवती के रूप में जान लिया है। वे झट से उठकर दंडवत करते हैं, मन से लघु-पूजा समर्पित कर हाथ जोड़े खड़े रह जाते हैं। मन में उनकी स्तुति करने की लालसा जगी है, किंतु यह नहीं सूझ रहा है कि किस प्रकार की जाए–इसी पसोपेश में फँसे हुए हैं।

भगवती ने ही बात आरंभ की–''स्तुति न करने पर कुलपति को खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। यदि आपके प्रयत्न के कारण मैं मूर्तरूप धारण कर आपको दर्शन देती हूँ तो स्तुति-पाठ का औचित्य हो सकता है। किंतु अब मैं स्वयं अपने कार्यार्थ आपके पास आई हूँ तो स्तुति आदि की कोई आवश्यकता नहीं।''

''जगन्माता, मैं आपकी बातों का प्रतिवाद करता हूँ, आप इस पर दुखी न होना। इन छात्रों का नेता होने के अहंभाव के कारण श्रुति भगवती के दर्शन पाकर भी मैंने स्तुति नहीं की– इस पर आप खिन्न न हों। आप मुझे ऐसी मनोबुद्धि प्रदान करें कि आपकी स्तुति कर कृतकृत्य बनूँ। आपके दर्शन से मेरी इंद्रियाँ कृतकृत्य हो चुकी हैं। उसी प्रकार से आपकी स्तुति से यह वाणी भी कृतकृत्य बने।''

''अस्तु, तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।''

कुलपति ने पुन: प्रणाम किया और उठ खड़े हुए। उत्तरीय को ठीक करते हुए स्तोत्र प्रारंभ किया। ज्यों-ज्यों वे स्तुति करने लगे, त्यों-त्यों उसका सूक्ष्म रूप स्थूल होता गया तथा जो मनोहर था, सात्विक था, वह अधिक मनोहर एवं अधिक सात्विक लगने लगा। इंद्रिय क्या, मनोबुद्धि ने चंचलता को तज दिया, वह स्थिर होकर माता का आदेश पूर्ण करने के लिए तत्पर हो गई।

माँ ने मुस्कुराते हुए कहा– ''कुलपति, मैं इस समय देवकार्यार्थ यहाँ आई हूँ। क्या तुम देवकार्य संपन्न करने के लिए उद्यत हो?''

कुलपति ने तत्क्षण उत्तर दिया–''सारा संसार देवताओं के अधीन है। अनजाने ही देवता अपना कार्य हमसे करवा लेते हैं। ऐसे में प्रार्थना क्यों? माता, देवताओं के आदेश को मानने के लिए मैं सर्वथा तत्पर हूँ।''

भगवती प्रकट में हँसी। एक बिजली-सी कौंध गई, उनकी दंतपंक्ति के चारों ओर कुछ प्रकाश-सा फैला। प्रशांत वातावरण में उसने कहा–''सत्य है, हम देवता-जन परोक्ष में ही अपना इच्छित कर्म करा लेते हैं। किंतु कर्मादि संपन्न कर जो परम पवित्र बने हुए हैं उन्हें हम अपनों जैसा मान प्रदान किया करते हैं। जिसने यज्ञ-यागादि कर्म निभाकर अपनी देह को ब्राह्म बना लिया है, देह-संसर्गजन्य रोगों का तपोबल से निवारण कर दिव्यभाव-संपन्नता प्राप्त कर जो विप्र बने हुए हैं, हम उन्हें देवकल्प (देवतासमान) ही माना करते हैं। अतएव भविष्य-निर्धारण करनेवाले हम उनको अपने में ओत-प्रोत कर क[illegible] करते हैं। अतएव

समस्त देवता भविष्य के लिए योजित–जगत् कल्याण के कार्य में तुमसे सहायक बनने का निवेदन करते हैं। क्या तुम उसे निभाओगे?''

''महामाता, जगत्–कल्याण से क्या आशय है—मुझे इससे अवगत कराएँ। आदिकाल से पंचभूत हैं, सृष्टि स्थित है एवं लय का क्रम भी वही रहा है। वही हानि है, वही वृद्धि है। ऐसे में जगत्–कल्याण की बात कहाँ से आई?''

''हाँ, तुम्हारा कथन यथार्थ है। चाहे नदी बनकर प्रवहित हो या बादल बनकर आकाश में छा जाए—कुल जल का परिमाण वही तो रहेगा। संसार में रहते हुए सबको प्रफुल्लित करते रहनेवाला तेज यद्यपि एक ही प्रकार का नहीं है, तथापि एक समान रहा है। ढलान में रखी वस्तु अपने भार के कारण जिस प्रकार नीचे की ओर सरकती है उसी प्रकार ज्यों–ज्यों समय सरकता जाता है त्यों–त्यों यह संसार भी जड़ बनता जाता है। प्रारंभ में जो धर्म अपने–आप प्रसरित था उसे अब प्रयत्न द्वारा साधना पड़ता है। जब ऐसा हो जाता है तब देवता–जन धर्म की वृद्धि के लिए प्रयास किया करते हैं। सकाम होकर यज्ञ–यागादियों से उनकी अभ्यर्थना करनेवालों पर देवता प्रसन्न होते हैं। किंतु श्रुति से अपश्रुति की ओर अवनत हो रहे संसार को ये कर्म पुनः श्रुतिमार्ग पर ले आने में समर्थ नहीं होते। उनको पुनः श्रुतिमार्ग पर लाने के लिए प्रमुखतया ब्रह्म–विद्या की शिक्षा देनेवाले निष्काम ब्रह्मर्षि को अवतार धारण करना पड़ेगा। मेरी बात कुलपति की समझ में आई है न? जो कुछ है उसकी रक्षा करने में कर्म समर्थ होंगे; पर नवनिर्माण संभव नहीं होगा। तो उद्धार का अर्थ है इस प्रकार का नवनिर्माण। अब क्या घट चुका है? हाँ, यह सच है कि कर्म यानी सद्गति प्राप्ति के लिए निर्धारित यज्ञ–यागादि हो रहे हैं। किंतु उसके द्वारा संसार में जिस ब्रह्मोपासना का प्रकटीकरण होना है वह तो अहंकार पूरित हो चुका है। जिसको जो सूझे, उसी को ब्रह्म कह देते हैं। इस प्रकार जो ब्रह्मोपासना एकदेशीय हो चुकी है, वह संसार के विनाश का कारण बनेगी। इसके विपरीत ब्रह्मोपासना एकदेशीय न होकर यथावत पूर्ण रूप से संपन्न होने की स्थिति से ही जगत्–कल्याण होगा।''

कुलपति ने इस कथन की सत्यता पर हामी भरी—

''तो देवकार्य को संपन्न करने के लिए मैं कटिबद्ध हूँ।''

''अब सुनो, इस प्रकार के उद्धार कार्य का निर्वहन हम देवता, पितृ एवं ऋषियों के दायित्व में आता है। अपने–आप तपस्या में निरत सप्तर्षिकल्प महापुरुष के पास हम तीनों गए। उसे हमने इस पृथ्वी पर भेज दिया। वह महापुरुष कर्म

एकदेशीय ब्रह्मोपासना से सर्वदेशीय पूर्ण रूप से सर्वव्यापक

भूमिष्ठ इस युग के लिए उपयुक्त कर्म की शिक्षा देनेवाली संहिता, ब्राह्मण तथा सर्वकालीन उपनिषद् इस संसार को देकर उसका उद्धार करेगा। वह आज तुम्हारा शिष्य बना हुआ है। जगत्-कल्याणार्थ तुम्हें उसे तजना होगा।''

''कौन याज्ञवल्क्य ही है न?''

''हाँ, मैं उसी तेजस्वी के विषय में कह रही हूँ। इस कार्य को संपन्न कराने के लिए देवर्षि, पितृ सब तुम्हारे पास आने से हिचक गए। जो तुम्हारा शिष्य बनने के लिए तुम्हारे पास आया है उसे बिना किसी कारण के तजने को कहने का साहस किसे होगा ! इसीलिए उन सभी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।''

कुलपति के हृदय में शल्य चुभ गया। वे कुछ भी कहने में असमर्थ हो गए। तथापि सूखती तालू को जिह्वा से स्पर्श करते हुए कुछ कहने का प्रयास करने लगे। कुलपति की यह दशा देखकर भगवती के मन को भी पीड़ा पहुँची, तो उसके मन की व्यथा को शांत करने के भाव में सांत्वना देते हुए कहा–

''हाँ, कुलपतिवर्य, तुम्हारे सभी शिष्यों में वह बड़ा तेजस्वी है। उसको तजने का तात्पर्य होगा तुम्हें अपनी देह से प्राण निकाल बाहर करना। तथापि देवकार्य के लिए निश्चय करो। उसे तजने के लिए तुम्हें एक कारण तो चाहिए ही। देवता उस कारण को जन्म देंगे। किंतु जब तक तुम स्वीकृति नहीं दोगे तब तक वे कुछ भी कर नहीं पाएँगे।''

''देवता-जन इतने निर्वीर्य तो नहीं होते!''

''दुःख के कारण ताव में आकर कह रहे हो कुलपति। हाँ, यह सच है कि जो तुम्हें मनाकर यह कार्य संपन्न करना चाहते हैं, वे बिना पूछे भी करने में समर्थ हैं। किंतु तुम्हारी स्वीकृति हो तो इस कार्य में तुम्हें भी भागी बनाएँगे।''

कुलपति अपने अनजाने ही शांत हो गए। पर उत्तम शिष्य के लोभ का संवरण नहीं कर पाए। तथापि उसने निवेदन किया–''भगवती के आदेश को शिरोधार्य करूँगा। किंतु एक निवेदन है कि इस महापुरुष को एक वर्ष तक मेरे साथ रहने दिया जाए।''

भगवती ने कहा–''अस्तु, किंतु यह देव रहस्य है, किसी पर प्रकट नहीं करना।'' यों कहकर वह अदृश्य हो गई।

कुलपति को लगा कि उसने उसकी सारी चेतना हर ली है। केवल देह को छोड़ दिया है। वे जहाँ थे, वहीं धँस गए।

न निगलते बनता है न उगलते

आचार्य देवरात प्रात:कर्मों से निवृत्त होकर बैठे हुए हैं। अब तो किंचित् उपहार ग्रहण करने की वेला है। किंतु उधर ध्यान नहीं है। कोई चिंता उन्हें व्याकुल किए हुई है। मन का कसाला देह में भी व्याप्त है। गृहस्वामी जब अस्वस्थ हो जाता है तब घर के मवेशी भी उदास हो जाते हैं। उसी प्रकार उसके अंग-अंग तेजोहीन हो चुके हैं। अध्ययनार्थ उपस्थित शिष्यों को एक वृद्ध शिष्य के वश में कर स्वयं चिंता में डूबे बैठे हैं।

आलंबिनी भी जानती है कि आचार्यजी ज्वर-ग्रस्त हैं। रसोई के काम में व्यस्त है तो भी उसको रोना आ जाता है। किंतु उसको रोने की आदत नहीं है। यद्यपि पति ने उसे सिर चढ़ाया नहीं, तथापि पति के संग अनन्य भाजन-सा स्थान उसे मिलता रहा है। यद्यपि पति उसकी हाँ में हाँ नहीं मिलाते, तथापि वह जानती है कि वे उसकी बात टालते भी नहीं। इसी विश्वास के कारण वह अपने कार्यों में श्रद्धा एवं उत्साह के साथ लग जाती है। उसको संतोष भी है कि उसके काम करने का ढंग किसी को मीन-मेख निकालने का अवसर नहीं देता।

यदि उसके कार्य में कोई कमी रह जाए तो बात का बतंगड़ बनाकर इसकी अवहेलना करने की प्रवृत्ति घर में नहीं। इसके विपरीत ऐसी कमियों को अनदेखा कर विशाल दृष्टि से निरखनेवाले बुज़ुर्ग ही आसपास हैं। उन बुज़ुर्गों ने उसे घर में देवी का स्थान दे रखा है। अतएव आँसू बहाने का अवसर ही कहाँ से आए!

कलवाली घटना पति-पत्नी के लिए बड़ी पेचीदा हो चुकी है। कल तक गुरुदेव वैशंपायन के गुरुकुल में संपूर्ण शिष्यवृंद में जिसको असमान गौरव प्राप्त था, आज वही पुत्र कुलपति जी का कोप-भाजन होकर घर लौटा है। अध्ययन के समय शिष्य के लोप के कारण या अनवधान के कारण कभी-कभी अकार्य घट जाता है। परंतु वह तो दोष होता है। वेद के प्रति अपराध ब्रह्म-हत्या है। उसको शनै:-शनै: क्षय करने के लिए आचार्य कुछ एक अंशों का पाठ करते हैं। यदि किसी दिन उनकी देह या मन:स्थिति वह पाठ करने की दशा में न होती तो कोई वृद्ध शिष्य उनके लिए यह पाठ कर देता है। इस प्रकार का दायित्व कभी-कभार याज्ञवल्क्य को निभाना पड़ा था। उस दिन याज्ञवल्क्य ने देखा कि गुरुदेव कुछ अस्वस्थ से दीख रहे थे। अतएव उसने उनसे निवेदन किया कि यदि अनुज्ञा मिले तो प्रायश्चिताध्ययन वही कर देगा। गुरुदेव एकदम उबल पड़े-''शेष छात्रों से

बढ़िया अध्ययन करने का अहंकार तुम पर चढ़ा है। विद्वान् को इस प्रकार का अहंभाव शोभा नहीं देता। इस प्रकार के अहंकार से दूसरों का अपमान होता है। अतएव हमने जो विद्या तुम्हें दी है वह मुझे प्रत्यर्पण कर दो।''

याज्ञवल्क्य ने कभी विनय तजा नहीं। किंतु गुरुवर्य के इस अकारण कोप से उसके मन को भी क्लेश हुआ। मन टूट गया, आक्रोश भी आया। आँखें भर आईं। तथापि सभ्यता का उल्लंघन किए बिना, उस आक्रोश की दशा में भी उसने नमस्कार किया और कहा–''यदि मुझसे अपराध हुआ हो तो मुझे क्षमा कर दें।''

अन्य दिनों की बात होती तो गुरुदेव को इस नमस्कार एवं क्षमायाचना के उपरांत शांत हो जाना था। किंतु न जाने क्यों, उसके इस विनय ने आग में घी का काम किया। गुरुजी तिल–मिला गए। कहा–''अपचार को विनय का अवगुंठन धारण कराना चाहता है? निकल जा यहाँ से। तू अब मेरे आश्रम में पलभर भी मत ठहर। हमारी विद्या हमें लौटा दे।''

इस भर्त्सना को सुनकर कुलपति की पत्नी कबंधिनी आगे बढ़ी। पति के सम्मुख अश्रुनयन होने पर भी नाग साँप के समान फुफकार से क्रोधाम्राक्ष शिष्य को देखकर वे आगे बढ़ीं और उसको अपनी ओट में लेते हुए पति के सामने स्वयं आ गईं। उसे भय था, चूँकि गुरु–शिष्य दोनों तपस्वी हैं, दोनों का क्रोध सीमातीत हो शाप–प्रतिशाप में परिणत हो सकता है। तब क्या हो? अतएव उसने तत्क्षण पति को नमस्कार कर हाथ जोड़े और कहा–''यहीं आपके क्रोध का उपसंहार हो। याज्ञवल्क्य को यहाँ से ले जाने की अनुज्ञा मिले।'' गुरुदेव ने अपने क्रोध का संवरण करते हुए जलती दृष्टि को उस ओर फेरकर कहा–''हाँ, ले जा।'' वह याज्ञवल्क्य को घसीटकर भीतर ले गईं। आचार्य स्नान के लिए उठे। दोपहर के उपरांत कुलपति का वैश्वदेव हुआ। तब कबंधिनी ने याज्ञवल्क्य को भोजन करवाया। यद्यपि उसको भोजन करने की इच्छा न हो रही थी, तथापि रस्म निभाया। फिर बिना किसी से कुछ कहे चोर की भाँति वह आश्रम से निकल गया।

पति–पत्नी ने पुत्र से सारा वाकया सुना। यह सोचकर कि कुलपति ने निष्कारण क्रोध किया है उनका अभिमान जाग उठा। पत्नी को संतोष था कि पुत्र ने उस दशा में भी विनय को बनाए रखा। पति तर्क कर रहे थे कि ब्रह्म–हत्या निवारणार्थ प्रायश्चिताध्ययन करने की इच्छा प्रकट की तो उसमें दोष क्या था? पर पत्नी यह सोचकर काँप गई कि कबंधिनी स्त्री जो हैं, यदि वह भविष्य की हानि की कल्पना कर बीच–बचाव नहीं करतीं तो न जाने क्या–क्या हो जाता! दोनों का मन

कुढ़ा हुआ था। पति जिस अध्यापन कार्य के अभ्यस्त थे, आज उन्हें उसकी ओर ध्यान नहीं था, पर पत्नी अभ्यास के बल रसोई बनाए बिना रह न पाई।

तालाब के बाँध तोड़कर आगे बढ़ने को संघर्षरत जलधारा की तरह दुख का आवेग इन दोनों को प्रताड़ित कर रहा था। सब कुछ अपहृत होने पर वे मूक-स्तब्ध हो बैठे रह गए। उसी समय किसी की मेघ-गर्जना-सी पुकार सुनाई पड़ी-''आचार्य।'' उस पुकार को सुनकर एक नई आशा बँध गई, मानो डूबते को तिनके का सहारा मिला हो। आँखें पनिया गईं। वे उठे और ''पधारें,कृपया पधारें,'' कहते हुए आगंतुक का स्वागत किया। उन्हें पादप्रक्षालन के लिए जल दिया। पुनः उन्हें बैठक में ले जाकर वेत्रासन पर बिठाया।

आलंबिनी ने भी वह पुकार सुनी। वह सोचने लगी- यह कड़कती आवाज़ किसकी हो सकती है? यदि मन की दशा अन्य दिनों-सी होती तो वह आसानी से उसे पहचान लेती। किंतु ऐसा नहीं हुआ। तथापि उसने अपने कर्तव्य का ध्यान कर एक कटोरे में दही लेकर उसमें शर्करा मिलाई ले आई।

आगत व्यक्ति बुडिलजी ही थे। उन्होंने पूछा-''क्या समाचार है?'' आचार्य विचार कर रहे थे कि पुत्र के बारे में उन्हें कह सुनाना चाहिए। किंतु कहाँ से आरंभ किया जाए इस उधेड़-बुन में थे कि इतने में आलंबिनी को दही के कटोरे के साथ द्वार पर खड़े पाया। बुडिलजी ने हँसते हुए पूछा-''आलंबम्मा, क्या समाचार है ?''उसको लगा कि शायद इनको भी इसकी भनक लग गई है। यह सोचकर उसकी आँखें भर आईं। किंतु किसी की अभ्यर्थना करते समय आँखों से अश्रु झरने देना उचित नहीं था, अतएव उसने सप्रयास आँसू रोककर कहा-''कुछ न कुछ होता रहता है। अस्तु, आप पहले अग्निदेव को उपशांत कर लें, उसके उपरांत बातें होंगी।''यो कहकर उसने कटोरा आगे कर दिया। किंतु ऐसा नहीं कि उसकी ध्वनि में क्लेश था ही नहीं।

बुडिलजी ने कहा-''अच्छा ! तो ठीक है।'' यों कहते हुए उन्होंने दही स्वीकार किया। उसका आनंद लेते हुए कहा-''दही जमाना भी एक कला है। तुमने तो उसमें निपुणता पा ली है। यह जमा हुआ दही है कि प्रस्तर खंड! ''दही का आस्वादन कर कटोरा नीचे रखते हुए प्रश्न किया- ''कहाँ है याज्ञवल्क्य ?''

दंपती को लगा, बुडिलजी को सब कुछ ज्ञात है। उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखा। पलभर रुककर फिर कहा-''लगता है, पिछवाड़े के बग़ीचे में है। मैं उसे बुला लाती हूँ। ''यों कहकर आलंबिनी चलने को हुई। बुडिलजी ने हाथ के संकेत

से उसे रोकते हुए कहा–''न, नहीं बुलाओ, वह स्वयं आएगा। कुछ समय बाद ही आए। तुम यहाँ ठहरो और मैं जो कहने जा रहा हूँ उसे सुनो।'' आलंबिनी रुक गई। बुडिलजी ने कहा–''आचार्य, आप अपने पुत्र के संबंध में विचारमग्न हैं। कल जो कुछ हुआ, वह आपके मन को आंदोलित किया हुआ है। किंतु उस बारे में आप निश्चिंत हो जाएँ। यह सब देवताओं द्वारा रचा खेल है। वहाँ एक ओर वैशंपायन जी हैं, इधर है आपका याज्ञवल्क्य। देवताओं ने इन दोनों को शतरंज की गोटियाँ बनाए हैं। मैं तुम दोनों को इसी के बारे में बताने आया हूँ।''

''अच्छा ! आपको यह सब कैसे मालूम हुआ ?''

''अरे भाई, वैशंपायन जी ने यों तो याज्ञवल्क्य को आश्रम–निकाला कर दिया, किंतु अब उनकी व्यथा का आर–पार नहीं। कल आधी रात में उन्होंने मेरे घर का द्वार खटखटाया। मेरे मन में विचार आया कि इस कु–वेला में कौन आया होगा?

''बाहर आकर देखता हूँ तो स्वयं वैशंपायन जी खड़े हैं। मुझे देखते ही उन्होंने मेरे चरण छुए और कहा– 'एक अपराध हो चुका है। आपसे विनती है कि आप ऐसा कुछ करें कि कोई अनर्थ न घट जाए।' उनकी आँखों में आँसू थे। मैं ज्यों–ज्यों उनको शांत करने का प्रयास करता त्यों–त्यों उनका दुख बढ़ता ही जाता। अंत में उन्होंने पूरा वृत्तांत सुनाया–'प्रात: से ही उसे लगा था कि कुछ अनहोनी घटित होगा। इसलिए मन अशांत था, तथापि अभ्यास के बल से अध्ययन कराया। जब सब चले गए तब याज्ञवल्क्य वहीं खड़ा रहा। उसने कहा–'लगता है कि आज आपका स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं। यदि अनुज्ञा मिले तो मैं आपके एवज़ में प्रायश्चिताध्ययन करूँगा।' इस पर वे भड़क उठे। उन्होंने आसमान सिर पर उठा लिया। भगवान् की कृपा थी कि कबंधिनी ने बीच–बचाव किया। अन्यथा न जाने क्या हो जाता ! इसी पर याज्ञवल्क्य को आश्रम–निकाला कर दिया। वैशंपायन ने कहा–'कोई दोष नहीं, यदि दोष है तो अकारण क्रोध किया न मैंने, मुझमें दोष है। उसके इस निर्गमन से उसे श्रेय ही मिले, इस आशय से मैंने अपनी संपूर्ण तपस्या उसे दे दी है। अतएव आचार्य दंपतियों से कहो कि याज्ञवल्क्य पर क्रोध न करें। उसे डाँटे भी नहीं। आप स्वयं जाकर उन्हें शांत कर आइए।' तो यों यह दायित्व मुझपर सौंपकर स्वयं रात को ही वहाँ से लौट गए। यह सब तुम्हें बताने के लिए यहाँ आया हूँ।''

''कारण कुछ भी हो, किंतु बुडिलजी का हमारे घर आना हमारे लिए सौभाग्य है। अस्तु, स्वयं कुलपतिजी हमारे घर पधारते ?''

''लगता है,उसमें कुछ रहस्य है। याज्ञवल्क्य के सामने वे यह बात प्रकट करना नहीं चाहते। इसीलिए वे नहीं आए। वटु के सामने प्रकट न करने में लौकिक से बढ़कर अलौकिक रहस्य ही महत्त्व का है। इसीलिए मैंने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा–'रहने दीजिए, उस दंपती को इस बात की जानकारी होने पर व्यथित नहीं होंगे। तो अब आप मुझ पर भरोसा कीजिए और व्यथा छोड़िए। जो तर्क से परे होता है, किसी अनहोनी के लिए कारण बन सकता है, उसी को हम दैवचित्त कहते हैं। अतएव यह भी दैवचित्त का परिणाम ही लगता है। यह जो हुआ, लगता है कि वह दैवकार्यार्थ ही हुआ है, कुलपति ने हँसते हुए मुझसे कहा–'मुझे भी वैसे ही लगता है। आपके इतना कहने पर मेरा दुख दूर हुआ।' यों कहते हुए जो रोते आए वे हँसते हुए चले गए।''

अब दंपती को लगा कि उनके सिर से एक बड़ा बोझ उतर गया। उनसे अनायास एक दीर्घ श्वास निकला। आश्वस्त मन से उन्होंने बुडिलजी को नमस्कार कर उनका उपकार स्मरण किया।

अब बुडिलजी बात बदलना चाहते थे। इसीलिए बड़ी चतुराई से पूछा–''अरे भाई, मेरा यहाँ आये इतना समय व्यतीत हो गया, पर याज्ञवल्क्य का पता नहीं,'' तभी याज्ञवल्क्य ने आकर नमस्कार किया और कहा–''नानाजी, ये लीजिए, मैं प्रस्तुत हूँ।''

उसका निश्चय

बुडिलजी ने कहा–''हम अभी तुम्हारे बारे में ही चर्चा कर रहे थे। क्या तुमने सब कुछ सुना?''

''नहीं नानाजी, जब मैं आया तब आप कह रहे थे–'जो रोते हुए आए, वे हँसते हुए चले गए।' पर मुझे मालूम नहीं हुआ कि वे कौन थे?''

''छोड़ो, कोई है। रुदन को दूर कर वहाँ हँसी खिलाना जो है, वह तो करना होगा! क्यों मैं ठीक कह रहा हूँ न!''

बुडिलजी उसको पल-भर यों ही देखते रहे, फिर कहा–''आचार्य, तुमने अपने पुत्र के चेहरे के लक्षण देखे है न? यह जो भी कहता है, वह सत्य कहता है।

यदि यह असत्य कहनेवाला होता तो इसके मुख पर ऐसा तेज नहीं उभरता। इसको देखने पर लगता है कि अभी अग्नि–कार्य संपन्न कर वह समस्त तेज अपने मुख पर धारण किए हुए है। इस प्रकार दीखनेवाला कुमार कभी असत्य कथन नहीं करेगा। यदि यह असत्य कथन करनेवाला होता तो उसके मुख पर अग्नि कहाँ से?''

आचार्य ने अपने पुत्र का मुख निहारा। माता अबतक पुत्र की पीठ की ओर थी, अब उसने सामने की ओर झुककर उसका मुख देखा। दोनों को हर्ष हुआ–हाँ, बुजुर्ग ने सच ही कहा है।

बुडिलजी ने याज्ञवल्क्य से पूछा–''कल क्या हुआ ? मुझे बताओ न !''

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हुआ। उसने वहाँ जो कुछ घटा था वह सब तथा कबंधिनी देवी के उपकार के बारे में संक्षेप में कह सुनाया। पुनः पूछा–''आपको यह कैसे मालूम हुआ?''

बुडिलजी ने हँसते हुए कहा–''बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी भी बात की सत्यता-असत्यता के बारे में पूछे, न कि उसके मूल–स्रोत के बारे में। समाचार कहीं से भी क्यों न मिला हो, एक बात तो स्पष्ट है। गुरु–शिष्य के बीच जो कुछ घट गया, वह अकारण घट चुका है। पर किसी को यह प्रिय नहीं रहा है। यों मनुष्य की पकड़ में न आनेवाले कई कारणों से जो कुछ घटता है उसी को दैवचित्त कहते हैं। अतएव जो कुछ बीत गया, उसके बारे में न सोचना। तुम यह विश्वास धारण करो कि भविष्य में इससे कुछ अच्छा होगा। अच्छा, तुम्हारे लिए भविष्य की क्या योजनाएँ हैं?''

''नानाजी, ऐसा नहीं कि आपकी बातों में तथ्य नहीं है। मैं कल रात-भर सोचता रहा। 'गुरुदेव,' पता नहीं कि अब मैं उनको ऐसा संबोधन कर सकता हूँ कि नहीं, तथापि वे हमारे सदा के गुरुदेव हैं। गुरुदेव ने कहा कि मुझे मेरी विद्या लौटा दो। जब मैंने मन में सोच लिया कि लो मैंने दे दिया, तो मुझे लगा कि एक तेजोमंडल मुझे छोड़कर ऊपर की ओर उठ गया। तब से अब तक मेरा मस्तिष्क एकदम रीता हो चुका है। पर मेरे सोचने की शक्ति कुंठित नहीं हुई है।

''आज प्रातः अग्निकार्य संपन्न करने के बाद मैं आँवले के वृक्ष की छाया में जा बैठा, अभी उठकर आ रहा हूँ। अब तक क्या किया ? केवल विचार करता रहा। गुरुदेव ने मुझसे कौन–सी वस्तु देने को कहा ? उस दृष्ट विद्या से उनका तात्पर्य क्या था ? तो मैंने कहा–दे दिया। पर इसका तात्पर्य क्या था? कल मैंने

वचन दिया कि अब भविष्य में अर्घ्य नहीं करनेवाला। किंतु पिताजी का वंश तो कर्मठों का है। यदि मैं कर्म तज दूँ तो वे बहुत दुखी होंगे। उनका पुत्र होकर उन्हें दुख देना नहीं। अतएव मैंने निश्चय किया कि यद्यपि मैं अर्घ्य को तज चुका हूँ, तथापि अर्घ्य का भार वहन करनेवालों के अनुकूलार्थ एक ब्राह्मण प्राप्त कराना होगा। उसके उपरांत ब्रह्म-विद्या की ओर बढ़ना होगा। मेरे पिताजी स्वयं आचार्य हैं, आप तो विद्या-बल से आचार्य बनने में समर्थ हैं। अब आप दोनों अग्नि एवं वायु जैसा यहाँ एकत्र हुए हैं। भविष्य में ब्राह्मण-कर्त्ता बननेवाले मुझे आदेश दें कि मुझे क्या करना होगा?''

याज्ञवल्क्य के कथन में यह विश्वास था कि यदि अपनी इच्छा पूर्ण होनी हो तो उन दोनों की सहायता एवं आशीर्वाद नितांत आवश्यक है। इसी विश्वास की अभिव्यक्ति के रूप में उसने उन्हें नमस्कार किया।

भूतल पर पड़े दंड के समान दंडवत् कर रहे याज्ञवल्क्य को उठाकर बुडिलजी ने अपने पार्श्व में बिठा लिया—''जब तुम्हारा जन्म हुआ तभी सत्याशिष्य प्रवर ने आशीर्वाद दिया कि तुम अतिपिता बनो, अतिपितामह बनो। अब तुमने जो माँग हमारे सामने प्रस्तुत की है वह तो अतिमानुषवाली बात है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि 'ब्राह्मण' की स्वतंत्र रूप में रचना हुई हो। उसकी पृष्ठभूमि में किसी वेद-शाखा का होना अनिवार्य है। और तो और, ब्राह्मण की रचना का तात्पर्य क्या है ? राजाज्ञा जैसा हमारे अंतरंग से ब्राह्मण के संकलन का प्रचोदन उभरना चाहिए। अन्यथा स्वप्रयत्न से जिस ब्राह्मण की रचना होती है उसको आस्तिक जन क्योंकर मानेंगे? रत्न यदि निज कांति से ओत-प्रोत होता है तो उसको रत्न होने की मान्यता मिलेगी। अन्यथा कृत्रिम रंग से रँगा हुआ हो तो पारखी उसे स्वीकार कैसे कर पाएँगे? अतएव तुम देवतोपासक बनकर उनका अनुग्रह प्राप्त करो। वह तुम्हारी इच्छा को स्वार्थ अर्जित कराएगा। तब तुम कृतकृत्य बनोगे। तो तुमने अर्घ्य को मना कर दिया है। अस्तु, अब राजकुमार की बात बताओ। उन्होंने कोई प्रस्ताव तो रखा होगा ?''

''नानाजी, वह आप तक आनेवाली बात नहीं। एक दिन हमारे विदेह कुमार उधर से निकले। लगता था कि किसी गुरुकुल से होकर आए हैं। हम तीन जन वहाँ बैठे अग्निहोत्र के बारे में बातें कर रहे थे। हमने सोचा, कल ये अभिषिक्त होकर राजा बनेंगे। अतएव हमने उठकर नमस्कार किया। वे भी रथ से उतरे। हम लोगों का अभिवादन कर उन्होंने हमें सम्मानित किया तथा विनयशील होकर पूछा—'आप

क्या कर रहे हैं ?' हमने कहा कि हम अग्नितत्त्व के विषय में विचिंतन में हैं। उन्होंने कहा–'हमें भी सुनाएँ।' जब हमने अपने चिंतन का तात्पर्य कह सुनाया तो कहा–'आप दोनों देखें–यद्यपि ये आयु में छोटे हैं तथापि आप लोगों से बढ़कर ज्ञानी हैं।' पुनः उन्होंने नमस्कार किया, और रथ पर सवार हो चल पड़े।

''उनके जाने तक ये दोनों चुप रहे। पर उनके जाने पर इनमें सुप्त रही विविदिषा जागी तो कहा, हम उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित करें।' मैंने इस प्रयास की निस्सारता को समझते हुए उन दोनों को रोका और कहा–'सुनो, हम ब्राह्मण हैं, वे हैं क्षत्रिय। यदि हम शास्त्रार्थ में विजयी हुए तो लोग कहेंगे कि अरे ये तो वचन–शूर ब्राह्मण जो हैं, विजयी हुए तो कौन–सा तीर मार लिया? इसके विपरीत यदि हम परास्त हो जाएँगे तो खिल्ली उड़ाएँगे–देखो न। ये ब्राह्मण पराजित हो गए।' कौन जाने शास्त्रार्थ में विजय होगी या पराजय! मेरी बात उन्हें सटीक लगी, तो वे चुप हो गए।

''किंतु मैं तटस्थ रह नहीं पाया। आश्रम में गया तो पाया कि गुरुदेवजी वहाँ नहीं थे। गुरुपत्नी से सब कुछ निवेदन किया तथा उनसे अनुज्ञा पाकर राजकुमार को खोजते हुए निकल पड़ा। उन्होंने पीछे से दौड़ लगाते आ रहे मुझे देखा तो रथ रोक लिया और कहा–'स्वागत है कुमार। बताइए कि कैसे आना हुआ ? पशुकामी होकर आए कि प्रश्नकामी होकर?' मैंने हड़बड़ी में कह दिया–'संभव है कि दोनों।' उसे सुनकर उन्होंने कहा–'एक तो संसिद्ध है, दूसरा साधनीय है। आदेश हो।' यह सुनकर मुझे ज्ञानोदय हुआ। मैंने कहा–'मैंने तो आपसे अग्नि–रहस्य जानना चाहा। किंतु आप द्वारा उच्चरित संसिद्ध, साधनीय शब्दों ने मेरी आँखें खोल दीं। जब मैं अग्नि मुख से अग्नि रहस्य को जान सकता हूँ तब आप जैसे मानव से उसे जानने की इच्छा करना सही नहीं था। आप मुझे क्षम्य समझिए।' यों कहकर राजाशीर्वाद दिया तथा उनके बार–बार अनुरोध करने पर भी वहाँ नहीं रुका, लौट पड़ा। मेरे लौटने से पूर्व उन्होंने निवेदन किया–'कुमार जब आप विद्याध्ययन–संपन्न हो जाएँ तब हमें अवश्य दर्शन देना। तब हम प्रश्नकाम होकर आपके द्वारा कल्याण कामना का अवसर चाहेंगे।' मैंने 'तथास्तु' कहा और वहाँ से चल दिया। अगले दिन राजभवन से सौ गायें तथा एक हाथी जैसा वृषभ हमारे आश्रम में भेज दिए गए। तब गुरुजी ने मुझे बुलाकर पूछा–'यह क्या हुआ याज्ञवल्क्य?' तब मैंने सारा ब्यौरा उन्हें कह सुनाया। बस, यद्यपि अब मैंने सारी विद्या उन्हें प्रत्यावर्तित कर दी है, एक अग्नि–रहस्य को जानने की ललक शेष रह गई है। अतएव कोई निदान न पाकर व्याकुल हूँ।''

बुडिलजी ने पूछा–''तुमने कहा कि तुम किसी सिद्धांत पर पहुँच गए हो। थोड़ा विस्तार से बताओ।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''आचार्य जी, मेरी स्पष्टोक्ति पर आपको क्रोध न आए। मेरी माता ने मुझे यह शरीर दिया है। पिताजी की कृपा से संस्कार प्राप्त कर ब्राह्मण बना हूँ। ब्राह्मण बनने के बाद ही मैं गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ। अपितु अब विधि ने मुझे गुरुकुल से प्रत्यावर्तित किया। पर इससे मेरे ब्राह्मणत्व को हानि कहाँ से हुई? गुरुदेव ने आदेश दिया कि 'मैं' रूपी भित्ति पर जो चित्र अंकित किया गया था उसे मिटा दो। इसका आशय कदापि नहीं कि भित्ति को ही गिरा दिया जाए। अतएव मेरा ब्राह्मण्य मेरे पास सुरक्षित है। अतएव जिन तीनों के व्याज से मैं ब्राह्मण बना हुआ हूँ उन्हें मैं कदापि नहीं तजूँगा। श्रद्धा सहित अग्निदेव की परिचर्या कर उन्हीं से उनके रहस्य को जान लूँगा। आपने कहा कि 'ब्राह्मण' कर्तृ बनना हो तो संहिता की आवश्यकता है। अस्तु, यह भी अग्निदेव से ही जान लूँगा कि संहिता की प्राप्ति के लिए किसके आश्रम में जाना होगा। अब मुझे आपका आदेश हो।''

वय में छोटा होने पर भी बात जो कर रहा है वह तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध जैसा है। उसमें कहीं कोई अविश्वास नहीं। पूर्ण श्रद्धा से कह रहे कुमार को देखकर बुडिलजी बड़े प्रसन्न हुए। आचार्य दंपती भी प्रसन्न थे। पुत्र दृढ़ता से, पर मंजुल वाणी में स्वतंत्र विचार प्रस्तुत कर रहा है। पर इस स्वतंत्र प्रवृत्ति में भी देवता-निर्भरता है। तो यह सचमुच कुलभूषण बनेगा।

बुडिलजी पल-भर मौन रहे। फिर आचार्य से पूछा–''क्यों आचार्य जी, आपके मन की सारी शंकाएँ दूर हो गईं न ?'' आचार्य ने सम्मति में सिर हिलाया, हाथ जोड़े। अब बुडिलजी कुमार की ओर उन्मुख हुए–''हाँ भई, तुमने उचित ही कहा। अग्नि ही हमारे नेता हैं। उनसे ही हमें गति है, मति है। वे ही हमारे लिए सब कुछ हैं। पर एक बात का ध्यान रहे। इस विश्वास से कि वे हम पर प्रसन्न हैं, यदि हम बार-बार उनका अनुसंधान करते रहेंगे तो उनका अनुग्रह हमारे लिए श्राप बनेगा। हमें अपनी ओर से पूरा प्रयास करना चाहिए। अंतिम स्तर पर जब हमारा मन संशयग्रस्त होता है, तब उससे परामर्श करना चाहिए। यही नहीं, षोडशवर्ष की वय प्राप्ति तक आचार्य के अधीन में रहना चाहिए। अतएव तुम अपने पिता से पूछ लो और उसके अनुसार कार्य करो। मेरी कही बातें याद रखो, वे सदा तुम्हारे स्मरण में रहें। तुम्हारे ये जो कर्म-अकर्म हैं, सब कुछ ज्ञान में परिवर्तित हो। इनमें कामोद्देश्य अवशिष्ट न रहे। तभी वे 'अखिल'बन पाएँगे। तुमने कर्मों को संपन्न

करने संबंधी ज्ञान पा लिया। किंतु कुछ अज्ञात कारणों से उसको हानि पहुँची। तुमने निर्णय लिया कि अब उनका विनियोग नहीं करूँगा। अब ब्रह्मज्ञान पाने के इच्छुक बने हो। किंतु उपनिषदों के ज्ञान को प्राप्त किए बिना उसको किसी ने पाया नहीं। अतएव तुम उपनिषदों को साधो। सर्वशक्त परमेश्वर तुम्हें संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद्—इन तीनों से अनुग्रहीत करें।''

''नानाजी, आपका आदेश शिरोधार्य है।'' उसने पुनः नमस्कार किया। अब पिता को भी नमस्कार कर उसने कहा—''सोलह वर्ष की आयु तक मैं आपके अधीन में हूँ, आप जैसा उचित समझें वैसा मेरा विनियोग करें।''

बुडिलजी ने प्रशंसा में सिर हिलाया और कहा—''हाँ, कुछ कहने के विचार से तुम मेरी ओर उन्मुख हुए। कह दो न! जब अवसर प्राप्त होता है तब जो भी कहना हो, कह देना चाहिए; अन्यथा जो बात अनकही रह गई; वह शल्य बनकर चुभती रहती है।'' उन्होंने कुमार को निकट बुलाया, उसे उत्साहित करते हुए पीठ थपथपाई।

इससे उत्साहित कुमार ने माता-पिता की अनुज्ञा पाकर कहा—''नानाजी, आपने आशीर्वाद दिया कि मैं उपनिषदों को प्राप्त करूँ। जब मैंने किसी अन्य के यज्ञ में ऋत्विज बनने का कर्म तज दिया है तब किसी अन्य परंपरा से कृतकृत्य बनने की दशा को क्यों स्वीकार करूँ? अतएव मैं ब्रह्म-विद्या प्राप्त करूँगा। अर्थात् मैं जो कुछ प्राप्त करूँगा वही उपनिषद बने। आप मुझे इस विषय में अनुगृहीत करें।''

''तुम अपनी बात और अधिक स्पष्ट करो।''

''अर्थात् मैं स्वयं एक उपनिषद का कर्ता बनना चाहता हूँ। अन्यों द्वारा रचे गए उपनिषद से कृतकृत्य बननेवाला परावलंबी नहीं।''

''साधु साधु याज्ञवल्क्य! आचार्य यह हुई मानोन्नति। अन्यों को नगण्य न बनाते हुए स्वयं महानता की सिद्धि के लिए प्रयास करने के मनोनिश्चय को आपने देखा न! साधु साधु याज्ञवल्क्य! तथास्तु, तुम्हारा चरित ही एक उपनिषद् बने।'' इस प्रकार बुडिलजी कुमार को आशीष देकर घर की ओर चल पड़े।

आचार्य ने उन्हें वैश्वदेव के लिए वहीं रोक लेने का प्रयास किया। किंतु बुडिलजी ने कहा कि मैंने स्वयं दो ब्राह्मणों को घर पर वैश्वदेव के लिए निमंत्रण दिया हुआ है।

वे द्वार तक गए, फिर रुके, मुड़कर देखा और कहा–''हाँ, तुम्हारे पुत्र के प्रसंग में उलझकर मैं अपनी बात भूल गया। हमारी बहू के प्रसव का समय आसन्न है, इसलिए उसके मायकेवाले उसे लिवा ले गए। कात्यायन भी उनके साथ गया हुआ है।'' यों कहकर वे चले गए।

द्वार पर आचार्यजी की गाड़ी तैयार खड़ी थी। आचार्यजी ने बुडिलजी को उसमें सवार कराया। तब तक कुमार भी पिताजी के संग ही रहा।

अग्निदेव की कृपा

देवरात पुत्र को पुनः यजुर्वेद का पाठ करा रहे हैं। वैसे ही उपनिषदों का भी अध्ययन हो चुका है। कुमार ने ऋग्वेदाध्ययन के लिए बुडिलजी का आश्रय लिया है। आचार्य चाहते हैं कि वह सामवेद का अध्ययन उद्दालकजी के यहाँ करे। किंतु पुत्र तो अग्निदेव की अनुज्ञा के बिना ऐसा कुछ करना नहीं चाहता।

यों एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया। यदि पिताजी किसी याग में अध्वर्यु बनकर जाते तो पुत्र को भी साथ ले जाते। वहाँ याज्ञवल्क्य पिता की बड़ी सहायता करता। वहाँ उसने कभी किसी से अविनय नहीं किया। इस प्रकार के भीमकाय व्यक्ति को यों विनयसंपन्न देख सभी कहा करते– ''अरे देखने में महासर्प–सा है, पर आचरण तो पुष्पाहार जैसा है। आचार्यजी का भाग्य कहो। अब इसके अध्वर्यु बनने के दिन दूर नहीं।'' जो अनजाने थे वे कुतूहल से पूछते– ''तुम्हारी शिक्षा कहाँ हुई?'' याज्ञवल्क्य अर्थभरी हँसी बिखेरते हुए पिताजी की ओर संकेत करता। शेष बुजुर्ग आशीर्वाद देते–''सुखी रहो, चिरंजीवी भव।'' याज्ञवल्क्य ऐसे आशीर्वाद को नमस्कार–पूर्वक ग्रहण करता।

अब घर के बग़ीचे में ही याज्ञवल्क्य के लिए एक कुटी बनाई गई है। वहाँ कुमार व्रतनिष्ठ रहा करता है। वह दूध के साथ हवि भोजन में खाता है, रात में केवल दूध पी लेता है। वह प्रातः तालाब में स्नान करता है, सूर्योदय तक जप करता है। वह सूर्योदय पर अर्घ्य प्रदान करता है; पुनः जप एवं सूर्योपासना; तदनंतर अग्नि–कार्य। फिर माता–पिता एवं यज्ञेश्वर को नमस्कार कर वह कुटी में जाता है। माता उसे वहीं भोजन ला देती है। कुमार की वीणा भी वहीं धरी होती है।

जब वह मंत्र पुनश्चरण करता नहीं होता, तब वीणावादन करता है। अब वह बुडिलजी के घर भी नहीं जाया करता।

एक दिन की बात है। आलंबिनी यों ही उसकी कुटी के पास गई। उसने देखा– कुटी में दीप प्रज्वलन से होनेवाला प्रकाश फैला हुआ है। आलंबिनी घबरानेवालियों में नहीं थी, तथापि भयभीत हो गई–पुत्र को कोई हानि तो नहीं हुई? कुटी में आग तो नहीं लगी है? किंतु न वहाँ धुआँ है, न लपटें। अतएव कुछ विलक्षणता की कल्पना कर वह बिना आहट के वहाँ पहुँची, याज्ञवल्क्य पद्मासन में ध्यान–मुद्रा में बैठा हुआ है। उसकी देह से ज्वाला उठ रही है। परंतु चेहरे पर कोई विकार नहीं। कुछ दूर पर सूखने के लिए बिछाए नए वस्त्र डंडों पर जैसे के तैसे हैं। आश्चर्य की बात है कि स्वयं वहाँ उपस्थित रहने पर भी ज्वाला के ताप की अनुभूति नहीं हो रही। ईंधन डालने पर जैसे ज्वाला की जिह्वाएँ पसरती हैं, वैसा कुछ भी नहीं है। घी के दीये में जलती बत्ती जैसी, बिना चंचल हुए घनीभूत ज्योति जल रही है।

आलंबिनी पल–भर खड़े रहकर देखती रही। हाँ, ज्वाला चंचल नहीं है; रत्न–प्रभा सदृश उद्‌भासित है। वह इसका अर्थ समझ नहीं पाई, तो उसने यज्ञेश्वर का स्मरण कर हाथ जोड़े और विनती की–''मैं जाकर उन्हें लिवा लाऊँगी। वे भी दर्शन कर लें।''

देवरात तंद्रा में हैं। जो सो रहे हैं उनको जगाएँ कैसे ? वह थोड़ी देर प्रतीक्षा करती रही। बाद में उसने धीरे से ताली बजाई। देवरात जाग गए, पूछा– ''कौन है?'' आलंबिनी ने धीरे से कहा–''क्यों, जग गए !''

देवरात ने पूछा–''क्यों, कोई बात है ?''

आलंबिनी ने कुटिया में जो कुछ देखा था, कह सुनाया। देवरात को भी आश्चर्य हुआ यह जानकर कि याज्ञवल्क्य आसन–मुद्रा में बैठा हुआ है। उसने कहा–''चलो देख आएँ।'' फिर उसने स्नानगृह में जाकर हाथ–पाँव धोए, शुद्धाचमन किया और कुटी की ओर चले।

हाँ, याज्ञवल्क्य ध्यान–मुद्रा में पद्मासन में बैठा हुआ है। उसके चारों ओर मंदनील वर्ण की ज्योति पसरी हुई है। यद्यपि वह ज्वलित है, तथापि वह आँखों को चौंधिया देनेवाली न होकर प्रिय एवं हितकर लग रही है। प्रतीत होता है कि वह स्वयं ज्योति बनकर निरातंक रूप से ज्वलित हो रहा है।

देवरात ने हाथ जोड़े, जहाँ खड़े थे वहीं परिक्रमा कर नमस्कार किया। मन में ही पंचोपचार समर्पित कर यज्ञदेव को पूजा समर्पित की और विनती की कि इसके रहस्य का उद्घाटन करें। तत्क्षण उनके मन में कौंध गया—आर्द्र हि ज्योति ज्वलति अर्थात् आर्द्र प्रकाश ज्वलित है।

देवरात ने पुनः नमस्कार कर मानस पूजा समर्पित की। उनकी चिकित्सक बुद्धि विचारमग्न हुई—'आर्द्र ज्योति तो आपो ज्योति होती है। वह तो केवल ध्यानस्थ को ही दीखती है। परंतु यों देह से निकलकर आभ्यंतर में दीखना—यह कैसे संभव हुआ? हाँ, यह भी सुना था कि ध्यान के एक स्तर पर यों ज्योति दीख पड़ती है। तो क्या याज्ञवल्क्य ज्योतिरूप स्तर तक पहुँच चुका है। अस्तु, कल प्रातःकाल तक उससे चर्चा नहीं करें।' यद्यपि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे, तथापि पिता होने का जो मोह था, वे निश्चिंत होना चाहते थे कि इस ज्योति से पुत्र को कुछ हानि न पहुँचे। इसलिए उन्होंने पुनः भीतर झाँककर देखा। अब उन्हें भरोसा हो गया कि कोई हानि नहीं है, वे पत्नी-संग वहाँ से लौटे।

पथ चलते उन्होंने पत्नी को सब कुछ कह सुनाया—''उपनयन के अवसर पर जब आचार्य गायत्री मंत्र का उपदेश देते हैं तब शिष्य को ज्योति का दर्शन कराते हैं। शिष्य को चाहिए कि स्वप्रयत्न से साधना में आगे बढ़ते हुए उसे सदा देखते रहने के स्तर पर पहुँचे। सुना था कि जब ध्यान परिपक्व हो जाता है तब अपने-आप ज्वालाएँ निकलती हैं। किंतु मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ है। अस्तु, कल कुमार से इस बारे में पूछेंगे।''

आलंबिनी ने सप्रयास पूछा—''ऐसे संदर्भों में आप बुडिलजी से परामर्श किया करते थे न?''

''हाँ, सच है, किंतु—''

''प्रातः तक सब्र कर लेना। आज तक हम स्वतंत्र थे। हम जैसा चाहते थे, वैसा कर सकते थे। पर अब कुमार स्वतंत्र है। हमने जो देखा, वह तो उसकी एक स्थिति भर है। अतएव उसी से पूछ लेना अच्छा होगा।''

आलंबिनी को बात समझ में आ गई। वह प्रातः होने की प्रतीक्षा बड़े कौतूहल के साथ करने लगी।

सुबह हुआ। बड़े तड़के ही वह उठी, सभी प्रातःकर्म संपन्न किए। अग्नि-परिचर्या भी हो गई। दही मथने लगी, तभी पुत्र आ गया और कहा—''माते, मैं नमस्कार करता हूँ।'' आलंबिनी ने प्रश्न किया—''क्या, उनसे मिलकर आए?''

पुत्र ने हँसकर कहा–''हाँ, मिला था। नमस्कार किया तो पार्श्व में बिठा... पूछा। कल जो अनुभव हुआ वह तो दूसरा था। जब मुझे ऐसा अनुभव होता है, तब अर्धचेतनावस्था होती है। अर्थात् यद्यपि बाहर की क्रिया की अनुभूति होती है, तथापि उसकी प्रतिक्रिया के रूप में कुछ भी किया नहीं जाता। तुम्हारा आना मालूम हुआ। पिताजी का आना भी मालूम हो गया। तुम दोनों ने धीमे से आपस में बात की, यह भी मैंने सुना। किंतु मैं आपकी बातों का कोई उत्तर देने की स्थिति में नहीं था।''

''पहले मैं आई तत्पश्चात् उन्हें लिवा लाई। तब तुम्हें स्पृहा थी क्या? क्या आँखें खुली रहीं? हम एक ओर खड़े थे, तुम्हें कैसे मालूम हुआ?''

''जब तुम आई, तब मैं स्पृहा में था। जब तुम पिताजी को लिवा लाई, तब भी मैं जागृत स्थिति में ही था। आँखें खुली रहीं। किंतु वास्तव में मेरी आँखें खुली न थीं। अर्थात् ये आँखें जो नाक के पार्श्व में भौंहों के नीचे हैं न! उनकी पलकें बंद थीं। पर सारी देह ही आँखें बनी थीं। मेरे चारों ओर, यहाँ तक कि मेरी पीठ पीछे जो भी था वह सब दिख रहा था। एक और विशेषता थी। मेरी दृष्टि में दीवारें भी प्रतिरोध उपस्थित नहीं करतीं। तुम द्वार खोलकर बगीचे में आई थी न, वह सब मुझे दीख रहा था।''

''किंतु वह क्या था जो ज्वाला-सी उठ रही थी? वह नीली ज्वाला तुम्हें जला नहीं रही थी ?''

''वह जलानेवाली ज्वाला नहीं। यदि वह ज्वाला जला पाती तो तुम्हारा पुत्र क्या तुम्हारे सम्मुख खड़ा रह पाता ? सुनो,वेदों में कहा गया है कि दृष्टि विशाल बनना हो तो आँखों को चाहिए कि वे आकाश सदृश बड़ी बनें । तो वही हुआ था, माँ। उपनयन के दिन सूर्य-मंडल ने सावित्र किरण को पकड़कर हृदय में भर लेने की शिक्षा दी। जब मैं आश्रम में था, तब साधना करता रहा; तथापि उससे आँखें आकाश सदृश बड़ी नहीं हुईं। यह बात आठ दिन पूर्व हुई। कल रात को दुबारा ऐसा हुआ। यह तो हो गया, अब मैं अपनी ओर से कुछ सुनाऊँ ?''

''हाँ'', माँ दही मथने का काम भूल गई। मथानी दीवार से सटाकर वह स्वयं भी उससे लगकर खड़ी हो गई।

''कल मैंने यज्ञेश्वर का पूर्णदर्शन पा लिया। अबतक मैं अग्नि-कुंड से उठ रही ज्वालाओं के बीच में देख पाता था; कल उन सब के अभाव में ज्वालमाला विभूषित यज्ञेश्वर के दर्शन हुए। मैंने पूजा की और पूछा-'आज ऐसा क्यों है?' यज्ञेश्वर ने कहा-'मैं एक न एक रूप में सदा तुम्हारे सामने रहता हूँ। यदि तुम नहीं

देख पाओ तो मेरा क्या दोष है? दिन में आदित्य बनकर उद्भासित होता हूँ। दिन-रात बिना किसी अवरोध के संचरित वायु भी मैं ही हूँ। अब जिस रूप में मैं तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ, यदि उस रूप में न दीख पड़ूँ तो क्या मैं अस्तित्व-विहीन हो जाऊँगा?'

''मैंने फिर पूछा–'आप देवता-जन हमारी तुलना में ज्येष्ठ हैं। यदि आप अपने रहस्यों से हमें अवगत न कराएँ तो हम जानें कैसे ?' इस पर यज्ञेश्वर ने हँसते हुए कहा– 'वह तो कुछ ऐसा ही सही है। अब देखो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, इसका परिचायक है तुम्हारी दृष्टि में विस्तार आना। तुम्हारी दृष्टि का अड़चन-रहित होना। तुम मध्याह्न के समय सूर्यदर्शन जो करते हो इससे तुम्हारी नाड़ियों में भरे मैल का नाश हो जाएगा। नाड़ी-शुद्धि से तुम्हें मेरा दर्शन प्राप्त होता है। मेरे दर्शन का परिचायक सात्विक तेज तुम्हारी नाड़ियों में प्रसरित होगा। आज तक जो प्राणशक्ति तुम्हें दृष्ट नहीं हो रही थी, वह इंद्रिय दृष्ट होकर नील ज्योति के रूप में देह से उन्मुक्त होगी। अब जो ज्योति ध्यानस्थ अवस्था में दृष्ट होती है, वह सहज रूप में दीखने लगे तो तुम्हें आदित्य का दर्शन होगा। अतएव आज से तुम मध्याह्न वेला में आदित्य को उपस्थापित करने के आशय से जब-जब अवसर मिले आदित्य-मंत्र का जाप किया करो। अब कुछ समयोपरांत तुम्हें घर तजना होगा।' पर उसने नहीं कहा कि मुझे कहाँ जाना होगा।''

''क्या तुमने पिताजी को ये सारी बातें कह सुनाईं ?''

''हाँ।''

''उन्होंने क्या कहा?''

''उन्होंने कहा–'जैसा मैंने सोचा था वैसा ही हुआ। मैंने तो केवल पवित्र मंत्र की ही चाह की थी। अब जब कि यज्ञेश्वर का आदेश हो चुका है तो कहने के लिए क्या शेष है ! अस्तु, आदित्य मंत्र जाप करो। बाद में ही घर तजना। उद्दालक जी का आश्रम है, वहीं हो आना।''

''कहने के लिए अब क्या रखा है ! तुम उद्दालक के आश्रम में जाओगे तो वहाँ तुम्हारा अध्ययन कैसे होगा? वे तो सामक (सामवेदज्ञ) हैं न?''

''माते, साम के दो प्रकार हैं– हिंकार साम, हुंकार साम। उसमें मंत्रों को विस्तार के साथ व्यूपरचना-क्रम में सँजाने का काम साम द्वारा ही सीखना पड़ता है। यही नहीं; उद्दालक तो ब्रह्मिष्ट हैं। उपनिषदों पर उनकी असीम श्रद्धा है। उनसे छांदोग्य और हमारी परंपरा से तैत्तरीय एवं कठ का अध्ययन करेंगे तो ठीक होगा।

और एक रहस्य भी तो है। तैत्तरीय महासंहिताओं एवं पंचात्मग संक्रमण विद्या के बारे में बताता है। कठ श्रेयोरूप आत्मविद्या का उपदेश देता है। छांदोग्य प्रधानतया अवस्थात्रय परीक्षण को स्पष्ट करता है। इन तीनों विद्याओं को सीखते-सीखते मैं बूढ़ा हो जाऊँगा।''

''तब तक मेरा क्या होगा, कौन जाने?''

तब तक बुडिलजी के घर से समाचार आया-''बुडिलजी का अंतिम क्षण सन्निकट है। उनका आदेश है कि याज्ञवल्क्य को साथ लेकर आचार्य दंपती आ जाएँ।''

आचार्य आतुरता से पत्नी के पास आए। पुत्र को भी वहीं पाकर उन्होंने कहा-''अच्छा हुआ कि तुम भी यहीं हो। बुडिलजी का संदेश है कि हम तीनों वहाँ जाएँ। याज्ञवल्क्य तुम अभी चले जाना। हम तुम्हारा अनुसरण करेंगे। वे तो तुम्हें बहुत चाहते हैं। ''

याज्ञवल्क्य ने हामी भरी, जैसा था वैसे ही चल पड़ा।

बुडिलजी का निष्क्रमण

जब तक याज्ञवल्क्य वहाँ पहुँचा, तब तक बुडिलजी ने स्नान कर शुद्धाचमन कर लिया था। परिशुद्ध धौतांबर पहनकर वे श्वेत वस्त्राच्छादित दर्भास्तरण पर लेटे हुए थे। कात्यायन पार्श्व में बैठकर मंत्र-पाठ कर रहा था। कुछ समयोपरांत आचार्य दंपती भी पधारे।

बुडिलजी ने याज्ञवल्क्य को पार्श्व में बिठा लिया और उसका हाथ अपने हाथ में लिया। प्रसन्न-चित्त होकर उन्होंने आचार्य दंपती को निकट बुलाया और कहा- ''आपके दर्शन की प्रतीक्षा थी। अब मुझे प्रस्थान की अनुज्ञा दें।''

पार्श्व में बैठे हुए भार्गव ने आपत्ति उठाते हुए कहा-''आप तो हमें समझाते रहते हैं कि सदा शुभाशंसन किया करो। पर आप तो उसके विपरीत आचरण कर रहे हैं।''

यह सुनकर बुडिलजी हँसे- ''हाँ, तो आचार्य तुम ही कहो ना ? मोह मुझे भी छोड़ नहीं रहा। अब हमारी कात्यायनी चार वर्ष की हो चुकी है। मोह तो होता

है कि उसके विवाह–पर्यंत जीवित रहूँ। अर्थात् अभी कितने वर्ष जीना होगा ? चार–पाँच वर्ष तक रहना पड़ेगा। उसके उपरांत और कोई इच्छा जागेगी। शायद पड़पोते का मुँह देखना चाहूँ ! उसके बाद और कुछ; तो अब इस बढ़ते मोह का अंत कहाँ ! अतएव क्या यह ठीक नहीं लगता कि जब छूटना है तब छोड़ दूँ ? इसके विपरीत बढ़ती आशा के चंगुल में फँस जाऊँ? सहस्रचंद दर्शन हो चुका, अब बहुत हो गया। हम आशा–मोह से कब मुक्त होंगे? अतएव बस करता हूँ। मैंने सद्गति की आस कभी की नहीं। आप सब आचार–वृद्ध हैं, तपोनिष्ठ हैं।आपकी उपस्थिति में इस देह को त्यागकर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। तो ये भार्गव जी बाधा उपस्थित कर रहे हैं। भार्गव सुनो, वहाँ यहाँ से अधिक आनंद मिलता है। अतएव चिंता–मुक्त हो जाओ।''तब तक बुडिलजी त्राण खो चुके थे। थोड़ा–सा जल ग्रहणकर विश्राम किया। फिर कहा–''मैं 'मेरा' वाली बात को रहने दो। मैंने तुम तीनों को यहाँ क्यों बुला लिया– इसका कारण बताता हूँ। आचार्य दंपती, मैं आपसे एक वरदान चाहता हूँ। मेरी पौत्री कात्यायनी को अपनी बहू बनाना होगा। मैंने इसी आशय से याज्ञवल्क्य को अपना शिष्य बनाने से रोका। क्यों, याज्ञवल्क्य इस कारण तुम्हें मेरे प्रति दौर्मनस्य तो नहीं ? यदि है तो उसे तज दो। मुझे वचन दो ताकि मैं निश्चिंत हो प्राण तजूँ।''

आचार्य दंपती ने याज्ञवल्क्य की ओर देखा। वह सहास बोला- ''इस जन्म में आपका आदेश वेद–वाक्य सदृश है।''

आचार्य को तत्क्षण स्मरण हो आया। वे कभी–कभी सोचा करते थे कि यदि पुत्र ब्रह्म–विद्योपासक बनकर कर्म–संन्यास ग्रहण करे तो उसके लिए कोई निस्तार ही नहीं रहेगा। किंतु अब इस विवाह–प्रस्ताव की स्वीकृति से वह संभावना टल जाएगी तो शुभ ही होगा। यद्यपि उनकी इस पर स्वीकृति यांत्रिक क्रियामात्र थी, तथापि उसमें प्रसन्नता थी। दंपती ने हामी भर दी।

बुडिलजी ने कहा–''एक बात की निश्चिंतता तो हो गई। अब एक बात और सुन लें। परसों उद्दालक जी पधारे थे। तुम अपने पुत्र को उनके यहाँ कुछ वर्ष तक रहने देना। वे ब्रह्मनिष्ठ हैं, कई रहस्यों के ज्ञाता हैं। उन्होंने आरंभ में आनाकानी की– अन्य गुरुओं के शिष्यों को मैं क्यों ग्रहण करूँ ? मैंने उन्हें सब प्रकार से समझाया। उनके हाँ कहने तक मैंने उन्हें नहीं छोड़ा। कुमार उनके यहाँ सामवेद एवं ब्रह्म–विद्या का अध्ययन करे। मेरी बात सुनो। याज्ञवल्क्य, मुझे मालूम है कि तुम्हें आश्रमों से अरुचि हो गई है। किंतु मुझ वृद्ध की बात का मान रखो। भविष्य में सब शुभ होगा।''

उनकी साँसें उखडने लगीं, वे शक्तिहीन होते जा रहे थे। जो [illegible] बहिर्मुख हो सभी से बातें करते रहे, अब आकाश की ओर देखते हुए उठ बैठे, [illegible] जोड़े और कहा–''यह देखो हमारे पितृ आए हैं। कोई है ? अर्घ्य-पाद्य के लिए [illegible] ले आना, उन्हें आसन प्रदान करना, अल्पाहार की व्यवस्था करना।'' [illegible] याज्ञवल्क्य की ओर मुड़े–''देखो, चूँकि तुम यहाँ हो इसलिए वे आए हुए हैं। [illegible] परम धन्य है!'' यों कहते हुए वे बहुत प्रसन्न हुए।

अब थकावट और बलवती होती गई। बुडिलजी की अंतिम घड़ी [illegible] है–यह जानकर वैशंपायन और उद्दालक भी आए। कात्यायन तथा भार्गव दौड़े [illegible] गए और उनको लिवा लाए। बुडिलजी की शय्या के पार्श्व में बैठा हुआ याज्ञवल्क्य उठकर थोड़ा अलग खड़ा हो गया। आचार्य आदि ने मौन रहकर उनका स्वागत किया। अनेक महानुभावों की दृष्टि बुडिलजी पर थी।

बुडिलजी ने बड़े प्रयास से हाथ जोड़े–''हमारे पितृ बुला रहे हैं। मुझे उन्होंने अभी अनुज्ञा दी। मैं जा रहा हूँ। कह रहे थे कि मुझे ब्रह्मलोक में स्थान मिलनेवाला है। अनुज्ञा हो, विदा!'' यों कहकर पुनः हाथ जोड़े। इधर-उधर देखकर पूछा–''कहाँ है हमारा याज्ञवल्क्य?'' जब वह इनके निकट आ गया तब उससे कहा-''भई, मैं चला, मुझे अनुज्ञा मिले।''अब वे निश्चल हो गए।

वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य को देखा। ऐसी परिस्थितियों में भी उन्होंने बड़े आदर से उसे अपनी ओर खींच लिया। यद्यपि वे कुछ नहीं बोल रहे थे, तथापि उनकी गीली आँखें बातों से अधिक कुछ कह रही थीं। याज्ञवल्क्य ने सिर झुका लिया। यद्यपि उसका मुख दीख नहीं रहा था, तथापि विनय से झुकी देह की मुद्रा निस्संदेह गुरु-भक्ति को अभिव्यक्त कर रही थी।

नव्य बना

आजकल याज्ञवल्क्य उद्दालक जी के पास रह रहा है। उद्दालक जी ने कहा–''कुछ भी कहो, तुम अन्य शिष्य हो। अतएव मैं तुम्हें शिक्षा दूँ, यह उचित नहीं होगा। अतएव तुम ऐसा करो–तुम्हें जो भी विषय अनबूझा रहे, मेरे पास ले आना। उसके बारे में 'यथाशास्त्र' विचार करेंगे।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''आपका कथन शास्त्र-सम्मत है, इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु ऐसा करने से समान-तुल्य अंतेवासियों द्वारा जितनी विद्या प्राप्त हो सकती है वही मिलेगी, गुरु द्वारा प्राप्त होनेवाली पारंपरिक शुद्ध बीज-विद्या नहीं देगी। तो क्या किया जाए !''

उद्दालक जी ने प्रशंसा में सिर हिलाया–''हाँ, सत्य है। ऐसा करो कि परंपरा को गुरु द्वारा जान लेना एक क्रम होता है। इसके अतिरिक्त समान स्तर वालों से तथा वृद्धों से जो सीखी जाती है उसे देवताओं को समर्पित कर उस पर उनकी सम्मति प्राप्त करना दूसरा क्रम होता है। पहला क्रम संभव नहीं हो तो दूसरे क्रम का अनुसरण करो। मेरे संग शास्त्रार्थ से जो कुछ प्राप्त करोगे उस पर देवताओं की सम्मति प्राप्त कर लो तथा उसे परंपरापुष्ट बना लो। पूर्व में मन्वंतर में समस्त वेद खिल हो गए, तब सप्तर्षियों ने तपस्या द्वारा पुनः प्राप्त किया। तुम भी ऐसा ही करो। अभी तुमने प्राणदेव एवं अग्निदेव की कृपा अर्जित कर ली है। अब आदित्य-देव की कृपा प्राप्त करना शेष रह गया है। उनका अनुसंधान करो। वे तो प्रत्यक्ष देवता हैं। वे सत्वर कृपा करेंगे। उनकी कृपा प्राप्त कर लो। यदि उनकी सम्मति मिले तो अचेतन भी चेतनापूर्ण बन जाएगा।''

''हाँ, यह तो है।''

''तो क्या यह सत्य तुम्हें अनुभव से ज्ञात हो चुका है ?''

''हाँ, मेरे इस आश्रम में आने से दो दिन पूर्व हमारे घर के बगीचे का आँवला वृक्ष सहसा सूख गया। माता जी ने सोचा कि जड़ में दीमक लगे होंगे। तो दासों द्वारा वहाँ खुदवाकर देखा। जड़ में दीमक नहीं लगे थे। तभी पिताजी उधर आए, वृक्ष को देखकर कहा– 'न जाने यह वृक्ष क्यों सूख गया ! यदि कोई मंत्रसिद्ध पुरुष यहाँ होते तो इसको पुनर्जीवन देते।' माता ने पूछा–'वह कैसे संभव होगा?' उन्होंने कहा, 'अभ्यूहन मंत्र जो है, उसके ज्ञाता जल को अभिमंत्रित कर इस पर प्रोक्षित करेंगे तो इसमें कोंपलें उग आएँगी।' उनके पार्श्व में खड़ा होकर मैंने यह सुना। रात-भर यज्ञेश्वर का अनुसंधान कर उन्हें पिता की बात कह सुनाई। वे हँसे और कहा–'क्यों, महर्षि को अचतेन को चेतन बनाने का उन्माद हो गया है ? पर ये सब क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। परंतु इनकी प्राप्ति से ही यह अनुभूत होगा कि हम जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह सही है। अस्तु, तुम प्राण देव से कहो कि मेरे आदेश के कारण तुमने उनकी प्रार्थना की है। वे आगे की बात समझाएँगे। 'यों कहकर वे अदृश्य हो गए।''

ज्यों ही उद्दालक जी ने अग्निदेव द्वारा याज्ञवल्क्य को महर्षि संबोधित करने की बात सुनी त्यों ही वे सजग हो गए। किंतु बीच में बोलना ठीक न समझते हुए चुप ही रहे। अब चूँकि बात एक स्तर पर आ रुकी थी, उन्हें लगा कि उसके बारे में बात की जाए। किंतु उसे प्रमुख विचार न मानते हुए वे आगे की बात सुनने के लिए तत्पर हुए। उन्होंने प्रश्न किया ''अच्छा, इसके बाद क्या हुआ?''

अब उनके प्रवर्तन में पूर्व की तुलना में गौरव बढ़ गया था। तब केवल उपचार के लिए याज्ञवल्क्य को समान स्तर का माना था। अब कायतः उसे सम्मानित मान लिया था।

याज्ञवल्क्य ने कहा–''उसके उपरांत यज्ञेश्वर के आदेश पर प्राणदेव का अनुसंधान किया। प्राणदेव ने दर्शन देकर कहा–'तुम यज्ञेश्वर की कृपा से महर्षि बने हो। तुम जो भी माँगोगे वह तुम्हें देने के लिए देवता–जन तत्पर हैं। पर तुम्हारे मन में जो भी चाह उभरे वह सब न माँग बैठना। मैं प्रस्तुत विषय पर चर्चा करूँगा, सुनो। मैं जिस प्रकार देहगत रहकर प्राण कहलाता हूँ, उसी तरह संसार–भर में व्याप्त हूँ। इसीलिए ज्ञानियों ने मुझे मुख्य प्राण अभिदान दिया है। प्राण से मुख्य प्राण को प्रत्येकित कर पहचानने की क्रिया ही प्राणोपासना है। तुम अब मेरी अर्चना मुख्य प्राण के रूप में कर अभ्यूहन मंत्रोच्चारण के साथ इस वृक्ष को अभिमंत्रित करना। देखते जाना कि क्या–क्या होता है ?'' यों कहकर उन्होंने अभ्यूहन मंत्र का उपदेश दिया।

उद्दालक जी ने प्रशंसा में सिर हिलाया। उन्हें उपनयन–संस्कार का स्मरण हो आया–'तब तो प्राण के लिए ब्रह्मचर्या का उपदेश दिया करते हैं। उसने उसकी साधना द्वारा प्राणदेव की कृपा प्राप्त कर ली है। ऐसे शिष्य को तजते वक़्त यदि वैशंपायन ने आँसू बहाए तो इसमें क्या आश्चर्य है? हम भी भाग्यशाली हैं कि यह हमारे पास आया। हमें जो कुछ ज्ञात है वह सब कुछ इसे देकर इसको ब्रह्म–विद्वरिष्ठ बनाना होगा।' यों विचारकर उन्होंने पूछा–''तो बाद में क्या हुआ?''

''प्रातः हुआ, सूर्य कुछ ऊपर चढ़ गया। तब मैं माँ के पास गया। उसे बुला लाया–'माते, यदि तुम्हारा आदेश हो तो मैं इस वृक्ष को हरा भरा कर दूँ।' वह मेरी बात पर विश्वास कर न पाई। अविश्वास भी कैसे करती, तो भी उसने कहा–'हाँ,ऐसा ही करो। यदि मेरे आशीर्वाद से तुममें ऐसी शक्ति संचरित होगी तो मैं क्यों न करूँ? अस्तु, वृक्ष हरा–भरा होगा!' तो मैंने तत्क्षण कमंडल में से जल अंजुली में भरकर अभ्यूहन मंत्र से अभिमंत्रित कर उस वृक्ष पर सिंचन कर दिया। अगले क्षण मन को

कुछ भान हुआ। सिर उठाकर देखा—यत्र–तत्र कोंपलें दीखीं। मैंने माता को दिखाया। माता को सहसा विश्वास नहीं हुआ। उसने आँखें मूँद लीं, फिर आँखें खोलीं, देखा अब तो सारा वृक्ष हरा–भरा हो गया है। दौड़ती हुई गईं, पिताजी को बुला लाईं। उन्होंने देखा तो पूछा—'यह किसका प्रभाव है?' माता ने मेरी ओर संकेत किया। वे विस्मित थे, मुझसे पूछा—'यह कैसे कर दिया ? क्या मंत्र सिद्धि से !' तब मैंने जो कुछ घटा था, सब कह सुनाया। और कहा—'कल आपने अभ्यूहन मंत्र का उल्लेख किया। उसी से यह सब कुछ संभव हुआ।' वे अभिभूत हुए। माता का अभिनंदन करते हुए कहा—'आलंबिनी, वीर–पुत्र को जन्म देकर वंश का उद्धार कर दिया।' पुनः मुझसे कहा—'पुत्र, तुम महर्षितुल्य बन गए। आज से हम तुम्हारे लिए स्मारक मात्र हो गए, शिक्षक नहीं। भविष्य में क्या करना होगा—इसे तुम देवताओं से जानो। कृतकृत्य बनो—किंतु मुझे एक वरदान चाहिए। हमारा तो कर्मठों का वंश है। सत्कर्म ही इस वंश की संपत्ति है। उसे तजना नहीं। तुम इससे आगे बढ़ जाओ तो हम तुम्हें रोकेंगे नहीं। आगे बढ़ो, हम मना नहीं करते। किंतु कर्म को तजना नहीं। यही मेरे लिए तुम्हारा वरदान होगा। क्यों मान्य करोगे न?' उनकी बातें सुनकर मेरी आँखें भर आईं। उन्हें नमस्कार किया। हाथ जोड़कर कहा—'जब तक सारे कर्म संपन्न नहीं हो जाते मैं ब्रह्म–विद्या की ओर जाऊँगा नहीं। देवता–जन मेरे इस प्रण की लाज रखें'।''

उद्दालक जी आश्चर्य में पड़ गए। उन्हें भान हो रहा था कि सामने प्राचीन काल का कोई महर्षि बैठा हुआ है। किंतु वय में अपने से छोटा होने के कारण अपने स्थान की गरिमा को बनाए रखते हुए कहा—

''तो तुमने पिताजी को वचन दिया है ?''

''हाँ, किंतु मुझे सूझ नहीं रहा कि उसे निभाने के लिए क्या करना होगा। उसी दिन मैंने प्रतिज्ञा की है कि जो यजुर्वेद आज प्रचलन में है उसका विनियोग मैं नहीं करनेवाला। अब जब संहिता ही नहीं होगी, ब्राह्मण कहाँ से आए ? संहिता एवं ब्राह्मण के न होने पर उपनिषद तो होंगे ही नहीं। यही चिंता खाए जा रही है।''

''चिंता मत करो। संहिता एवं ब्राह्मण को तज दो। तुम्हें जिन यज्ञेश्वर एवं प्राणदेव की कृपा हुई है उनसे युगल–संहिता ब्राह्मणों को प्राप्त करो। उपनिषद तो किसी वर्ग विशेष की संपदा नहीं होती। किसी से भी उसका परिग्रह करो।''

''तो आप कह रहे हैं कि मैं संहिता के मंत्रों एवं उसकी व्याख्या करनेवाले ब्राह्मण दोनों को नव्य रूप में प्राप्त करूँ ?''

''हाँ, मैंने तभी कहा न ! तुम देवताओं से प्राप्त करने का प्रयास करो। तब वे नव्य बनेंगे। आज बहुत समय व्यतीत हो चुका है। फिर कभी इस पर बात करेंगे।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''यथाज्ञापयति भगवान् !'' वह नमस्कार कर चल पड़ा। उद्दालक जी ने बाह्यरूप में उसका नमस्कार ग्रहण किया, पर भीतर से स्वयं नमस्कार किया।

वैराग्य तो पूर्णत्व का परिचायक है

कुलपति उद्दालक जी किसी याग में भागी होने के लिए काशी गए हुए थे। आश्रम उनकी पत्नी आलापिनी के अधीन था। भिन्न–भिन्न शाखाओं में जो कुछ होता, उसका ब्यौरा शिष्य उनको दिया करते। यदि कभी अवसर मिलता तो याज्ञवल्क्य अध्ययनवेला में उन वर्गों में चला जाता। यदि कुलपति होते तो उनके संग, अन्यथा उनकी पत्नी के संग किसी न किसी विचार में मग्न रहता। किंतु उसे अवकाश ही कम मिलता, क्योंकि वह प्रात: से संध्या तक अत्यधिक जप में मग्न रहता।

आलापिनी आकर वेत्रासन पर आसीन हुई है। याज्ञवल्क्य उससे नाति–दूर पर सविनय भूमि पर दर्भासन पर बैठा हुआ है। आलापिनी कह रही है–''याज्ञवल्क्य, उन्होंने जो कहा वह सटीक है, ब्रह्मविद्या कृपा से आती है, अन्य विद्याएँ स्वप्रयत्न से प्राप्त कर सकते हैं। किंतु ब्रह्मविद्या की बात के संदर्भ में ऐसा नहीं। उसको पक्व बनना चाहिए। पक्व बनने से पूर्व उसको सही मात्रा में फलित होना चाहिए। यदि फल पौधे में ही परिपक्वता प्राप्त करता है तो उसके स्वाद का क्या कहना ! यदि ऐसा नहीं हुआ तो उसे पकने के लिए आवश्यक परिवेश का निर्माण करना होगा। तब भी उसके फलित होने की पूर्व स्थिति होनी चाहिए। वही स्थिति ब्रह्म विद्या की भी है। जब तक किसी का प्राचीन पक्व नहीं होता, तब तक उसे गुरु नहीं मिलते। जिनको गुरु नहीं मिलते, उनको ब्रह्म विद्या प्राप्त नहीं होती।''

याज्ञवल्क्य ने हाथ जोड़कर हँसमुख होकर पूछा–''अस्तु, गुरु के मिलने के बाद भी ऐसी स्थिति में जो है कि वह न मिलने के बराबर है तो उसका क्या होगा?''

''तुम्हारी तो एक अजीब स्थिति है। तुम हो भी एक अजूबा, चूँकि तुम्हारे मानव-गुरु नहीं रहे, तुम्हें देवता-गुरु प्राप्त हुआ। वैशंपायन ने तुम्हें भेज दिया। तथापि तुम्हें क्या कमी हुई ? तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें स्व-शाखा का अध्ययन कराया, बुडिलजी ने ऋग्वेद की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित किया। अब 'इन्होंने' (इशारा उद्दालक की ओर था) तुम्हें साम का स्मरण कराया। अब तो अग्निदेव एवं प्राणदेव कृपालु हो गए। प्रस्तुत आदित्य देव की तपस्या कर रहे हो। यदि उनकी कृपा हो गई तो उसके बाद तुम्हें रोकनेवाला कोई नहीं होगा। मैं ब्रह्म-विद्या की बात कर रही थी। आगे उसी पर बात करूँ या यहीं रोक दूँ ?''

''नहीं, आगे कीजिए।''

''तुम लोग शांति-मंत्रों में कहते हो न कि हमारे सारे अंग तुष्ट बनें। वह सही है। जब तक देह के अंगांग तृप्त व संतुष्ट होकर पथ न बना दें तब तक ब्रह्म-विद्या का लाभ नहीं होता। जानते हो क्यों ? प्रत्येक अंग एक देवता-स्थान होता है। जिस अंग को तृप्ति नहीं मिलती उससे संबंधित विषय की इच्छा शेष रह जाती है, इसलिए विराग कुंठित हो जाता है। उस स्थिति में वैराग्य स्वेच्छा से तजी प्रवृत्ति नहीं होती, हारकर विमुख होना हो जाता है। अर्थात् वह दशा बैल का ब्रह्मचर्य-सा, जल में रहकर तपस्या कर रही मछली-सा, पशुओं के वनवास-सा हो जाता है। जिसमें प्रयास नहीं, वहाँ वैराग्य नहीं। हमें विधिमुख होकर देखना होगा। याज्ञवल्क्य, वैराग्य निषेध द्वारा प्राप्त होनेवाली स्थिति नहीं। वैराग्य तो अपूर्ण मानव का पूर्ण बन जाने का परिचायक होता है।''

''सत्य है, मैंने माना, वैराग्य को पूर्ण का परिचायक होकर, पूर्ण की ओर अग्रसर करने का साधन होना चाहिए। अस्तु, तब क्या होगा माते?''

''मैं भी तुम्हारे समान मानवी हूँ। मुझसे पूछोगे तो मैं इतनी दूर की बात कैसे बता पाऊँगी ? अतएव जगत्प्राण मातरिश्व से पूछो। वह तो भली-भाँति समझा देगा।''

''आपका आदेश यहीं पूछने का है अथवा एकांत में ?''

''यह लो, सर्वत्र व्याप्त उस पुण्यमूर्ति का अनुसंधान करने पर सर्वत्र एकांत ही हो जाता है। वही आंतर्य एवं आभ्यंतर दोनों स्थानों पर है, वही सर्वत्र व्याप्त है। अब काल की बात उठेगी, उसके बारे में भी उन्हीं से पूछ लिया जाए।''

''आपका कहना सही है।अभी मैं उनका अनुसंधान यहीं करता हूँ।''

याज्ञवल्क्य वहीं पद्मासन में बैठ गया। आँखें मूँदकर प्राणदेव का अनुसंधान किया। उन्होंने दर्शन दिए और कहा–

''देवीजी ने सही कहा। समस्त अंगांगों में मेरे द्वारा जनित देवताओं का आवास होता है। अतएव जब तक उन्हें तुष्टि नहीं मिलती, तब तक उनकी कामनाओं की संपूर्ति नहीं होती। हठ द्वारा उन देवताओं को कुचला जा सकता है। उस दशा में उनकी कृपा प्राप्त नहीं होती । जब वृक्ष की डाली स्वेच्छा से बढ़ती है तब उस पर फल लगते हैं, इसके विपरीत कोई डाली को काटकर उससे फल पाने का हठ करेगा तो वह विफल ही होगा न ? अतएव प्रत्येक अंग को प्रसन्न कर लेना होगा। जब वे समस्त अंग प्रसन्न होंगे तो मैं भी प्रसन्न होऊँगा। तब जिस प्रकार परिपुष्ट बीज फल की रक्षा की अपेक्षा किए बिना स्वतंत्र हो जाता है, उसी भाँति जीव संतृप्त होता है, तब जीवत्व ब्रह्मत्व बनता है, देवत्व ब्रह्मत्व बनने के लिए आतुर होता है। जीवत्व लघु होता है, देवत्व उससे महत्तर है, ब्रह्मत्व से पूर्णत्व होता है। यों जो लघु था, अपूर्ण था, स्वांत था वह पूर्णत्व पाने के लिए तत्पर हो जाता है तो वह स्थिति वैराग्य की परिचायक होती है ।''

''अच्छा, समझ में आया।''

''रहस्य यही है कि यदि यह वैराग्य हमारे मन में जन्म लेता होता है तो देह के सारे देवताओं का अनुग्रह चाहिए ही। तब मन में अभ्यंतर की वस्तुओं को पाने की कामना नहीं रहेगी। अर्थात् मनोरथ–शतों से आवृत मन कामनाओं को अपूर्ण का परिचायक मानकर उनको त्याग देता है । जानते हो तब क्या होगा ? इंद्रियों के लिए आकर्षण ही नहीं रह जाता। इंद्रियाँ अपनी शक्ति खोकर बलहीन हो जाती हैं। मन में जब तक कामना बलवती बनी रहती है तब तक इंद्रियाँ भी बली होती हैं। अब बलहीन इंद्रियाँ हारकर सारथी के वश में आए हुए घोड़ों की भाँति आज्ञाकारी हो जाएँगी। हाँ, नचिकेता ने पूज्य दैवस्वत् से क्या निवेदन किया था? यही कि प्रत्येक भोग इंद्रियों के तेजस् का अपहरण करता है। यही न? तो इसका तात्पर्य हुआ कि तेजोविहीन इंद्रियाँ भोगों को अनुभूत नहीं कर पाएँगी। मन में यह निश्चित धारणा हो जानी चाहिए कि भोग को पाने का मायने है हाट में जाकर दाम देकर वस्त्र ख़रीदना। तब मन इसकी विफलता को देखकर प्रत्यावर्तित होगा। यह प्रत्यावर्तन ही तो वैराग्य है। समझ गए ?''

''हाँ देव, समझ में आया। मनुष्य भोगों की कामना अपने लिए करता है, न कि अन्यों के लिए।''

''नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है; मन की असंतृप्तावस्था का परिचायक होती है भोगासक्ति। सर्वप्रथम मन में यह आसक्ति जन्म लेती है। जो इस प्रकार की आसक्ति को पहचान नहीं पाएगा, उसका मन सामनेवाली वस्तु के प्रति मोहग्रस्त हो जाएगा। यही मोह कामना-रूप धारण कर लेता है तो अपने को उस कामना-क्षेत्र के रूप में पहचान लेता है। यह तीसरा स्तर होता है। तब तक रोग बलवती होकर किसी भी प्रकार की चिकित्सा से परे हो जाता है। अतएव स्मरण करो याज्ञवल्क्य, उपनयन में तुमसे क्या कहा गया। 'धीयोयोनः प्रचोदयात्' हमारी वृत्तियों को प्रचोदित करनेवाला कौन होता है? उसे पहले ही देख लेना है।''

''अस्तु, एक प्रश्न करूँ ?''

''हाँ, पूछो। परंतु देखो, उस प्रश्न को पूछने की प्रेरणा किसने दी?''

''हाँ, एक तेजस् मन को प्रेरित करता है। तब बाँध के द्वार को खोल देने से जिस प्रकार जल बाहर निकलता है-उसी प्रकार मन की वृत्ति भी बाहर निकलती है।''

''तुम्हारा कहना सर्वथा सही है। जिसको मन नाम के अभिधान से जाना जाता है, वह भी 'मैं' का ही अंश होता है। प्रत्येक वस्तु में निहित होकर सबकी प्रत्येकता की अनुभूति करानेवाली धारणा जो है, वही मन है। किंतु जब सबको प्रत्येकित कर देते हैं तब उनमें संबंध भी स्थापित करना पड़ता है न ? इस स्थापना के लिए जो साधन बनता है, वही मन होता है। जब संबंध स्थापित हो जाता है, तब वह संबंध सुखद हो सकता है या दुखद। सुख-दुख की भावना भी मन की इच्छा तथा द्वेष पर अवलंबित होती है। संबंध स्थापित होने पर केवल अनुभव प्राप्त होता है। प्राप्त अनुभव को मन अपनी इच्छा अथवा द्वेष के अनुरूप सुख-दुख के रूप में ग्रहण करता है। अब बताओ, तुम्हारे सुख-दुख या जिसको तुम सुख-दुख कहते हो, वास्तव में क्या वह यथार्थ है ?''

याज्ञवल्क्य ने परिभाषित कर जाना-''हाँ, यद्यपि मन भी इंद्रिय-धर्मों से युक्त होता है तथापि वह इंद्रियों से परे एक विलक्षण वस्तु है। यद्यपि उसने प्राण के बल से अपनी पृथकता को संस्थापित कर लिया है, तथापि वह प्राण का ही एक अंश होता है। यद्यपि वह इंद्रियों द्वारा ही सुख-दुख प्राप्त करता है, तथापि वह जब अनुभव-संपृक्त नहीं हो पाता तब तक वह न सुख होता है, न दुख। मन में अवस्थित इच्छा या द्वेष उस अनुभव पर अपनी सूझ के अनुरूप सुख-दुख की छाप लगाते हैं।'' इन सबको परिभाषित कर देखने के बाद भी एक अंश पर शंका

अवशिष्ट रह गई थी। अतएव उसने पूछा—''देव, वहाँ कृष्णवर्ण का एक थैला सदृश कुछ दिखाई देता है, वह क्या है?''

''याज्ञवल्क्य, तुम्हारा प्रश्न उचित ही है। तुम देखते रहो। तुमको मालूम होगा।''

याज्ञवल्क्य ने आँख की आँख बनकर देखा। कोई एक तेज उसके मन में कौंध गया। तब उस थैले ने अपना मुँह खोला। उससे एक प्रवाह-सा निकलकर मन से इंद्रियों द्वारा प्रकट हुआ।

प्राणदेव ने कहा—''देखो, वही कर्म बीज ग्रंथि है। उसके पीछेवाला तेज आदित्य देव का है। आदित्य का तेज धूप के रूप में पृथ्वी पर बिछेगा तो जल का साहचर्य पाकर पृथ्वी में दबा प्रत्येक बीज अंकुर के रूप में बाहर निकलेगा। उसी तरह उसका तेज मन पर पड़ेगा तो मन में अवस्थित कर्मबीज ग्रंथि से कर्मवासना बाहर निकलकर इंद्रियों द्वारा प्रवहित हो फलाफल प्रकट होंगे। यदि फल बढ़िया है तो उसे जय कहेंगे; यदि दुष्फल अधिक हुआ तो पराजय कहेंगे। जय हो कि अपजय यह अन्यों की बात है। वही तो सुख-दुख का प्रकट रूप होता है। जब आंतर्य के सुख-दुखों का कोई अस्तित्व नहीं होता तो बाहर की जयापजयों का कोई अस्तित्व होगा क्या ? कहो न ?''

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हुआ। किंतु जो दृष्ट है उसे नकारा कैसे जाए? इसीलिए तो कहा—''नहीं देव, नहीं, वे भी वृत्ति के परिणाम हैं। वृत्ति तो आदित्य की होती है, किंतु वृत्ति को प्रकट करनेवाला मन तुम्हारा है। वृत्ति के फलाफलों को सुख-दुख के रूप में अनुभूत करानेवाली इंद्रियों का आवास देह तो अग्नि की होती है।''

प्राणदेव हँसे—''यह अंतिम बात किसने कही, देखो न?'' याज्ञवल्क्य ने देखा—''हाँ, इस वाक्य का कर्त्ता 'मैं' नहीं हूँ।'' खोजकर देखा— दक्षिण पार्श्व में कोई हँस रहा है। देखा तो अग्निदेव हैं। उनको प्रणाम कर इसकी सूचना प्राणदेव को दी। ''हाँ देव, उस बात का कर्त्ता मैं नहीं। अग्निदेव हैं।'' ''ठीक है, देखा न? देवता तो अपने स्वरूप को प्रकट किए बिना ही तुमसे जो चाहें करवा लेंगे। वे जैसा चाहें तुम्हें नचा पाएँगे। अब बताओ, इस प्रकार ओट में रहकर, लट्टू की तरह तुम्हें नचानेवाले देवता यदि प्रसन्न नहीं रहेंगे तो तुम्हें वैराग्य क्योंकर प्राप्त होगा ?''

''हाँ, यह तो है।''

अतएव, देवीजी ने जो कुछ कहा,वह सही है। वैराग्य की प्राप्ति के लिए देवता-प्रसाद कारण होता है। इसी तरह ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति पर अंगांगों तथा उनमें निवसित देवता प्रसन्न होंगे, क्योंकि उससे उन्हें अमृताभिषेक तुल्य संतृप्ति मिलेगी।''

आलापिनी देवी जी खड़ी हो गई थीं । यह तो आश्चर्य की बात है कि याज्ञवल्क्य एवं प्राणदेव के बीच हो रहे संवाद उनको सुनाई दे रहा था। जब स्वयं प्राणदेव बात करते रहे, तब वे खड़े हुए बिना कैसे रह पातीं !

सर्वज्ञ बीज

याज्ञवल्क्य सदा की भाँति सूर्योदय से पूर्व ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान, संध्या एवं अग्निकार्य संपन्न कर जप करने बैठा है। जप करते समय वह उपास्य देवता को साक्षात्करित नहीं कर लेता। तथापि उसके जप करते समय ऐसा अनुभव होता है कि कोई उसके साथ है। उसकी रीति ही ऐसी। किंतु वह नहीं देखता कि साथ में कौन है?

उसने मध्याह्न तक जप में निरत रहकर, मध्याह्न के समय स्नान कर उस समय के कर्मों को संपन्न किया है। आज ऋग्वेदोपाध्याय गौतमजी ने घर में किसी विशेष आयोजन का उल्लेख कर उसे भोजन का निमंत्रण दिया है। वहाँ वैश्वदेव होने के कारण वह लौटकर कुटिया में पुनः जप में मग्न है।

वहाँ से लौटते समय उसके मन में सर्वज्ञ बनने का विचार आया। फिर सोचा कि प्रथम मुझे आदित्य का कृपा-प्रसाद प्राप्त हो जाए, बाद में उस पर विचार करूँ। फिर वह कुटिया में बैठ गया।

जप बहुत समय तक नहीं चला। उसने सोचा कि भुंजित आहार में कोई दोष रहा होगा। इसलिए जो कुछ खाया था, उसका मानसिक अवलोकन किया। नहीं, किसी में कोई दोष नहीं था। पुनः सोचा कि शायद देह में कोई दोष तो नहीं। किंतु ऐसा कुछ न था। सदा की भाँति देह में चुस्ती थी। स्वास्थ्य भी ठीक था।

यदि कभी ऐसा होता, अर्थात् जप में भंग होता तो वह वीणा-वादन में लग जाता। आज वीणा हाथ में लेने पर वहाँ भी उसका मन नहीं लगा ; तथापि कुछ देर

बजाता रहा। वह भी रास नहीं आया। वीणावादन छोड़ दिया। मन को कोई रोग हो गया था। विचार आया कि कहीं घर में माता-पिता का स्वास्थ्य तो बिगड़ा नहीं, इसीलिए ऐसा हुआ होगा। आश्रम से मिथिला आधे दिन का रास्ता है। यदि ऐसा कुछ हुआ होता तो समाचार मिल जाता। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ है।

फिर विचार आया कि अग्निदेव या प्राणदेव को साक्षात्करित कर उनसे पूछ लिया जाए। पर इस विचार पर स्वयं हँसी आ गई–''देवता बछड़ा बाँधने वाले खूँटे तो हैं नहीं कि हर बात पर बुलाते रहो । भला, हम अपने को उनसे प्रत्येक क्यों मानते हैं ? किंतु हमने उनके वश में अपने को समर्पित कर लिया है। सर्वगत देवता अपनी वस्तुओं की रक्षा करना जानते हैं। इसलिए मैं उनसे नहीं पूछनेवाला– यही निश्चय कर लिया।''

उसने आचार्यजी के निकट बैठकर इस मानसिक अस्वस्थता से मुक्ति पाना चाहा। पर आचार्य अभी लौटे नहीं थे। अब एक ही उपाय है, आचार्याणी के पास जा बैठना। पर यदि वे व्यस्त हों तो ? किंतु कुछ भी हो, वहीं जाना होगा। 'यदि उन्हें अवकाश है तो थोड़े समय तक वहीं बैठकर इस मानसिक अस्वस्थता को उनकी वाणी-रूपी गंगाजल से प्रक्षालित कर लूँ।' यों सोचकर वह उधर चला।

याज्ञवल्क्य आचार्याणी का बड़ा आदर करता था। उसके विचार में वे स्त्री-सृष्टि की पराकाष्ठा थीं। वे रूप में अति विशिष्ट तो नहीं थीं, किंतु गौरवर्णा उनके मुख पर या देह के किसी अंगांग में कोई कमी दिखाई नहीं देती थी। सधी नाक और तेजोपूर्ण नेत्र थे। याज्ञवल्क्य को उनमें जो दृष्ट होता था, वह उनकी रूप-संपत्ति नहीं; गुण-संपदा थी। वे आचार्य की धर्मपत्नी ही नहीं, मोक्ष-पत्नी भी थीं। धर्मपत्नी के रूप में अतिथिपूजन, देवयजन आदि कर्मों में सहधर्माचारिणी तो बनती ही थीं, उनके विराम के समय में उनके संग बैठकर धर्म-चर्चा में समस्तर पर सम्मिलित होती थीं। जब चाहें तब दीर्घावधि तक समाधि में बैठतीं। याज्ञवल्क्य की दृष्टि में आश्रम-कार्य का निर्वाह आचार्य से बढ़कर उन्हीं पर अवलंबित था। याज्ञवल्क्य के मन में विचार उठता कि मेरी पत्नी बननेवाली कात्यायनी भी इन्हीं जैसी बने। फिर मन को सांत्वना दे लेता कि जिसके भाग्य में जो आए, वही सर्वस्व है। वह जान गया था, आश्रम में सर्वत्र उन्हीं की व्यवस्था दीखती है। उनकी सन्निधि में जा बैठने पर गंगासागर के तट पर बैठने जैसी पवित्र निश्चिंतता की अनुभूति होती थी।

आलापिनी को भी यही अनुभव होता था। याज्ञवल्क्य के प्रति उसके मन में एक विशिष्ट वात्सल्य उमड़ आता । यद्यपि वह मातृ-वात्सल्य सम सुदृढ़ था, तथापि उसको पुत्रवत् देखने की चपलता नहीं थी। कभी-कभी सप्ताह भर उसे देखे बिना व्यतीत हो जाता । तब उसे उसका स्मरण ही नहीं होता। स्वयं उसको खोजते हुए जाने का क्रम था ही नहीं। यदि वह स्वयं उपस्थित होता तो सब कार्य छोड़कर उसके साथ बैठकर बातें किया करतीं। उनका संवाद तो कर्म-ब्रह्म विचारों पर ही होता, अन्य किसी व्यर्थ विषय पर नहीं। दोनों को परलोक पर जितनी आस्था है, उतनी इहलोक पर नहीं।

याज्ञवल्क्य के आने तक आलापिनी ने धुले कपड़े सूखने के लिए फैला दिए थे। जो थकावट हुई उससे कुछ श्रांत होकर, वह एक विरामासन पर बैठी हुई थीं। मन प्रस्तुत विषय की ओर मुड़ा-''देखो न, देह इतनी सशक्त है तथापि थोड़ा-सा भी श्रम उसको थका देता है। लगता है, इस क्षरपुरुष का स्वरूप ही ऐसा है। हठ कर थकान की परवाह न करते हुए कार्यरत होने पर भी थकावट तो रहती ही है। शायद यही तो मृत्यु है ? अस्तु, इससे पार कैसे पाया जाए! यह क्षर तो कभी-न-कभी मृत्यु के पाले में पड़ेगा ही । संभव है कि कोई सर्वज्ञत्व को प्राप्त कर ले। किंतु मृत्यु से पार पाना शायद असंभव ही है। जन्म के साथ ही यह देह मृत्यु को संग लिए आती है तो अमरत्व कैसे ? युगांतर तक जीवित रहने पर भी, यहाँ तक कि चिरंजीव होने पर भी, अंत में नाम-रूपों को तजना ही होगा- ये ही सारी बातें उसके मन को मथ रही थीं।''

याज्ञवल्क्य आया, प्रणाम कर द्वार पर खड़ा हुआ। आलापिनी ने उमड़ते हर्ष के साथ उससे कहा-''स्वागत है, महर्षि बनने जा रहे हैं न? पधारें।'' उसने कृष्णाजिन की ओर संकेत किया तथा स्वयं उठ बैठीं। याज्ञवल्क्य ने उस प्रशंसा को स्वीकार करते हुए सविनय कहा-''यदि ऐसे आशीर्वादों के उपरांत भी मैं महर्षि बन नहीं पाया तो दोष मेरा ही होगा।'' यों कह वह आसीन हुआ।

''याज्ञवल्क्य, अगली पीढ़ी में काशी, मद्र, कुरु, पांचाल एवं मिथिला में कर्म विद्वान् तुम अकेले ही रहोगे। उस शुभदिन को देखने की मेरी कामना है। परंतु उसके साथ-साथ अर्थात् परा-अपरा विद्याओं के साथ-साथ लौकिक विद्याएँ ग्रहण कर सर्वज्ञ क्यों न बनो ?- यह मेरा प्रश्न है।''

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हुआ-''माते, आप परचित्त-दर्शक तो नहीं? आज मध्याह्न के समय जब मैं गौतम जी के घर से अपनी कुटी की ओर आ रहा था तभी

सर्वज्ञ-बीज का विचार मेरे मन में उठा था। सत्य है। किंतु मैंने उसके बारे में विचार नहीं किया था। अब तो आप भी उसी का उल्लेख कर रही हैं।''

आचार्याणी ने कहा-''देखो याज्ञवल्क्य, तुम्हारे आने से पूर्व दो बातों पर मन में विचार उठा था कि थकनेवाली देह को चिरंजीव कैसे बनाएँ तथा देह की चिंता किए बिना सर्वज्ञ कैसे बना जाए। अस्थिर देह को अमर बनाने से बढ़कर सर्वज्ञत्व को साधना शायद सरल होगा न-इसी के बारे में विचार कर रही थी। यदि तुम्हें स्वीकार हो तो क्यों न हम उसी पर चर्चा करें ! 'क्यों, तुम्हारा मंतव्य क्या है?''

याज्ञवल्क्य ने सहमति दी- ''यदि मैं बात प्रारंभ करूँ तो शास्त्र की बात करते हुए कहूँगा कि अमुक शास्त्र यों कहता है। तो इसी आधार पर मुझे अपना मंतव्य प्रकट करना पड़ेगा। आप हैं तो शास्त्रवाक् रूपी सूत्रों के भाष्यकार जैसी, अच्छी प्रवाचिका जैसी विचारों को प्रस्तुत करेंगी। आपकी वाक्-सुधा-श्रवण से मुझे प्राप्त होनेवाले आनंद की कोई सीमा नहीं रहेगी।''

इस प्रशंसा से आचार्याणी प्रसन्न हुईं। उन्होंने कहना प्रारंभ किया-''सुनो, याज्ञवल्क्य, ऐसी धारणा बनी हुई है कि निधि की रक्षा में निरत सर्प का शरीर स्वर्णिम हो जाता है। इसी प्रकार यदि शास्त्र-निधि संपन्न को वाक्-सौंदर्य लभ्य होगा तो आश्चर्य क्यों ? अब सर्वप्रथम शास्त्रों पर प्रभुता अर्जित करने की रीति पर बात करेंगे। उसके उपरांत सर्वज्ञत्व के संबंध में चर्चा होगी। सुनो, प्रत्येक शास्त्र का सूत्र एवं अभ्यास नाम से दो क्रम होते हैं। अब संगीत को लो। तुम तो उसमें निष्णात हो, इसलिए उसी की चर्चा करेंगे। सभी राग सप्तस्वरों में ही समाए हुए हैं। किंतु सभी रागों के लिए सप्तस्वरों का ही प्रयोग करते रहें तो कैसे होगा! स्वरों की कोमलता एवं तीव्रता की अवगति होनी चाहिए। साथ-साथ यह भी जानना होगा कि अंश कौन-सा है, ग्रह कौन-सा है? राग के संदर्भ में वादी-विवादी का ज्ञान भी होना चाहिए। साथ-साथ वर्ज्य-अवर्ज्य का परिचय होना चाहिए। इस बात की अनुमति भी हो कि उस-उस राग में प्रधानता किसकी है- आरोहण तान की या अवरोहण तान की ?

''इसका तात्पर्य क्या हुआ ? संगीत केवल कोश-ज्ञान नहीं। जिस प्रकार मांत्रिक आम की गुठली से पौधा अंकुरित करता है उसी भाँति संगीतकार को चाहिए कि वह अपनी साधना द्वारा उसमें जीवन भर दे। तभी उससे आनंद-प्राप्ति होगी। इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की निष्ठा हुआ करती है। उस पर

आधारित होकर आगे बढ़ना पड़ेगा। जानते हो तब क्या होगा? शास्त्र-रूपी अटारी पर धरा विषय करतल में आकर हमें आनंद देनेवाला होगा। तुम प्रश्न करोगे कि उसके लिए करणीय क्या है ? तो सुनो बताती हूँ। शिष्य आचार्य मुखेन अनुष्ठान की शिक्षा पाएगा। आचार्य स्वयं आचरित अनुष्ठान को ही शिष्य का उपदिष्ट करेगा । तब शिष्य उसका अनुष्ठान करेगा। यही तो अनुष्ठान तादात्म्य होता है।

''अनुष्ठान से अनुभव प्राप्त होगा। यह जो अनुभव है वह भी आचार्य द्वारा प्राप्त अनुभव सदृश ही होगा । अर्थात् शिष्य को चाहिए कि आचार्य ने जो अनुभव प्राप्त किया वही अनुभव उसका भी हो। आचार्य 'स' पर हों तो शिष्य को भी 'स' पर होना चाहिए, न कि 'रे' पर या 'नि' पर; 'स' माने 'स' ही हो। इसी को अनुभव-तादात्म्य माना जा सकता है।

''इसके उपरांत यह देखना होगा कि वह अनुभव सुखपूर्ण है या कष्टप्रद। यही तीसरा स्तर होता है। ऐसा अनुभव संगीत के नौसिखुओं के गायन की भाँति श्रुति-कठोर होता है। पर साधना के साथ-साथ गायक जिस प्रकार गले को संयमित कर उसमें मिठास भरकर उसे श्रुति-मधुर एवं आनंदप्रद बना लेता है, उसी प्रकार अनुष्ठान द्वारा प्राप्त अनुभव को आनंद-स्वरूप बना लेना होगा। अंततोगत्वा आचार्य द्वारा अनुभूत आनंद ही शिष्य को मिलना चाहिए। वही आनंद-तादात्म्य होगा।

अंतिम स्तर कुछ अजीब भाँति का होता है, यदि गायक गायन द्वारा आनंद की अनुभूति किया करता है तो श्रोता उसके श्रवण से आनंद प्राप्त करता है। हाँ, प्रश्न उठता है कि क्या इन दोनों का आनंद एक-सा है या भिन्न-भिन्न। तब वहाँ आनंद-स्वरूप को खोजना पड़ेगा। एक गाकर आनंद की अनुभूति करता है तो दूसरा सुनकर। दोनों का आनंद एक ही प्रकार का होता है या भिन्न-भिन्न ? जानते हो, इस प्रश्न का उत्तर क्या है ? आनंद के परिमाण में तारतम्य हो सकता है। किंतु आनंद के स्वरूप में भिन्नता नहीं होती। यदि इसके विपरीत स्थिति होती तो आनंद के भी भिन्न-भिन्न वर्ग बन जाते । किंतु आनंद जहाँ भी हो, वह एक ही है। अतएव ज्ञानीजनों ने उसको अखंड एवं एकरस बताया। इसी भाँति शास्त्र की चरम स्थिति भी होनी होगी। इस स्तर पर पहुँचने को ही अखंडैक रस-तादात्म्य अभिधान है। यों शास्त्र को चार स्तरों में साधना चाहिए। हाँ, एक और बात भी है जिसकी जानकारी तुम्हें है ही।''

याज्ञवल्क्य उनकी बातों में खो गया था। ''एक और बात भी है जिसकी जानकारी तुम्हें है ही''–इस वाक्य को सुनकर वह सजग हो, बहिर्मुखी हुआ। आलापिनी आँखें मूँदें बात कर रही थी। अब उसने आँखें खोल दीं और याज्ञवल्क्य की ओर देखा। उसकी आँखों में यह अभिव्यक्ति थी–'जो भी कहना चाहती हैं, कहें।' उसकी इस निवेदन की रीति को पलभर वह देखती रही। फिर कहना प्रारंभ किया।

''सुनो, याज्ञवल्क्य, आचार्य तो शिष्य को दिशा–दर्शन देनेवाले पथ-प्रदर्शक मात्र होते हैं। किशोर–न्याय–क्रम से शिष्य को अनुगृहीत करते हैं तथा शास्त्रबीज प्रदान करते हैं। वह एक पादवत् है। दूसरा पाद उसे चाहिए कि अपने सह–अध्यायियों से चर्चा द्वारा संग्रहीत कर ले। शेषार्द्ध स्वप्रयास चिंतन एवं तपस्या से साधना होगा। लौकिक एवं वैदिक विद्याओं में यही अंतर होता है कि वैदिक विद्या के लिए बीज चाहिए। पर लौकिक विद्या में बीज के अभाव में प्रयास, अभ्यास, चिंतन, तपस्या की आवश्यकता पड़ती है। प्रयास, अभ्यास, चिंतन एवं तपस्याओं के ज्ञाता तुम वैदिक विद्याओं में अग्निदेव एवं प्राणदेव की कृपा से निष्णात बन चुके हो। ऐसी ही निपुणता यदि तुम लौकिक विद्याओं में प्राप्त कर लोगे तो सर्वज्ञ बन जाओगे। यह कौन बड़ी बात होगी !''

याज्ञवल्क्य को उनकी बातों में पूर्ण विश्वास था। उसने प्रकट में पूछा–''यदि सर्वज्ञत्व प्राप्ति इतना सहज है तो सभी सर्वज्ञ क्यों नहीं बनते?'' उसकी ध्वनि में व्यंजना थी कि यदि आकाश पर चढ़ने के लिए सीढ़ी होती तो सब कोई चढ़ जाता। अर्थात् इसमें यथार्थ कम, कोरी बात ही अधिक है।

आलापिनी ने हँसकर प्रत्युत्तर दिया–''तुम्हारी ध्वनि में अविश्वास झलक रहा है। अस्तु, जिनको विश्वास नहीं होता उन्हें विश्वास कराने के लिए ही शास्त्र होते हैं। वह तो हम करेंगे ही। किंतु एक बात जान लो याज्ञवल्क्य, समझो कि तुम्हारे पास शस्त्र हैं, केवल इसी के बल पर तुम युद्ध करोगे ?''

''नहीं, जिनको शस्त्र प्रयोग तथा शत्रु के शस्त्र प्रयोग द्वारा अपनी रक्षा कर लेने की विद्या प्राप्त है वही योद्धा बन पाएगा। शस्त्र के रहने मात्र से कोई युद्ध करने थोड़े ही जाएगा ?''

''हाँ, यह तो है। जिनमें विश्वास है ही नहीं, उनमें केवल शास्त्र बल से विश्वास का निर्माण संभव नहीं होता। जो पहलवान कुश्ती के दाँव–पेचों में माहिर है, वही दूसरे को पछाड़ सकता है तथा उसके आक्रमण से अपनी रक्षा कर पाता है।

इसी भाँति शास्त्र का आश्रय लेकर आगे बढ़ने का अर्थ अंधे के पीछे अंधे का अनुसरण होगा। यह नहीं भूलें कि शास्त्र का अंधत्व स्वयं की तपस्या से दूर होगा। प्रत्येक शास्त्र हमें विष्णुपद तक ले जाता है, इस आस्तिकता से आगे बढ़कर विष्णुपद पर पहुँचकर जो लौट पड़ता है उसके मुँह से निकलनेवाला शास्त्र भिन्न होता है। इसके विपरीत शास्त्र की उक्तियों को कंठस्थ कर जो उसका पाठ करता रहता है उसका शास्त्र भिन्न होता है। यह सत्य है न?''

''हाँ, आपका कथन सर्वथा सत्य है।''

''तो अब सोचो, इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान को पृथक् कर बताने का कारण क्या है ?''

''एक तो अंतर्मुख होता है, दूसरा बहिर्मुख।''

''हाँ, इस कथन को गाँठ बाँध लेना। जो इस प्रकार अंतर्मुखी बन पाता है उसे सर्वज्ञत्व प्राप्त करना कौन बड़ी बात होगी ! तुम्हें उपनयन के अवसर पर जो मंत्रोपदेश हुआ, उसका अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है कि हमारी वृत्तियों को प्रेरित करनेवाले देव के तेज का ध्यान करेंगे। यही न? इसका आशय क्या है ? इसका आशय है कि पीछे की ओर मुड़कर देखो तथा उसमें गहरे पैठो। उसको और दूर तक ले जाओ। फल को देखने पर उसके वृक्ष को, फिर उस वृक्ष के बीज की ऊहा कर जान लेने जैसी बात है। यों कहना संगत होगा न ?– अपने हाथ में जो फल है उसके भीतर का बीज तथा जिस बीज से इस फल को देनेवाला वृक्ष बना ये दोनों बीज एक ही हैं।''

''हाँ, संगत होगा।''

''इसी प्रकार इस संसार में रहनेवाला 'आप (मैं)' एवं इस संसार के लिए जो कारणिक बना 'वह'। ये दोनों एक ही हैं–इस प्रकार कहने में कोई विसंगति तो नहीं होगी न ?''

याज्ञवल्क्य ने गंभीर होकर कहा– ''माते, यहाँ आकर मैं कुंठित हो जाता हूँ। मैं इसको समझ नहीं पा रहा। माते, इस संसार में रहनेवाला 'आप (मैं)' छोटा है। संसार उस 'आप' से बहुत बड़ा है। उसको बनानेवाला उससे बड़ा है। पुरुष-सूक्त कहता है–'पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि'। सृष्टि में जो आया है वह केवल एक अंश है। उसका तीन गुना अंश अभी अमृतरूप में द्युलोक में स्थित है। ऐसे में उसे 'आप' (मैं) कैसे कहा जाए?''

सर्वज्ञ

''तुम्हारा प्रश्न तो बहुत महत्त्व का है। किंतु बिना इस पर गंभीर विचार किए मैं क्या उत्तर दूँ ?''

याज्ञवल्क्य हक्का-बक्का हो गया। आज तक अपने प्रश्नों से दूसरों को जो स्तंभित कर देता आज मानो उसी पर पलटवार हुआ है। चेहरे पर भीतर की क्षुब्धता अभिव्यक्त हो रही थी, तो कहा-''आपका प्रश्न समझ में नहीं आया।''

''तुम कल यानी कुछ वर्षों में विद्वानों के साथ भिड़ पड़ोगे। जानते हो, तब यदि प्रश्न करोगे तो वह किस प्रकार का होना है ? यदि तुम मुट्ठी बाँधकर किसी पर प्रहार करोगे तो उसमें तुम्हारी सारी शक्ति संचित होनी चाहिए। उसी तरह यदि प्रश्न पूछोगे तो ऐसा हो जैसा कि तुम किसी को नदी में ढकेल रहे हो। जो पानी में गिरता है, वह सबसे पहले अपनी रक्षा में निरत होता है, पानी में ढकेलनेवाले पर आक्रमण बाद में करेगा। है न? इसके विपरीत जो चौकन्ना है, उसे जल में ढकेलने का प्रयास नहीं करना चाहिए। तुम्हारे प्रश्न में छोटा-बड़ा 'यही' अंश है न? तुम्हारे प्रश्न में ही उत्तर है, देखना। छोटा, बड़ा-इसमें भेद कहाँ है ? उसकी जाति में या परिमाण (मात्रा) में ?''

याज्ञवल्क्य ने सोचा। पल-भर के बाद उत्तर दिया-''जो भी अंतर है वह तो परिमाण (मात्रा) में ही है न कि जाति में।''

''मैंने भी यही तो कहा। जब मैंने कहा कि तुम्हारे हाथ में जो बीज है वह तथा उसे देनेवाले वृक्ष के लिए कारण बना जो बीज था दोनों एक ही जाति के हैं तो तुम्हें यह स्वीकार्य क्यों नहीं हुआ,जानते हो? तुम तो इंद्रियातीत विचारों को इंद्रियों द्वारा आँकने चले थे। अब कृत्वाचिंता* करके देखो। इंद्रिय तो बहिर्मुखी होती हैं।'मैं (आप)' वाली चेतना को तुम कौन से इंद्रिय से देखोगे? कठ के अनुसार प्रत्यगात्मा को देखने के लिए आवृत-चक्षु चाहिए। वही पर्याप्त नहीं होता। उसको धीर बनकर देखना होगा। तभी 'मैं' का दर्शन होगा। तो क्या यह व्यापार इंद्रिय-वृत्ति हुई ?''

''नहीं। ''

''अच्छा, अब तुमने बात पकड़ी। अतएव जिस स्थिति का साक्षात्कार केवल आवृत-चक्षुवाला तथा धीर ही कर पाता है उसके बारे में तुम कहीं अन्यत्र स्थापित होकर प्रश्न करोगे, तो मैं क्या उत्तर दूँ ?''

* 'यदि वैसा हो तो ऐसा हो सकता है', इस प्रकार के तर्क को मानना 'कृत्वाचिंता' होगी।

"हाँ, तो प्रश्न में ही दोष है।"

"नहीं, ऐसा मत कहो। जो विजयी होने के लिए जनमा है उसके मुँह से पराजित होने की बात न निकले। अतएव यह मत कहो कि प्रश्न में ही दोष है। यह कहो कि उसे दूसरी दृष्टि से देखना था। तो वह पथ छोड़ यह पथ ग्रहण करो।"

"आप जितनी निपुणता सिद्ध होने के उपरांत ही यह संभव होगा?"

"पुनः तुम वही भूल कर रहे हो। वृक्ष पर आश्रित वल्लरी कितना ऊपर चढ़ सकती है? आश्रित वृक्ष की ऊँचाई तक ही तो। इसी भाँति तुम जिन अग्निदेव एवं प्राणदेव के उपासक हो उन जैसे विश्वंभर बनो। अब जो आदित्योपासना में निरत हो, उसके पूर्ण होने पर यदि तुम विश्व के पार जाना चाहोगे तो क्या इसी देह में जा पाओगे?"

"नहीं, यह देह तो पंचभूतों से बनी हुई है। जब उन भूतों से परे हो जाऊँ, तभी विश्व के पार जा पाऊँगा।"

"हाँ, एक और रहस्य भी है याज्ञवल्क्य ! ये सारे पंचभूत एक ही वस्तु से आए हैं। अर्थात् आत्मा से ही तो हैं ?"

"हाँ, आत्मनः आकाशस्संभूतः।"

"यहाँ पल-भर रुको और देखो। बाद में आगे बढ़ें। अब आकाश क्या है? उसे दर्शा सकोगे?"

याज्ञवल्क्य ने सोचा, "आकाश क्या है ? प्रकाश से भी सूक्ष्म रहकर वायु को भी अवसर प्रदान करनेवाला वह कितना सूक्ष्म रहता होगा? उसको दिखाए कैसे ? शास्त्र कहता है-'शब्द गुणकमाकाशं' यह तो केवल शब्दगुण मात्र का होता है। इससे तेजोग्राही चक्षु या स्पर्शग्राही त्वक् कैसे साक्षात्कार कर पाएँगे। उन दोनों को छोड़ो। यदि हम चाहें कि स्पर्शग्राही श्रोतृ ही ग्रहण करे तो श्रोत्रेंद्रिय द्वारा प्राप्त शब्द एकरूपी नहीं होता। उसके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। तो क्या आकाश अग्राह्य ही रह जाता है ?"

याज्ञवल्क्य की शंका को जानकर आलापिनी ने कहा-"देखा न याज्ञवल्क्य? आकाश को दर्शाना कितना कठिन होता है ? जाने दो, आकाश से उत्पन्न वायु को, वायु से उत्पन्न तेजस् को, उससे उत्पन्न जल को, उससे संभूत पृथ्वी को-अर्थात् पंचभूतों में किसी एक का भी साक्षात्कार करा पाओगे? कम-से-कम अन्यों के लिए न सही, अपने लिए साक्षात्कार कर लिया है ?"

याज्ञवल्क्य ने पुनः सोचा। उसे इस बारे में अपनी अज्ञता का ज्ञान हो गया था। उसने अब धारणा बना ली कि केवल प्रश्नों से कुछ होता नहीं। उसने

कहा–''आज आचार्याणी स्वयं सरस्वती बनी हुई हैं । निरे प्रश्न पूछकर अपनी अज्ञता को व्यक्त करने के बदले वे ही स्वयं विचारों से मेरे ज्ञान में वृद्धि करें।''

आलापिनी ने यह सुना तो वह गंभीर हो गई। उसने बिना अप्रसन्नता के आगे कहना प्रारंभ किया–''मेरे प्रश्न पूछने का आशय था कि तुम इन सबका साक्षात्कार कर कृतकृत्य बनो। अब सिद्धांत की बात कह सुनाऊँगी । इन सारे पंचभूतों की अपनी–अपनी प्रत्येकता है। यद्यपि इनका संबंध पिता एवं संतान की तरह है, तथापि पिता भिन्न है पुत्र भिन्न। सांख्य ने इन सबको प्रकृति कहा है। वह इनके चंगुल में फँसे–हुओं को इनसे छुटकारा पाना ही मुक्ति बताता है । ऐसे कई महानुभाव हैं जिन्हें मुक्ति मिली है। यह नहीं कहा कि उनका क्या हुआ? अब तुम कहो। इनका 'कृत्वा चिंता' के आधार से कहना न भूलो। इन पंच–भूतात्मक, गुणत्रय विशिष्ट प्रकृति के संसर्ग से मुक्त महापुरुष को कैसे रहना होगा?''

''हाँ, प्रकृतिग्रस्त पुरुष जैसा भी रहा हो, किंतु प्रकृति से मुक्त पुरुष को चाहिए कि वह अपनी पूर्ववत् स्थिति प्राप्त कर ले। इसमें कोई संदेह नहीं हो।''

''बंदीगृह में बंदी बना पड़ा व्यक्ति उन चार दीवारों की सीमा में ही चल-फिर सकता है । अन्यत्र संभव नहीं। यदि वह वहाँ से मुक्त होगा तो फिर कहीं भी जा सकता है । है न?''

''हाँ ।''

''प्रकृति–मुक्त की स्थिति भी बंधमुक्त की स्थिति जैसी है। बस अब क्या कहें ! हमें तो प्रकृतिग्रस्त की स्थिति ही ज्ञात है । इसके विपरीत हमें प्रकृतिमुक्त स्थिति का ही भान होना चाहिए। है न?''

''हाँ ।''

''अच्छा, अब द्वासुपर्णा श्रुति का पाठ सुनाओ ।''

''सुंदर पंखवाले दो पक्षी सदा साथ रहते हैं। दोनों का एक ही नाम है । एक ही पेड़ पर निवास है। उनमें से एक तो स्वादिष्ट फल भुंजित करता है, दूसरा कुछ भी नहीं खाता, देखता बैठा रहता है।''

''आगे ।''

''फलभुक्त पक्षी परवश हो मोह में फँसकर शोक करता रहता है। फल न खानेवाला पक्षी बना रहता है। यह पक्षी उस पक्षी को देख उस जैसा ही बनता है।''

''यहीं रहस्य निहित है, याज्ञवल्क्य। भोग–मग्न होने का तात्पर्य है परवश होकर मोह–शोक से लघु बन जाना। वही नहीं है तो ?''

''वह पक्षी भी इस पक्षी जैसा ही बन जाता है।''

''यदि ऐसा होगा तो वह अंतर कहाँ गया? यदि वे विजातीय होते तो क्या उन जैसा बनना संभव होता?''

''नहीं।''

''अब इसके परिप्रेक्ष्य में रसवाद को परखेंगे। उसका यही कहना है– 'स्पर्श से काला बननेवाले सीसे को चमकते सोने में परिवर्तित किया जा सकता है–यही सिद्धांत है।' किंतु वह कैसे संभव होगा? सीसे में सप्त कंचुक यानी सात आवरण का दोष है। उसमें यदि तीन आवरणों को नष्ट कर दिया जाए तो सीसा सीसा न रहेगा, ताँबा बनेगा। उसमें से पुनः एक कंचुक को निकालें तो वह चाँदी बनेगा। और एक कंचुक मिटा तो सोना बनेगा। अब शेष रह जाता है एक कंचुक वह भी गया तो सिद्धरस बनेगा। सिद्धरस अपने में पड़े समस्त धातुओं को भृंग* बना देगा। यही नहीं, भृंग अपने से चौंसठ गुना तांबे को स्वर्ण बना सकता है। अब कहो, यदि ऐसे सिद्धरस को ही सप्त कंचुक दोष हो जाए तो क्या परिणति होगी ?''

''सीसा बनेगा।''

''सीसे का सप्त कंचुक दोष मिट गया तो ?''

''यदि वह सिद्ध रस न भी बन पाए तो भृंग तो बनेगा ही।''

''यह तो हुई धातु विषयक चर्चा। इस साधना–क्रिया की जीव पर अन्विति करके बताओ।''

169.

सर्वज्ञ

आचार्याणी के साथ जो चर्चा हुई उससे याज्ञवल्क्य का ज्ञानोदय हुआ। जैसे अपने–आप में बात कर रहा हो, उसने कहा–''छोटा–बड़ावाला यह अंतर तो केवल परिमाणांतर ही है, न कि जाति–संबद्ध।''

जैसे उसको मान्य कर रहा हो, कहा–''अर्थात् जब तक हम प्रकृति के चंगुल में फँसे होते हैं तब तक ही यह क्षुद्रता है। इसी का परिचायक है मोह–शोक। प्रकृति से मुक्त हो जाने पर ये नहीं होते। तब की स्थिति क्या होगी, माते?''

---
* भृंग –Mica, Maggot

''प्रकृति से परे रहनेवाले को श्रुति–भगवती भी विश्लेषित कर न पाई। इसलिए केवल महान्–ब्रह्म कहकर चुप हो गई, अन्य स्थान पर ब्रह्म को 'सत्यज्ञानमनंतं ब्रह्म' कहा। याज्ञवल्क्य, इस वाक्य में जो ज्ञान शब्द है वह बाह्य वस्तुओं के विषय को एकत्र किया जानेवाला भंडार नहीं। अनुकूल समय पाकर वृक्ष में फूटनेवाली हरियाली जैसा है। इसके विपरीत जो ज्ञान संग्रहीत होता है वह ज्ञान मनोवृत्ति होगी। उसको तजने पर अर्थात् मन से परे होने पर बुद्धि–वृत्ति बनती है। उससे भी परे पहुँचने पर ज्ञान ही ज्ञान होकर ब्रह्म हो जाता है। यहाँ तक भी पहुँचा जा सकता है। किंतु शर्करा मुँह में डालने पर यदि कोई पूछे कि कैसा है तो कह देगा–मीठा है। किंतु क्या मिठास का वर्णन किया जा सकता है? इसी प्रकार जब किसी का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसको ज्ञान कह देते हैं। मालूम हुआ?''

''हाँ, मालूम हुआ।''

''अब तुम्हारे प्रश्न को लें। ज्ञानरूपी ब्रह्म पंचभूतों एवं गुणत्रयों से अर्थात् प्रकृति के संसर्ग से लघु बन गया है। वही प्रकृति के साथ रहने पर भी क्या वह अपने गुणों से मुक्त हुआ है ? इसलिए क्या वह सर्वज्ञ है या नहीं?''

''माते, यह तो सचमुच प्रौढ़ी तर्क है। अपनी वाक्शक्ति से मुझे चुप करा रही हैं? है न ?''

''नहीं याज्ञवल्क्य, मैं तुम्हें चुप कराना नहीं चाहती। तुम मेरे गर्भ से जन्मे पुत्र समान हो। यदि सत्य कथन करूँ तो अब तक जिसने तुमसे बात की, वह मैं नहीं; तुम्हारे उपास्य देवता अग्निदेव थे। तुम्हीं देखो कि यह सत्य है कि नहीं।'' याज्ञवल्क्य ने नेत्र बंद किए, अनुसंधान किया। आज तक जो अग्निदेव अपनी ही देह में, जिस स्थान पर चाहे वहाँ दर्शन दिया करते थे, वे आज आचार्याणी में निवसित होकर बोल रहे हैं। याज्ञवल्क्य ने नमस्कारादि समर्पित करके कहा–''यह कैसा विचित्र है, क्या इसीलिए आज मुझसे जप आदि न कराकर यहाँ ले आए ?''

अग्निदेव ने प्रसन्न होकर कहा–''हाँ, आज तुम्हें देवता एवं मनस्तत्त्वों के विषय में अवगत कराना था। अब तक जो कहा जा चुका है, वह केवल जीवतत्त्व की बात थी। आज जब तुम्हारे मन में सर्वज्ञ–बीज की बात उठी थी तभी यदि तुम प्रश्न करते तो मैं उत्तर देता। तुमने पूछा नहीं, अतएव तुम्हें यहाँ ले आया और इनके मुख द्वारा कह सुनाया। ये सब हम देवताओं का खेल समझो। प्रस्तुत इतना भर जान लो।''

अग्निदेव ने बात समाप्त की तो आलापिनी ने पूछा–''क्यों विश्वास हो आया याज्ञवल्क्य ?''

''हाँ, आप देवतत्त्व एवं मनस्तत्त्वों के विषय में कब बताएँगी ?''

''वह तो उन्हीं की, अर्थात् अबतक जिसने बात की, इच्छा पर निर्भर है। मैं केवल एक बात से तुम्हें अवगत कराती हूँ। सुनो, जब वे उपस्थित होंगे तब छांदोग्य के इंद्र विरोचनोपाख्यान एवं तैत्तरीय के पंचात्म-संक्रमण विद्या के विषय में प्रश्न करो।''

याज्ञवल्क्य ने उसके आदेश को स्वीकार किया। उससे नमस्कार-पूर्वक विदा ली। अपनी कुटिया की ओर चला। राह चलते उसे आज के अनुभव-संबंधी विचार घेरे हुए थे।

ज्योति दर्शन

याज्ञवल्क्य को एक ऐसी उलझन का सामना करना पड़ गया जिसका अनुभव आज तक उसे नहीं हुआ था। वह ब्रह्म-कर्म संपन्न कर जप करने बैठा करता था। कभी-कभी उसे एक अप्रतिम तेजोमंडल दीख पड़ता था। यद्यपि वह सभी दिशाओं को व्याप जाता था, तथापि जब तक वह होता था तब तक अन्य किसी प्रकार की वस्तु दिखाई नहीं देती थी। उसके मन में कौतूहल जागृत होता था और जानने की इच्छा होती कि वह चक्षुगोचर प्रकाश है या कोई अलौकिक प्रकाश? किंतु जब तक वह मंडल व्यापा रहता है तब तक ऐसे कौतूहल के लिए स्थान कहाँ ! उस अवस्था में उस मंडल के सिवाय किसी दूसरे की ओर मनोबुद्धि का ध्यान नहीं जाता था। जब वह तेजस् सम्मुख प्रस्तुत रहता था तब श्रोतृ आभ्यंतर ध्वनि को सुन नहीं पाता। उसे यह भी अनुभूति नहीं होती कि श्वासक्रिया चल रही है कि नहीं। स्पर्श की बात ही क्या, लगता था वह कहीं लुप्त हो चुका है। जब उसकी अवस्थिति नहीं होती तब कुतूहल जागृत होता और मन कहता-''यह तो जागृत स्वप्न लगता है। जागृत अवस्था समान बाह्य स्मृति है । स्वप्न जैसा कर्मेंद्रियों का व्यापार भी चल रहा है।'' बस इससे आगे विचार नहीं चल पाता। तब तक लगता था कि कुतूहल ही सूख गया है।

अब अग्निदेव से आदेश मिला है-''पंचभूतों को प्रत्येकित कर देखना। किंतु ऐसा करें कैसे ? जहाँ भी दृष्टि जाती है पंचभूतों से निर्मित वस्तु-जाल ही

दीखता है। यदि चाहें तो अग्नि–ध्यान द्वारा पंचभूतों के आवास में स्थित चेतनाभास का दर्शन किया जा सकता है। वह तो इस अनुभूति के साथ जन्म लेता है कि यह आवास स्वयं वही है तो उसके गर्भ में अवस्थित दशा में उससे बात करनी चाहिए। किंतु मैं ब्रह्मचारी हूँ तो इस अवस्था में वह कैसे संभव हो पाएगा ?''

यों जो हो नहीं पाता, उसे छोड़कर यथासंभव जप करने की इच्छा होती है। यह प्रश्न तो मन में उठ चुका है। चुपचाप बैठा भी नहीं जाता तो आज तक दीर्घावधि तक चल रहा जप अब कुछ ही समयावधि में समाप्त हो जाता है, शेष समय में मन को यही विचार घेरे रहता है। वह भी विचार क्या है ? एक ही प्रश्न होता है, पंचभूतों को प्रत्येकित कर कैसे देखा जाए? बार–बार किसी न किसी रूप में वही प्रश्न, वही प्रश्न घेरे रहता है।

यों प्रश्न को सम्मुख रखकर उस पर विचार करते रहे तो उसे उस दिन का स्मरण हो आया जब उसने धेनु से बात की थी। गाय ने जो कहा था वह भी स्मरण हो आया–''उत्तर कहनेवाला उदान होता है। मेरा प्रश्न उदान के परिपार्श्व में निहित प्राण तक पहुँचाना होगा। तब कोष्ठगत प्राण जो होता है, वह विश्व में निहित प्राण में समाहित होकर विश्व के किसी कोने में निहित समाधान को ढूँढ़ लाएगा। किंतु अब मुझे तो क्रिया की चाह है, यह क्रिया सर्वप्रथम वाक् रूप में समाधान प्राप्त करे। इसके लिए करणीय क्या है? सर्वप्रथम व्यापार की बात जानें। उसके बाद व्यापार करने की बात के बारे में सोचा जाए?'' – यों वह एक सिद्धांत पर आ गया।

पुनः एक और प्रश्न उठा–''क्यों न प्राणदेव से साक्षात्कर कर उन्हीं से पूछा जाए ?'' किंतु उससे पूछने में भय होता है। पर दूसरी ओर साहस उत्साहित कर रहा है–''अग्निदेव का आदेश हुआ तो है।'' किंतु निर्णय नहीं हो पाता, भय लगा रहा। पुनः इस असमंजस को दूर करनेवाला विश्वास जागरित होता है–''आज तक मैंने प्राणपरिचर्या की है। और तो और, प्राणदेव मेरे लिए अजनबी नहीं। ऐसे में भय क्यों ?''

यों बहुत गंभीर विचारोपरांत उसने पुनः पयोव्रत आरंभ करने का निश्चय किया। निर्णय लिया कि एक मंडल तक पयोव्रत में रहकर बाद में प्राणदेव से पूछा जाए।

किंतु जब किसी अन्य के आश्रम में रहना हुआ है तब उनसे अनुज्ञा लिए बिना कैसे आगे बढ़ें। इसलिए तय किया कि उद्दालक जी की अनुज्ञा एवं आचार्याणी की अनुमति पाकर पयोव्रत आरंभ करूँ।

दिन ढलते समय उद्दालकजी आश्रम के द्वार पर स्थित शिला-खंड पर कृष्णाजिन बिछा कर बैठे हुए थे। उन्होंने याज्ञवल्क्य को आते हुए देखा। उन्हें याज्ञवल्क्य पर बड़ा ही स्नेह था। आचार्याणी द्वारा प्राणाग्नि-संबंधी चर्चाओं का उल्लेख किए जाने के बाद उनका स्नेह आदर में परिवर्तित हो चुका था। आते हुए याज्ञवल्क्य के चेहरे के भावों को पढ़कर उन्हें लगा- कोई बात पूछने के लिए आ रहा है। हाँ, अग्नि, प्राण एवं आदित्य को छोड़कर और कुछ क्या पूछेगा? तथापि वह जो भी पूछे उसे बताना होगा। याज्ञवल्क्य को देखने पर आचार्यजी के देहांग भी प्रसन्न थे, उस पर उन्हें आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि 'क्या देवता अपने भक्तों पर इतना प्रेम उड़ेलेंगे ? भविष्य में जो भी हो, प्रस्तुत याज्ञवल्क्य से हमें ही लाभ हो रहा है।' तो यों प्रसन्न भाव में वे सावधान हो बैठे रहे।

याज्ञवल्क्य आया। पूज्यों के दर्शन पर कम आयुवाले जिस प्रकार से सहज विनय एवं भक्ति भाव से अभिवादन कर आशीष प्राप्त करते हैं उसी भाँति याज्ञवल्क्य ने भी किया। उनका आदेश पाकर वह वहीं ज़मीन पर बैठ गया। आचार्य ने उसे मना करते हुए भीतर से किसी को बुलाया और उसके लिए कृष्णाजिन बिछवाया तथा उस पर बैठने को कहा। याज्ञवल्क्य ने आदेश का पालन किया।

इस वेला तक आचार्याणी भी वहाँ पधारीं। उन्होंने कहा-''देखिए न कैसा जमावड़ा हो गया। पहले ही अग्निदेव का आदेश हुआ है कि आपके आने पर आपके पास पंचात्म-संक्रमण विद्या के अवस्था-क्रम का उल्लेख किया जाए। लगता है कि कुमार इसी आशय को लेकर उपस्थित हैं ?''

उनकी इन बातों ने याज्ञवल्क्य को विचार में डाल दिया। 'ये तो जातवेद की बात करती हैं। आचार्याणी के मुख से अग्निदेव का उल्लेख है तथा सर्वज्ञ बीज की बात है। अतएव अब मेरे लिए तपस्या करना शेष रह गया है। उचित समय पर ऋतुलिंग न्याय * के अनुसार वह प्रकट होगा। अस्तु, यदि मैं चुप रहूँ तो कोई हानि नहीं होगी। उनके वदन से ही आदेश निकलेगा। मेरी रक्षा के लिए प्राण एवं अग्नि तो तत्पर हैं ही,- यों सोचकर वह मौन हो बैठा रहा।

आचार्य ने कहा- ''याज्ञवल्क्य, अपने आगमन का आशय तो तुमने प्रकट नहीं किया।''

---

* ऋतुलिंग न्याय : उस-उस ऋतु के अनुरूप वृक्ष, पक्षी आदि बाह्य चिह्न संसार में किसी की चाह किए बिना अपने-आप प्रकट हो जाते हैं।

'तो अब क्या कहें?' अपने प्रश्न को वैसे ही रहने देकर उसने कहा—''माताजी ने तभी आपसे निवेदन कर दिया। अब मैं क्यों उसकी पुनरावृत्ति करूँ ? इसीलिए चुप हूँ।''

आचार्य ने कहा—''ऐसा है ?'' उन्होंने मुड़कर देखा तो आलापिनी भी दालान की उस ओर कृष्णाजिन बिछाकर बैठ गई थी। यह देख उद्दालक जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—''मैंने मुड़कर देख लिया कि तुम यहाँ हो कि नहीं। यह देखो, अमृत-भरित मेघ आया हुआ है। वह मेरे द्वारा अमृत-वर्षा करा रहा है। दोनों उस वर्षा में भींगकर उसका लाभ उठाएँ।'' यों कह वे अब याज्ञवल्क्य की ओर उन्मुख हुए।

''सुनो याज्ञवल्क्य, पंचात्मक संक्रमण एवं अवस्थात्रय की बातों पर हम सर्वप्रथम विचार करें। पर इस अवस्थात्रय के बारे में विचार करने से पूर्व और कई बातें तुम्हें जाननी हैं। अज्ञ-जन प्रकृतिवश होकर एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संचरण किया करते हैं। पर जो 'ज्ञ' (ज्ञाता) हैं उन्हें चाहिए कि वे उनके साक्षी बनें। उनके लिए स्वप्न तथा निद्रा एक कक्ष से दूसरे कक्ष में संचरण-जैसा होना चाहिए। जब तक कोई भी 'ज्ञ' नहीं बनता, तब तक यह संभव नहीं होगा। किंतु जब तक यह संभव नहीं हो पाता, तब तक वह 'ज्ञ' नहीं बन पाएगा। यही तो इसमें निहित रहस्य है।''

याज्ञवल्क्य की पूर्ण देह कान बन गई थी। आलापिनी तो उस विद्या की जानकार की तरह उसका अनुसंधान कर रही हैं। अभी से उसको साक्षीभाव प्राप्त हो चुका है।

आचार्य ने आगे कहा—''सुनो, इस रहस्य को भेदने के लिए इंद्र देव ने सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। अन्य मार्ग से उसे भेदनेवाले यमराज ने नचिकेता पर उसका रहस्योद्घाटन किया। जागृति की अंतिम एवं स्वप्न के आरंभ की संधि-दशा में यह साक्षीभाव लभ्य होता है। मन जो जागृत कर्मेंद्रियों की दशा में रमा रहता है, उसके मुक्त होकर स्वप्न-ज्ञानेंद्रियों को प्राप्त होने से पूर्व के संधिकाल में रहते हुए इस साक्षीभाव को देखना होगा। उस दशा से यदि मन इंद्रिय तथा बुद्धि के बीच भटकनवाली दशा में है तो वह बलात् खींचकर बाँधी गई रस्सी जैसा संकल्प और विकल्प के बीच में डोलता रहता है। इसके विपरीत यदि मन इंद्रिय संबंध को तजकर केवल बुद्धि के साथ संबंध बना लेता है तो धरती पर पड़ी रस्सी के समान वह किसी काम का नहीं होता। उसका अस्तित्व नहीं के बराबर हो

जाता है। तब दृष्ट होनेवाली जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्त नाम्नी तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त चौथी अवस्था साक्षीदर्शन होता है। ऐसी स्थिति में न जागृति होती है, न स्वप्न, न सुषुप्ति। इस अवस्था में प्रविष्ट होकर देखने की कला से अवगत व्यक्ति को ही तत्त्व-दर्शन होता है। यह दर्शन जब जागृति तथा सुषुप्ति पर आवृत हो जाता है तब सुषुप्ति का लोप हो जाता है। जब जागृति एवं सुषुप्ति दोनों रहते हुए भी न रहने की अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं तभी साक्षीभाव संपूर्णतया व्याप जाता है तथा महादर्शन होता है। क्यों याज्ञवल्क्य, समझ में आई बात?''

याज्ञवल्क्य को पूर्व में जो ज्योतिदर्शन हुआ था उसका स्मरण हो आया। वर्षा होने पर भीगनेवाली धरती जैसा उसका जीव अपना विश्वस्थान भ्रूमध्य* को छोड़ चुका है, तेजस् स्थान कंठ पर नहीं पहुँचा है, इंद्र-योनि स्थान पर उसे ऊर्ध्वभाग से खींचकर पकड़ा हुआ है, नीचे गिरने से कोई रोके हुए है। कुमार को प्रतीत हो रहा है कि यह विस्तृत जग आचार्य की बातों के श्रवण में केंद्रीकृत है। तो कौन है वह जो खींच रहा है ? उसे नीचे गिरने से कौन रोक रहा है ? यह देखने का समय भी नहीं, वह तो संपूर्ण देह को मानो श्रवण बनाकर सुन रहा है।

आचार्य ने उसकी यह दशा देखी। उसकी देह में प्रविष्ट हुए बिना ही उन्होंने उसकी दशा जान ली। उन्हें मानो मुकुर के प्रतिबिंब सदृश स्पष्ट दर्शन हो गया। इस दृश्य का दर्शन पत्नी को भी कराना चाहा। पर वह भी अनुसंधान में लगी हुई थी।

आचार्य जी पल-भर चुप रहे। फिर एक विचार आया। ''याज्ञवल्क्य यों व्यापार कैसे करने लगा ? यदि यह मान लूँ कि वह मेरी बातों के कारण हुआ तो जब मैंने बहुतों को समझाया था, तब किसी में प्रथम बार ही यों व्यापार का आरंभ नहीं हुआ था। अतएव हो सकता है कि यह उसके पूर्व पुण्य की परिणति हो।''

इतने में लगा कि याज्ञवल्क्य व्यापारानंतरवाली पूर्व अवस्था में आनेवाला ही है तो उसको संबोधित कर उद्दालक जी ने कहा-''सुनो, याज्ञवल्क्य, वहाँ अवस्थित रहकर देखना कि तुम्हें नीचे गिरने से जो रोक रहा है वह कौन है ? यह भी देखना कि तुम्हें ऊपर की ओर कौन खींच रहा है ?'' अबकी बार उनके कथन में आज्ञाभाव था। वृद्धजन जब कम वयवालों को समझाते हैं तब वे जिस प्रकार का वात्सल्य एवं अधिकार जताते हैं, वही कुछ था।

---

* जीव का मूलनाम है विश्व तैजस्य प्रज्ञा। उसके तीन स्थान होते हैं - भ्रूमध्य, कंठ एवं हृदय।

याज्ञवल्क्य ने देखा–उसको ऊर्ध्व दिशा में जो खींच रही हैं वे सूर्य-किरणें हैं। अब उसकी स्थिति न भूमि पर थी, न आकाश में। उसकी स्थिति अंतरिक्ष में थी। एक तरुणी अपने हाथ नीचे की ओर किए उसको नीचे गिरने से रोक रही है। उससे पूछने पर वह कहती है–''मैं सूर्य गण से हूँ। अब इतना जान लेना तुम्हारे लिए पर्याप्त है।'' यों कहकर वह अदृश्य हो जाती है, उसके अदृश्य होने पर सूर्य-किरणें भी ओझल हो जाती हैं। किंतु ऊपर वाला वह खिंचाव तथा नीचेवाली पकड़ बनी हुई हैं।

आचार्य जी ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा उनका संवाद सुना। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे शांतचित्त होकर कुमार के पूर्व स्थिति में आने की प्रतीक्षा करने लगे।

थोड़ा समय व्यतीत होने के बाद ही कुमार जागा। तब तक उसके किए सभी व्यापार उसके सामने वाली भोगुनी में भरे जल में तैर रही मछली के व्यापार सदृश स्पष्ट दर्शित हो रहे थे। आचार्य बिना मुँह खोले बैठे रहे। याज्ञवल्क्य ने आँखें खोलीं और आचार्य जी को नमस्कार किया। आचार्य जी ने पूछा–

''याज्ञवल्क्य, तुमने क्या-क्या देखा ?''

''क्या कहूँ आचार्य! जो देखा उसका वर्णन करने में मेरी वाणी कुंठित हो जाती है। अतएव उसमें कुछ चूक हो जाए तो क्षम्य समझना। प्रारंभ में भ्रूमध्य से किसी अनदीखी वस्तु के लुढ़कने का भान हुआ। तभी मेरे शीर्ष को भी सामने की ओर गिरना था। किंतु गिरते शीर्ष को किसी ने रोक लिया। पुन: गिर रही उस वस्तु को भी किसी ने सहारा देकर वहीं रोक लिया। मुझे लग रहा था कि जहाँ मैं खड़ा हूँ वह न पृथ्वी है न आकाश। तभी मुझे सूझ गया कि यह तो अंतरिक्ष है। वहाँ आपसे उक्त कथन हम लोगों द्वारा उच्चरित शब्दों की भाँति न रहकर किसी व्यापार को प्रचोदित कर रही क्रियाओं के समान थे। उधर आदित्य की किरणें, इधर आदित्यगण की एक देवी थीं। दोनों ने एक ज्योतिमंडल को पकड़ा हुआ था। वह ज्योतिमंडल प्रकाशित था मानो वह मैं ही था। आपने जैसे कहा, पार्श्व में एक रस्सी लटक पड़ी थी। वह मंडल मानो एक संपुट में था। क्योंकि मैं स्वयं ज्योति बना हुआ था, सर्वत्र ज्योति ही ज्योति दीख रही थी।''

''याज्ञवल्क्य, वह संपुट ही बुद्धि है। वह लटकती हुई रस्सी सदृश प्रकाश ही मन था। तुम्हें नीचे गिरने से रोककर जिसने पकड़ा हुआ था वह ही उषा देवी

थी। यह देखो वह स्वयं उपस्थित हैं। ऋग्वेद के उषासूक्त से उनकी आराधना करो।''

आचार्य एवं आचार्याणी उस आराधना के पूर्ण होने तक खड़े रहे।

सब संपन्न होने के उपरांत आचार्य ने कहा—''याज्ञवल्क्य, आज तुम्हें साक्षी के दर्शन हुए। आज के बाद तुम्हें दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का अधिकार प्राप्त हुआ है। अब जो तुम्हें हुआ वह दर्शन था। यदि तुम तत्त्व को समग्र रूप में ज्ञात कर लोगे तो तुम्हें 'महादर्शन' प्राप्त होगा।''

याज्ञवल्क्य ने आचार्यजी के वाक् को उनके आशीर्वाद के रूप में ग्रहण कर उन्हें नमस्कार किया। आचार्याणी को नमस्कार करने के लिए वह आगे बढ़ा तो उसने कहा—''वे तो हमारा मूल स्थान हैं। वहाँ जो कुछ होता है, वह हमें भी प्राप्त हुआ समझो।'' पर उसके मना करने पर भी याज्ञवल्क्य ने उनको भी नमस्कार से समादृत किया।

इंद्र दंपती

आचार्यजी ने कहा—''याज्ञवल्क्य, तुम्हें जागृत अवस्था से स्वप्नावस्था में जाने से आदित्य, तेज एवं उषादेवी ने रोका था। तुम यह सब कैसे देख पाए ? जो देखा वह कर्मेंद्रिय की दृष्टि थी या ज्ञानेंद्रिय की ?''

याज्ञवल्क्य ने आँखें मूँदकर उस दिन की उस अवस्था का स्मरण किया। पुनः उसका अनुसंधान करते हुए कहा— ''यह तो कर्मेंद्रिय-व्यापार नहीं था। जब जीव भृकुटी स्थान में अवस्थित होता है तभी कर्मेंद्रिय-व्यापार होता है, न कि उसके वहाँ से चले जाने पर। जीव यदि स्वप्नावस्था में प्रविष्ट नहीं हुआ तो वहाँ ज्ञानेंद्रिय—व्यापार की संभावना नहीं। तथापि दर्शन तो होता है। समझ में नहीं आता कि इसका स्पष्टीकरण किस प्रकार से किया जाए।''

आचार्यजी ने कहा—''यही तो दिव्यदर्शन है। यदि यह दिव्यदर्शन प्राप्त होना हो तो कर्मेंद्रिय एवं ज्ञानेंद्रिय दोनों को व्यापार-मुक्त हो उनके स्थान पर देवता-भाव जागृत होना चाहिए। यदि यह भाव इंद्रिय-गोलक तक प्रवहित होता है तब वहाँ प्रत्येक गोलक में दिव्यभाव स्थापित हो जाता है। तभी होगा विश्वरूप दर्शन।

किंतु सावधान ! तुम विश्वरूप दर्शन के लिए आगे नहीं बढ़ना। वह अपने-आप प्राप्त होगा। अब आँखें मूँदे जिस दिव्यदर्शन को पा रहे हो देवतानुग्रह द्वारा इंद्रिय-गोलक तक स्वयं उसके आगमन तक प्रतीक्षा करना।''

याज्ञवल्क्य ने 'यथाज्ञापयति भगवन्' कहकर आँखें खोलीं। आचार्य ने पुन कहा-''अब पुन: अनुसंधान करो, आदित्य देव के दर्शन कर पूछो कि क्या पंचात्म-संक्रमण विद्या के लिए समय आसन्न है? चूँकि मैं तुम्हें आदेश दे रहा हूँ, मुझे आचार्य न बना लेना। मान लो कि आदेश देनेवाला आदित्य है। अब जो कहेगा और सुनेगा, दोनों की रक्षा करनेवाले आदित्य ही हैं।''

याज्ञवल्क्य ने आदेश के अनुसार आदित्य का अनुसंधान किया। उसकी दाई आँख फड़की।आदित्य ने दर्शन देकर पूजादि ग्रहण कर कहा-''विद्याग्रहण के लिए यह उचित समय है। किंतु उससे पूर्व संभावित एक परिवर्तन पर ध्यान देना। अब देखो तुम्हें कौन दर्शन दे रहे हैं।''

''दो महापुरुष सम्मुख खड़े हैं। एक तो वे हैं जिनका शरीर भोग से पुष्ट शूर का-सा है,उनके पहने उत्तरीय से तथा सिर पर अलंकृत रत्नमुकुट से प्रतीत होता है कि ये कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। उनके गंध-माल्य भी ऐसे ही हैं, अनन्य हैं, प्रसन्न, चौड़ा मुख, तथा वायु के प्रताड़न से भी प्रक्षुब्ध न होनेवाली सरोवर-सी शांत, रमणीय. तेज:पुंज नेत्र चमक रहे हैं। उनके मुख पर विलक्षण तेज झलक रहा है। उनको देखनेवालों को लगता है कि हाथ जोड़ नमस्कार करें तथा पूछें- क्या आदेश है ?'' यों अधिकार जमाने जैसा तेज प्रसन्न हो वांछित वरदान देने के लिए प्रस्तुत है।

उनके पार्श्व में एक स्त्री है, लगता है कि उसे अपने सौंदर्य पर गर्व है। अन्यथा ऐसा सौंदर्य उसे कैसे प्राप्त होता? वह तो उनके वामभाग में उपविष्ट है। उनकी समस्त प्रसन्नता, लगता है, उन्हीं से प्रचोदित है। उस वीर पुरुष के समस्त शौर्य पर प्राय: उसी का पूर्ण अधिकार है, उसकी करुणा एवं उदारता अनन्य साधारण प्रतीत हो रही है।

देखने में ये दंपती लगते हैं। याज्ञवल्क्य को बोध हो रहा है कि संसार का समस्त सौभाग्य इन्हीं के वश में है। पुरुष ने मलाई रंग का मनोहर बूटे वाला वस्त्र एवं उत्तरीय धारण किया हुआ है। वही स्त्री कई रंगों में सुरंजित महीन रेशमी साड़ी पहनकर लालवर्ण की कंचुकी पहने हुई मनोहर लग रही है। भाल पर कुंकुम ज्योति-पुंज सा प्रकाशमान है। गाल एवं कपोलों पर लेपित परिशुद्ध हल्दी ने चेहरे

को मानो स्वर्णिम चौखटा प्रदान किया हुआ है। बिखरे से बालों में बँधे छोटे-छोटे मोती किसी श्रम के कारण स्रवित पसीने की बूँदों जैसे लग रहे हैं। भौंहें थोड़ी झुकी हुई हैं तो प्रतीत होता है कि किसी ने भाग्य-रेखा को तराशा है। उनका नासिकादंड तथा सुंदर भ्रूयुग्म यथास्थान पर स्थापित आश्रयदंड से लग रहे हैं।

उनके पहने आभूषण भी नयन-मनोहर हैं; पुष्पराग एवं लालरत्नों तथा श्वेत हीरों से बना कंठहार शोभायमान है। नवरत्न खचित बाजूबंद, सिंहललाट वाले कंडे, बाँहों एवं कलई को अलंकृत किए हुए हैं। कांची परिधान पर मोतियों की माला, जिसके बीच में नवरत्न की पच्चीकारी किया हुआ हार, उनके वक्षस्थल पर प्रज्वल कांति बिखेरती हुई एक सँपोला-सा विराजमान है। साथवाले पुरुष की तुलना में इनके शरीर पर गंधमाल्य अधिक मात्रा में है।

याज्ञवल्क्य उस दंपती के दर्शनभाग्य से पलभर को अघा गया तथा विस्मित भी हुआ। न जाने फिर किसका प्रचोदन था, स्मृति में आ गया। उन्हें मानस पूजा समर्पित की। एक अहम बात थी कि 'लं प्रथिव्यात्मने गंधान् धारयामि' अर्थात् मनोहर रहकर, बिना किसी प्रकार की उदासी फैलाए, सूक्ष्म गंधवहन से आस-पास का समस्त वातावरण प्रसन्न भाव में है। उस गंध के आघ्राण से साँस प्रसन्न, शांत एवं दीर्घ हो चुकी है।' 'हं आकाशात्मने पुष्पं समर्पयामि' कहने पर उन दोनों को तत्क्षण ही प्राप्त अभी विकसित हो रहे भिन्न-भिन्न प्रजाति की मल्लिका-पुष्पों से बनी मालाएँ उनके कंठों में सुशोभित हैं। पहले से ही धारण की हुई पुष्पमालाओं की सुगंध के साथ-साथ अभी प्रस्तुत की गई पुष्पमालाओं की सुगंध मिलकर उत्सव-सा वातावरण निर्मित कर रही है। इससे ये मालाएँ नयनसुखद ही नहीं, अपितु शेष सभी इंद्रियों को भी संतृप्ति दे रही हैं । जब 'वं वाय्वात्मने धूपंदर्शयामि' कहा गया तब रत्नरंजित मंगलारति ने स्वयं प्रकाशित हो उनकी आरती उतारी तथा उसकी छवि कुमार की देह पर छोटे-छोटे मोती सदृश छितर चुकी है। जब 'अं अमृतात्मने अमृत खंड निवेदनम् समर्पयामि' कहा गया तब सुस्वाद की गंध बिखेरता बादाम मिश्रित दुग्ध पात्र स्वयं उपस्थित हो गया। उससे निकल रही सुगंध ही समस्त बुभुक्षा को तृप्ति पहुँचाकर सर्वेंद्रियों में नव्य-शक्ति का संचार करा रही है।

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हो रहा है। आज उसने कई देवताओं से साक्षात्कार कर लिया था। उन सब अवसरों पर उसने मानसपूजा समर्पित की थी। किंतु कभी भी उनके मुँह से निकली बातों ने घनीभूत वस्तु-रूप धारण नहीं किया था।

इस प्रकार की विस्मित अवस्था में वह जान नहीं पाया कि उपस्थित दंपती कौन हैं? पीछे से किसी की प्रेरणा हुई कि उन्हें नमस्कार समर्पित कर उनका परिचय प्राप्त करो। याज्ञवल्क्य पर-प्रेरित हो उनसे प्रश्न करने ही वाला था कि आगंतुक दंपती ने अपना परिचय देते हुए कहा–''हम ही इंद्र-दंपती हैं। मैं सदा से तुम्हारे दक्षिण नेत्र में निवसित हूँ। ये इंद्राणी वामनेत्र में रहती हैं। हम तुम्हें वरदान देने आए हैं। तुम दिन-रात जिस आदित्य की उपासना में लगे हो, वह आदित्य मैं ही हूँ। जब तक तुम ब्रह्म-विद्या संपन्न नहीं बनो तब तक आदित्य का वरदान तुममें बीज रूप में अवस्थित रहेगा। ब्रह्म-विद्या प्राप्ति से पूर्व तुम्हारे इंद्रिय एवं अंगांगों में उसे धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए, अन्यथा ऐसा प्रयास विफल होता है। अतएव हम आए हैं तुम्हें आशीर्वाद देने कि वह ब्रह्म-विद्या तुममें अवस्थित हो फलप्रद हो तथा वह सामर्थ्य तुममें आए।''

''अनुग्रहीत हुआ।''

''और एक रहस्य भी जान लो। ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति में विघ्न डालनेवाले भी हम ही हैं। प्राप्ति को पहाड़-भर बनाकर दिखानेवाले हम ही हैं, क्योंकि अल्पांश ज्ञान-प्राप्त साधकों में भी सर्वज्ञ बन जाने का अहंकार भर जाए। जानते हो, ऐसा क्यों करते हैं? ब्रह्म-विद्या का पथ साधारण कोटि के लोगों के लिए कदापि नहीं। याज्ञवल्क्य, तुम जैसे लोग, जो लोकोद्धार के लिए ही जन्मे हो, के कार्यनिर्वहन के लिए आवश्यक ब्रह्म-विद्या का अनुग्रह करनेवाले भी हम ही होते हैं।''

याज्ञवल्क्य ने पूछा–''लोककल्याण के कार्य से आपको ऐसी ममता क्यों?''

इंद्र हँसे–''जानते हो कि यह प्रश्न कहाँ से उद्‌भूत हुआ ? यह तो प्राणदेव द्वारा उठाया गया प्रश्न है। जो वे स्वयं बता सकते थे, उसे मेरे द्वारा कहलाने के लिए ही यह प्रश्न उठाया है। अस्तु, संसार सुने तथा इसके बारे में जाने। मैं त्रिलोकाधिपति देवराज हूँ। इन तीनों लोकों पर मैं इसी आशय से शासन करता हूँ कि यहाँ सर्वत्र सुख ही सुख व्यापा रहे।

''सुख जो है वह मन का होता है। मन तो काल, देश एवं वर्तमान के अनुसार जिस देश में बसता है उसके गुणकर्मों के प्रभाव में अपने सुख की अवधारणा कर लेता है। अब एक पग आगे बढ़ो। मन देह के अंतर्गत नाड़ी व्यापारों से तथा प्राण संक्रमणादि से प्रचोदित बुद्धि के अधीन होता है तथा उसके संचरण में फँसकर इधर से उधर, उधर से इधर उछाली जानेवाली गेंद के समान भटकता रहता है।

अतएव सुख का कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं होता। हम इसी को मन के इच्छा-द्वेषों के अनुसार सुख-दुख का नाम देते हैं। समझ गए?''

''हाँ, आगे कहिए।''

''देह की नाड़ियाँ कल्मष-विहीन हों तो वह एक प्रकार की शुद्धि है। दूषित आहार आदि से विरत प्राणादि भी निर्मल रहे तो वह दूसरी प्रकार की शुद्धि है। यदि पूर्वकर्म पवित्र रहे तो उससे प्राप्त शुद्धि तीसरी शुद्धि है। यों शुद्धित्रयों से पूर्ण शुद्ध हुआ मन तो ब्रह्म-विद्या की ओर धावित होता है। उस प्रयास में विफलता न हो, इस आशय से हमारा अनुग्रह होता है। यदि यह अनुग्रह प्राप्त होता है तो साधक का प्रयास पूर्णता को प्राप्त कर वह ब्रह्म-विद्या संपन्न बनेगा। तुम पूछोगे कि ऐसा होने से संसार को क्या लाभ होगा।''

याज्ञवल्क्य ने हाथ जोड़कर निवेदन किया-''आदेश हो। मैं सावधान हूँ।''

इंद्र हँसे-''देखो न, तुम्हारे मन को प्रचोदित कर रही प्राणग्नि प्रसन्न है। इसीलिए तुमने कहा-'मैं सावधान हूँ।' संसार सर्वदा एवं सर्वत्र पर-प्रेरित होता है। हमारे दैनिक आचरणों से संसार का नियमन करनेवाले काल-देशों से हमारी देह में पल-पल कल्मष भरता जाता है। इसको मन प्रतिबिंबित करता रहता है। इस तरह जो कल्मष भरा होता है उसका धोवन ही ब्रह्म-विद्या है। घर में बिना उपयोग के रखे भांड-बरतन अपनी चमक खो बैठते हैं, उन पर मैल जमती जाती है। यदि कोई उन्हें इमली का लेप देकर रगड़-रगड़कर धोए तो वे पूर्ववत चमकने लगते हैं। इसी प्रकार से कोई ब्रह्म-विद्या संपन्न जन्म लेता है तो उसके दर्शन, स्पर्शन एवं संवाद द्वारा संसार अपने कल्मष को खोकर पूर्ववत् बनता है। यही तो संसार की कांतिमय अवस्था है। यह तो सहज अवस्था है, उसका धर्म होता है। उस स्थिति में समस्त देह परिशुद्ध होती है तो संसार में लोग सत्य-धर्म पालक बन जाते हैं। यों संसार का अच्छा बनना ही लोकोद्धार या लोक-कल्याण होता है। इस प्रकार का लोकोद्धार ब्रह्मज्ञ द्वारा ही संभव होता है। समझ गए?''

''देव, आप सबकी कृपा से जान पाया।''

''ठीक है याज्ञवल्क्य, 'तुम' कहने के बजाय 'आप' जो कहा वह भी सही है। तुम्हारा जन्म भी हम सबके प्रयास से हुआ है। यह तीनों लोकों के कल्याण के लिए है। इसीलिए यद्यपि तुमने मेरी उपासना प्रत्यक्ष रूप में नहीं की, तथापि मैंने तुम्हें दर्शन दिए। मैं जो सौभाग्य प्रदान करता हूँ उसको रक्षा प्रदान करनेवाली हैं ये इंद्राणी। इसीलिए इसको अपने संग लाया हूँ। भविष्य में तुम अपने लिए कोई इच्छा

न करो। तुम्हारे मन में यह अहंकार न समाए कि मुझे लोकोद्धार के लिए एवं आत्मोद्धार के लिए यह सब कुछ करना होगा। उसका दायित्व हमारा है। किससे कौन-सा कार्य संपन्न होना है, कब होना है—इसका लेखा-जोखा हम रखेंगे। अब भविष्य में तुम्हारे लिए करणीय है भक्ति-ज्ञान एवं वैराग्य का संवर्द्धन। तुम जानना चाहते होगे कि यह क्या होता है? उसकी अनुभूति का अनुग्रह तुम पर होगा। तुम्हारा काम केवल यही होगा। सावधान होकर ध्यान से सुनो, अहंकार कभी तुम पर हावी न हो, अपने आचरण एवं व्यवहार में सदा सावधान रहो। बाह्य एवं अंतः शुद्धि को बनाए रखो।''

अब इंद्र ने बात समाप्त की। नकेल से बँधी रस्सी को खींचने पर अपने-आप नियंत्रण में आनेवाला बैल जैसा याज्ञवल्क्य ने मानो किसी से प्रेरित होकर पूछा—''देव, आप देवता-जन सूक्ष्म रूप में हममें अवस्थित रहकर हमारे अनजाने ही हमसे व्यापार करते रहते हैं। इसलिए निवेदन करता हूँ कि आचार-विचारादि व्यवहारों में मुझमें कल्मष न भर जाए, मेरी बाह्याभ्यंतर शुद्धि भ्रष्ट न हो जाए—ऐसी रक्षा आप प्रदान नहीं करेंगे तो मैं उस अवस्था को किस प्रकार प्राप्त कर पाऊँगा?''

''इसीलिए हम आए हैं। हम तुम्हें उस सामर्थ्य का वर प्रदान करते हैं। ऐसा वरदान ग्रहण करो कि तुम्हारी देह के अंगांगों में आनंदोल्लास भर जाए। हम तुम्हें जो अनुग्रह प्रदान कर रहे हैं उससे तुम्हारे लिए ब्रह्मधारण सरल होगा। इसे स्वीकारो। जब तक तुम प्रत्यक्ष देवता आदित्य, वायु एवं अग्नि को जड़ न समझते हुए चेतन होने का गौरव प्रदान करते रहोगे तब तक तुम्हें किसी प्रकार का कल्मष नहीं लगेगा। तुम वेदज्ञ हो। तुम देखते रहो कि हम तुम्हारी देह में कब,क्यों और कैसे व्यापार करेंगे। तुम्हारी बाह्यांतर शुद्धि रहेगी ही। अस्तु, हमने उद्दालक जी के मुख से, अवस्थात्रय निरूपण से पूर्व ही साक्ष्यानुभव के विचार में कह सुनाया था? ऐसा क्यों किया, समझ गए?''

''यदि आप कहें तो जान लूँ।''

''इस विचार को अंततः न तजना। सुनो, मानव जागृत-अवस्था में जब इंद्रियाँ भी जागी होती हैं, जो कुछ समझ पाता है, इसी को सत्य मान बैठता है। किंतु वास्तव में यह सत्य नहीं। कर्म एवं ज्ञानेंद्रियों का तिरस्कार करके जानने का एक और मार्ग है। वह जागृत ज्ञान का विपरीत नहीं होता, परंतु तुम्हें जानना चाहिए कि वह उससे बढ़कर निश्चयात्मक होता है। यद्यपि वह इंद्रियगोचर एवं प्रकट नहीं होता, तथापि वह असत्य नहीं होता। विश्वास करो कि वह सत्यस्य सत्य अर्थात

सत्य का भी सत्य होता है। तुम्हें इसका शीघ्र ही स्वानुभव होगा। जब वह समय आएगा, तब तुम अपने-आप मेरे इस कथन को मान्य करोगे। अब हम विदा लेते हैं।''

अब तक जो दंपती याज्ञवल्क्य को दर्शित होते रहे, अब तिरोहित हो गए। तथापि याज्ञवल्क्य ने शून्याकाश को ही पूजादि समर्पित कर नेत्र खोले।

वारुणी-विद्या

पंचात्म-संक्रमण-विद्या के विषय में बताने के लिए आचार्य तत्पर हुए। उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा-''क्यों याज्ञवल्क्य, सावधान तो हो?'' सावधान हो बैठे कुमार ने कहा-''हाँ, तत्पर हूँ, आदेश हो । आपकी आज्ञानुसार मैंने चक्ता को आदित्य भाव में माना है तथा निवेदन किया है कि वे हम दोनों की रक्षा करें।''

आचार्य ने आरंभ किया-''प्रथम जो है वह अन्नमय देह होती है। अब उसका साक्षात्कार कर लो। अब इस देह का प्रतिबिंब तुम्हारे सामने बैठेगा। यह न सोचो कि एक देह दो में कैसे बँट गई। जो तुम्हारी दृष्टि बाह्याकाश में लय हुआ करती थी अब देह के निकटवाले आकाश में तुम्हारे तपोबल से प्रत्यावर्तित होगी तथा तुम्हारी देह को ही देखेगी। अतएव तुम्हें अन्य देह दृष्ट होगी। वही अन्नमय कोश के पार होना होता है।''

''हाँ, तो मुझे अब दूसरी आकृति दीख रही है। उसी तरह उसके सारे अंगांग स्पष्ट दीख रहे हैं। नखशिखांत स्पष्ट दीख रहे हैं।''

''अब तुम उस आकृति की पूजा करो तथा प्रार्थना करो कि आगे के लिए पथ प्रशस्त कर दें।''

याज्ञवल्क्य ने उस आकृति की पूजा की तथा निवेदन किया कि आगे बढ़ने के लिए पथ खोल दे। तब वह आकृति ज्वालामय बन गई। थोड़े समय के लिए उसी प्रकार बनी रही। पुनः श्याम सुंदर आकार की बनी। मूलाधार से कंठप तक एक ही पंक्ति में पाँच ज्वालाओं में विभक्त होकर दर्शन दिया।''

आचार्य ने कहा-''देखो, वही प्राणमय कोश है। उसकी पूजा करो, उससे निवेदन करो कि वह अपना क्रियाकलाप दिखाए।'' याज्ञवल्क्य ने वैसा ही किया।

जीर्ण हुई अश्वत्थ वृक्ष की भाँति का एक चित्र दीख पड़ा। देह की सीमारेखाओं के बीच में रंध्रों से युक्त छलनी सदृश स्नायुमंडल दीखा। उस स्नायुमंडल के बीचों-बीच नीले, सफ़ेद, काले, लाल एवं पीले वर्णों के दीप, उनसे निकलती प्रभा विश्वतोमुख हो फैली हुई है। क्षण-भर के लिए भी न विच्छित्त (न छितरनेवाली) दीपशिखा की प्रभा मंद होने पर भी स्पष्ट रूप से दीप्त है।

''यहाँ तक मानव के लिए यातायात की प्रक्रिया संभव है। वहाँ नीले प्रकाश को पसारते हुए जो बैठा हुआ है वह व्यानदेव है। देह के अंतर्गत जो भी कार्य चलते हैं उसका कर्त्ता वही है। जब देही निद्रामग्न होता है तब भी जागृत अवस्था में रहते हुए श्वास-निश्वास से लेकर आहार-पाचन तक सभी कर्मों को संपन्न करानेवाले वे ही हैं। इनकी कृपा हुई तो प्राण पंचक बिना किसी प्रयास के प्राप्त होता है। अतएव सर्वप्रथम उनकी पूजा करो तथा आगे जाने की अनुज्ञा माँगो।''

व्यानदेव ने पूजा स्वीकार की, प्रसन्न होकर अपने अनुज प्राण, अपान, समान एवं उदानों का परिचय कराया। ''देखो, ये हैं प्राणदेव, संपूर्ण देह को ऊष्म अवस्था में रखने का दायित्व इन्हीं पर है। बाहर से जो भी आता है उसको ग्रहण करनेवाले ये ही हैं। ये हैं अपानदेव, देह से जो भी निष्कासित होता है उसके लिए तथा देह के चलन के लिए दायित्व ये ही निभाते हैं। अब ये रहे समान देव। ये पाचित आहार को तीन भागों में विभाजित करते हैं तथा इस देह के लिए अनावश्यक लगनेवाले भाग को बाहर भेजने का कार्य अपान देव के वश में कर देते हैं। शेष दो भागों में एक भाग देह को, दूसरा मन को देते हैं। ये हैं उदान देव, देह में जो भी शब्द होते हैं उन सबके लिए यही सरस्वती व्यूह का मुख बनकर बोलते रहते हैं। यदि ये प्रसन्न होंगे तो तुम प्रसन्न होकर वेद-मंत्र का पाठ करोगे। प्रसन्न होने पर ये परमाकाश में अवस्थित सरस्वती को लिवा लाकर उसको वर्णात्मक बना पाएँगे। तो मैंने सबका परिचय करा दिया है। अब जो भी पूछना चाहो पूछ लो।''

''आप सब की उपासना का क्रम मुझे बता दीजिए।''

''अब तुम आगे बढ़े हो। बीच में रुकना ठीक नहीं होगा। अतएव हम सब की समष्टि में पूजा कर हमारी अनुज्ञा पाकर आगे बढ़ो। अब तक हम तुममें अवस्थित रहे हैं तथा तुम्हारी अर्चना आदि से संतुष्ट हुए।''

याज्ञवल्क्य ने प्राणदेव समष्टि को पूजा समर्पित की। जो रत्नदीप पाँच रूपों में विभक्त थे, अब एक होकर हृदय में स्थित हो पूजा ग्रहण की तथा प्रसन्न होकर अनुज्ञा दी।

देह की रूपरेखा जस की तस रह गई है। उसमें दृष्ट पीपल के पत्ते का ढाँचा भी वही है। आचार्य ने कहा–''कुमार तुमने देखा कि पूर्ण अन्नमय को आवृत पुरुष ही प्राणमय होता है। वैसे ही संपूर्ण प्राणमय कोश को आवृत मनोमय कोश को देखो।''

प्राणदेव ने पथ खोल दिया। चंद्र-मंडल सा शांत श्वेत ज्वाला हृदय प्रदेश में दृष्ट हुई। उसके दो भाग हो चुके थे। एक भाग तो प्राणमय कोश की ओर जाकर इंद्रिय-गोलक में प्राण के साथ बैठा था। दूसरा संपूर्ण देह में व्याप गया था। यद्यपि वह प्रकाश पंचप्राणों से निकले प्रकाश जैसा ही था, तथापि मालूम हो रहा था कि यह वही नहीं है। परंतु उसको अलग समझकर प्रत्येकित करना भी दुष्कर था।

आचार्य ने कहा–''वही मनोमय कोश है। उसी को पूजादि समर्पित कर परिचय प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करो।''

मनोमय कोश ने कुमार द्वारा समर्पित पूजादि स्वीकार कर प्रसन्न होकर बात की–''मुझमें दो ज्वालाओं को बनते हुए या उससे दो भागों में विभाजित होते हुए तुमने देख लिया है न ? मेरे दो रूप होते हैं– मनस्सर्व एवं मनोतीत। मनस्सर्व तो इंद्रियादियों पर आश्रित बहिर्मुखी है। मनोतीत इंद्रियादियों से परे होकर देह में प्राण के साथ व्यापार करता रहता है। यदि तुम मनस्सर्व पर अंकुश कर लोगे तो मनोतीत का परिचय प्राप्त होगा। यह मनोतीत प्राणवाही बनकर लोक-लोक में भ्रमणकर लौट सकता है। इस मनोतीत की सन्निद्धि को पाकर योगियों ने कई तत्त्वों के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। वे तो काल-देश-वर्तमानों पर विजय प्राप्त कर जहाँ चाहें वहाँ ,जब चाहें तब, इच्छित रूप धारण कर व्याप सकते हैं। पर ऐसी स्थिति में पहुँचने से पूर्व मेरा अतिक्रमण करना होगा।''

''देव, आप तो सर्वशक्ति-संपन्न हैं, आपका अतिक्रमण कर आगे बढ़ना कैसे संभव होगा?''

''याज्ञवल्क्य, इस संसार में असंभव कुछ भी नहीं। काल तथा कर्म सबका पाक (पकाने की क्रिया) करता रहता है। सब कुछ विपरीत स्थिति को प्राप्त होता रहता है। ऐसे में असंभववाली बात कहाँ ? तुमने दो लकड़ियों की कथा सुनी होगी न ? यदि उनमें से एक को छोटी बनाना है तो दूसरे को बड़ी बनाना अनिवार्य होता है। इस प्रकार उनमें से एक को छोटी बना दिया जाए तो दूसरी बड़ी हो जाएगी। यों जो असंभव होता है उसको संभव बना लिया जाता है। यदि ऐसा होना हो तो सदा से संकल्पपूर्वक प्रयास किया जाना है। उस पर मेरा अनुग्रह भी चाहिए। किंतु मैं

अपनी इच्छा से तुम्हें कुछ भी नहीं दे पाऊँगा। मुझे प्रेरणा मिलती है। उसके अनुसार चलना मेरा धर्म बनता है। अतएव मेरे जो अनुगत हैं, उन्हें देखा करो।''

याज्ञवल्क्य ने देखा–आदित्य प्रसन्न होकर विराज रहे हैं। वही आदित्य जिसकी उपासना वह रात–दिन किया करता है, वही मनःप्रेरक जिसको पूर्व में देखा हुआ है। आदित्य ने कहा–''हाँ, हाँ, मन को प्रेरणा देनेवाला मैं ही हूँ। मैं, मनोदेव ही अवस्थात्रय के लिए कारण कर्त्ता हूँ। तुम्हारा प्रयास इतना बढ़ जाए कि प्राणमय एवं अन्नमय तुम्हारे उन प्रयास परिमाणों को वहन करने में असमर्थ हो जाएँ, तब वे मनोमय से निवेदन करेंगे। मनोमय प्रत्यावर्तित होता है। अर्थात् वह मेरे किरणों में समा जाता है। तभी सुषुप्ति की प्राप्ति होती है। वहाँ जीव के लिए करणीय कुछ नहीं रह जाता। अतएव याज्ञवल्क्य तुम इसकी भली–भाँति आराधना कर उसका प्रसाद प्राप्त कर लो। तभी वह तुम्हें अग्रसर होने के लिए पथ उन्मुक्त कर देगा।''

आदित्य तिरोहित हुए। प्रसन्न मंदहासयुत कोमल किल–किलारव सुनकर कुमार उस ओर मुड़ा। अब मनोदेव ने मूर्तरूप धारण किया। सिंहासन पर आसीन हैं। मुकुट धारण किए हुए हैं। पूर्व–सी चंचलता नहीं है। चंचल किरणावली अब आकार ग्रहण कर चुकी है। याज्ञवल्क्य ने पुनः पूजा समर्पित कर प्रार्थना की–''देव प्रसन्न हों, आगे की यात्रा सुकर बनाएँ।''

मनोदेव ने कहा–''तुम्हारी यात्रा को सुकर बनाने के विचार से ही देवताओं ने तुम्हें सर्वज्ञ उद्दालक जी के आश्रम में प्रविष्ट कराया है। याज्ञवल्क्य, वहाँ संकल्प करता है वही, यहाँ क्रिया बन जाती है। मैं पूर्णरूपेण चंचल हूँ। जल से, वायु द्वारा कंपित किसलय से बढ़कर चपल वृत्ति है मेरी। मेरी इस चपल वृत्ति को दूर करने का उपाय जानते हो? आदित्य दर्शन करो। तुम अभी आदित्य दर्शन कर उसमें निहित सावित्र किरणों को अपने हृदय में भरते रहे। इसीलिए मैंने अपनी चपलता तजकर तुम्हें दर्शन दिया है। अब अग्रसर होओ। अभी तक तुमने देह में प्राणमय कोश देखा। अन्नमय एवं प्राणमय में पूर्ण मुझे देखा। अब अन्नमय एवं प्राणमय में मेरी ही भाँति अवस्थित बुद्धिदेव के दर्शन भी कर लो।''

मनोदेव अपने सिंहासन सहित तिरोहित हो गए। अब उसके स्थान पर कोई सुखासन स्थित है। उनका शरीरार्ध काला है, शेष श्वेतवर्णी। याज्ञवल्क्य ने उसे पूजा समर्पित की। उसने पूजा स्वीकार ली है–''मैं ही तुम्हारी बुद्धि हूँ। प्रत्येक मनोव्यापार में मेरा हाथ है। ऐसे लोग भी हैं जो मन के पीछे की ओर अवस्थित मेरे

अस्तित्व के कुछ अंशों को बड़े प्रयास से देख पाए हैं। किंतु मुझे प्रत्यंकित कर देखनेवाले तुम जैसे लोग इने-गिने ही हैं। मैं जानता हूँ कि तुम अधिकारी हो, यह भी जानता हूँ कि तुम्हें जो रहस्य प्राप्त होगा, उसका अनुचित उपयोग तुम नहीं करोगे। इसीलिए तुम पर मैं यह रहस्योद्‌घाटन कर रहा हूँ। जो मेरा यह श्वेत-कृष्ण रूप देख रहे हो यह पूर्ण रूप से यदि श्वेत बन जाए तो समझो कि तुम पर मेरा अनुग्रह हुआ है। इधर देखो। यह कृष्ण रूपवाला भाग जो है उसको वैसा बनानेवाला अहंकार ही है। जब यह अहंकार-मुक्त हो जाता है तब यह भी शुद्ध श्वेतवर्ण का हो जाता है। चूँकि अब तुम अहंकार-मुक्त हो, तुम शुद्ध बने हो, तो मैं भी शुद्ध बन चुका हूँ। अहंकार को पनपने न देने की स्थिति ही वैराग्य है। मानव द्वारा कृत प्रत्येक कार्य से जो अहंकार उसमें जन्म लेता है उसको विनष्ट करना ही वैराग्य होता है। यों जो वैराग्य-संपन्न हो जाता है वही मेरा अतिक्रमण करने में समर्थ होता है। अब तुम्हें मेरी अनुज्ञा की दरकार भी नहीं, मैं स्वयं परे हट गया हूँ। अब आगे बढ़ो।''

आचार्य ध्यानस्थ हैं। उनके मुँह से कोई बात नहीं निकलती। तथापि एक बार झुलाया गया झूला किसी के द्वारा एड़ न लगाने पर भी जिस प्रकार अपने-आप झूलता रहता है उसी प्रकार उसकी दशा बन गई है। याज्ञवल्क्य ने ऊपर छलाँग लगाई। देह में अब तक दर्शित ढाँचे अस्पष्ट हो गए। एक विस्तृत उन्मुक्त प्रदेश दीख पड़ा। वहाँ केवल शून्य व्याप्त था। केवल ओंकार ध्वनि सुनाई दे रही थी। किंतु उसका मूल है कहाँ, यह ज्ञात नहीं हो रहा था। वहाँ सब अजीब-अजीब लग रहा था। उसको जकड़े हुए नाम-रूप गलकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो चुके थे। वहाँ कौन-सी दृष्टि पसर चुकी है, इसके बारे में कहना दुष्कर था। वहाँ कौन-से कान सुनते हैं, यह भी ज्ञात नहीं हो रहा था। कैसे ज्ञात हो रहा था, वह भी नहीं जाना जाता। लगता था कि वहाँ कुमार को अर्चनादि प्राप्त हुए हैं। इसके प्रत्येक अस्तित्व की धारणा ही विनष्ट हो रही है। बिना कान के सुनाई देता है। बिना आँखों के दीखता है। बिना मन के ज्ञात हो रहा है। लगता है कि कोई कह रहा है-

''मैं जग का कारण कर्त्ता हूँ। ध्यान रहे, यहाँ जो आया है वह आरूढ़ है (ऊपर की स्थिति में पहुँचा हुआ), उसका अवरोहण न हो। जब मन एवं बुद्धि का व्यापार स्तब्ध हो जाता है, तभी मैं प्रकट होता हूँ। मुझ पर आश्रित होकर ही सब जी रहे हैं। अब आज के लिए इतना पर्याप्त है।''

याज्ञवल्क्य बिना किसी प्रयत्न के प्रत्यावर्तित हुआ। उसके नेत्रोन्मीलन होने तक आचार्य ने भी आँखें खोलीं। याज्ञवल्क्य ने भी 'गुरुदेव' कहते हुए हाथ जोड़े तथा आँखें खोलीं। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और हँसे।

पंचभूत प्रकट हुए

पंचात्म-संक्रमण-विद्या को पूर्णरूप से वश में कर लेने की चिंता याज्ञवल्क्य को दिन-रात बाधित करने लगी। भर पेट खाया हुआ वन्यप्राणी उसके पाचनार्थ एकांत गुफ़ा के आश्रय में जाता है। इसी प्रकार वह एकांत के लिए कुटिया का आश्रय ले चुका है। उसे अब भोजन की ओर भी इतना ध्यान नहीं। किंतु आहार वर्जन करे, ऐसी अजीर्णावस्था नहीं थी। देह हलकी हुई है। उसमें फुर्ती है। मन पूर्णतया जागृत है। इंद्रियों में थकान भी नहीं।

कुमार ने अपने विहित कर्म समाप्त कर जप किया। देवताओं के अनुग्रह से प्राप्त पंचात्म-संक्रमण-विद्या द्वारा वह योग को क्षेम में परिवर्तित करने के प्रयास में निरत है। अब चाहे कुमार की आँखें मुँदी रहें या खुली, सामने स्वयं को ही देखा करता है। सम्मुख प्रस्तुत किसी व्यक्ति का परिचय पाना हो तो उसकी आँखों के सामनेवाले स्वयं के बिंब को वहाँ से हटाना पड़ता है, तभी उसको आगत का मुख दिखाई देगा। अन्यथा आगत व्यक्ति से बात करके श्रवण द्वारा उसका परिचय पाना पड़ेगा। ऐसी ही दशा हो गई है। ध्यान में बैठकर इंद्रियों की ओर प्रवहित मन से प्रार्थना करते हुए वैसा हुआ है। बिंब तो सामने है। ज्यों-ज्यों ध्यान घनिष्ठ हो रहा है, त्यों-त्यों बिंब स्पष्ट होता जा रहा है। अंत में वह बोलने लगता है-''अब पंचात्म-संक्रमण-विद्या तुम्हारे वश में आ चुकी है। किंतु वह अभी ढाँचे के रूप में है; अतएव विवरण-ज्ञान नहीं है। यह सही है कि मैं अन्नमय कोश का बिंब हूँ। किंतु यह जो प्राणमय है तथा वह जो मनोमय है– ये दोनों कोश मुझसे प्रभावित हुए हैं। मेरा जन्म प्राण से ही हुआ है, यह भी सच है। तथापि मेरे बढ़ने पर प्राणमय कोश मेरे प्रभाव में आ चुका है। मनोमय कोश का जन्म भी प्राण से ही हुआ है। अतएव वह भी मेरे प्रभाव में आ चुका है। अतएव मुझे भली-भाँति जान लो। उसके बाद इन सबको जानना सरल हो जाएगा।''

''तुम्हें जानने का मार्ग क्या है ?''

''मुझे जानने का तात्पर्य होता है, मुझे बाँधे हुए पंचभूतों को प्रत्येक रूप में जानना। अब तुम सन्नद्ध तो हो ?''

''हाँ, सन्नद्ध हूँ।''

''अब इसको स्थूल रूप में समझाऊँगा। जो घनीभूत है, वह सारा अंश पृथ्वी है। जो तरल है, वह जल है। जो प्रकाशमान है, वह तेजस् है। चलन संपृक्त सब कुछ वायु है। जो थोथा होता है, वह आकाश है।''

''देह के किसी भाग को देखने पर उसमें ये पाँचों तत्त्व विद्यमान हैं, तब इन पंचभूतों को प्रत्येकित कैसे देखा जाए ?''

''तुम्हारा प्रश्न सटीक है। अब तुम पृथ्वियादि भूतों का अलग-अलग रूप में ध्यान करो। तुम्हें तो अग्नि, प्राण एवं आदित्य की कृपा प्राप्त है ही। वे तुम्हें दर्शन देंगे।''

कुमार ने वैसा ही किया। उसके मन में यह धारणा हो चुकी थी–कोई मुझे प्रचोदित कर रहा है। बिंब में बैठा कोई बात कर रहा है। किंतु पीछे मुड़कर देखने को मन नहीं कर रहा। उसे अनुभूति हो रही है कि वह किसी प्रवाह में फँसकर बहा जा रहा है। उसने कभी पृथक् रूप में पृथ्वी की आराधना नहीं की थी। तथापि उसके मन से प्रार्थना निकली–''हे पृथ्वी देवी, मुझ पर अनुग्रह करो। पृथ्वी भूत स्वरूप में सबको प्रश्रय दान कर रही हो। मुझ पर कृपालु बनो। तुम्हारे दर्शन से हमें किसी प्रकार की हानि न हो। तुम्हें नमस्कार करता हूँ।''

भास हो रहा है कि बिंब सम्मुख उपविष्ट है। किंतु उसमें कुछ अंतर अवश्य आया है। काली-सी स्त्री है। नेत्र दीप्त हैं। उज्ज्वल प्रकाश दीख रहा है। ऐसे लगता है कि वे आँखों से ही आकर्षित कर रही हैं। उनकी कांति उन उद्दीप्त आँखों का परिणाम है। अर्थात् यदि वे आँखें नहीं होतीं तो वह चेहरा ही नहीं होता। वैसे ही उसका समस्त शरीर अंधकारावृत-सा दीखता है। किंतु उस अंधकार में भी प्रकाश-सा कुछ अवश्य है। वह संसार में दृश्यमान प्रकाश नहीं, प्रभा नहीं। इस प्रकार अपने संपूर्ण अस्तित्व को बनाए हुए एक बिंब दीख रहा है। कुमार ने उसे पूजा समर्पित की।

तब वह बिंब मातृ सहज वात्सल्य से बोल उठता है–''कुमार, तुमने मेरा दर्शन करना चाहा। यह देखो। जो मुझे देख लेते हैं उनकी अपनी दृष्टि नहीं होती। उनकी दृष्टि मेरी दृष्टि में समा जाती है। चूँकि तुम प्रार्थी हो, मैं देवकार्यार्थ तुम्हें दर्शन

दे रही हूँ। अब मैं अपने विचित्र माहात्म्य के बारे में तुम्हें बताऊँगी। सुनो, परमात्मा के सत्य स्वरूप का बाह्यरूप मैं ही हूँ। जहाँ मैं हूँ, वहाँ स्थैर्य प्रदान करती हूँ। सबका आधार मैं ही हूँ। व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए मैं ही कारणीभूत हूँ। मेरे अनुग्रह के बिना कोई आगे बढ़ नहीं पाता। जिसने तुमसे कहा कि अपने बिंब में बैठकर मुझे देखो, उससे पूछो; अभी नहीं, बाद में पूछ सकते हो। हम देवता हैं, प्रत्यक्ष-प्रिय नहीं, परोक्ष में खड़े होकर सब नाच नचाते हैं। देखो, अब मेरी दया हुई है, तुम जहाँ चाहे विचर सकते हो।''

कुमार की जाँघ के नीचे कुछ बदला-बदला-सा अनुभव हुआ। वह पक्षी जैसा हलका हुआ। हाथ-पैर यथावत् हैं, देह भी वही; किंतु अब उसमें वह भार नहीं। किसी ने कहा-''जागो, उड़ान भरो। जब तक तुम्हें अनुभव नहीं होगा तब तक तुम्हें विश्वास कैसे आएगा?''

कुमार मेघ-मंडल तक उड़ा। वहाँ उसने एक विचित्रता देखी। वहाँ एक दूसरी देवी थीं। वह शुद्ध वस्त्र धारण कर प्रकाशमान हो बैठी हैं। कुमार उनको देखकर नमस्कार करता है। वे अपने विशाल नेत्रों से देखती हैं मानो चारों ओर के वातावरण को उज्ज्वल बना रही हों। वे कहती हैं-''कुमार, तुम्हारा स्वागत है। मेरी अनुजा पृथ्वी ने निर्देश देकर तुम्हें यहाँ भेजा है न ? मैं उसकी बड़ी बहन जलदेवी हूँ। जो मुझे देखते हैं, वे मुझमें पिघल जाते हैं। किंतु तुम देवतानुग्रह-संपन्न हो। अतएव तुम्हें अनुग्रह प्राप्त है । अब तुम आगे बढ़ो। अब तुम अपने को देख लो। तुममें क्या अंतर आया है, यह जान लो। उसके बाद ऊपर जाना।''

कुमार ने अपना निरीक्षण किया। उसकी देह काँच के खिलौने-सी बनी है। यद्यपि उसकी दृष्टि के आगे कुछ अवरोध है नहीं, तथापि वह ऐसा दीखता है कि प्रवहित जल में वह सब दीख रहा हो। देह भारहीन हो चुकी है। लघु से लघुतम हो चुकी है। ऐसा अनुभव हो रहा है कि उसे एक स्थान पर खड़ा भी नहीं किया जाता। तथापि उसका ढाँचा है, उसके हाथ-पैर हैं, सिर रेखा-स्वरूप स्पष्ट है । अब कुमार ने अपनी देह को देखना छोड़कर उस देवी को पूजा समर्पित की।

अपने पंख की सामर्थ्य को परखने की इच्छा से पंख फड़फड़ा रहे पक्षी जैसा कुमार की देह अब ऊपर उड़ने को तत्पर है। बस,पलभर में देह ऊर्ध्व की ओर उठी। वायुमंडल में संचरित होते हुए वह ऊपर और ऊपर उड़ रही है।

अब सामने लाल वस्त्रों से सजे एक पुरुष प्रकट हुए हैं। वे लाल वस्त्रों पर लाल आभूषण एवं लाल मालाएँ धारण किए हुए हैं। वे कह रहे हैं-''कुमार मेरा

दर्शन कर आगे बढ़ना। मेरी बहनों का अनुग्रह प्राप्त तुम, मेरी भी कृपा पा लो।''

कुमार खड़ा होकर उनकी पूजा करता है।

वे इसकी पूजा से प्रसन्न होकर कह रहे है–''मैं ही हूँ अग्नि। पंचभूतों में मध्यम मैं ही हूँ। यों तो जो मुझे देखता है वह मुझमें समा जाता है। किंतु कुछ विशेष कारणों से तुम्हारे साथ ऐसा कुछ नहीं होगा। मैंने स्वेच्छा से तुम्हें अनुगृहीत किया है। यहाँ तुममें जो अंतर आया है, उसको समझकर आगे बढ़ना।''

कुमार की देह में जो स्पष्ट की स्थिति आई थी, जो जल में दृश्य हो रही थी, वह अब नहीं रही। अब देह इस छोर से उस छोर तक पारदर्शी काँच-सी बनी हुई है। यद्यपि पूर्व का मोटापा, ऊँचाई यथावत् रह गई है तथापि वह एक तेजोफलक की भाँति, स्फटिकमय दीख रही है। अब देह चलने की क्रमिक गति को खोकर जहाँ चाहें वहाँ जाने की सामर्थ्य प्राप्त कर चुकी है। अग्नि को नमस्कार समर्पित करने के बाद कुमार वायु के साथ वायु बनकर तैरता-सा जा रहा है। एक और अंतर है–यह कहना असंभव लगता है कि कोंपलों में परिलक्षित संचलन के समान देह में कंपन होने पर भी अंगांग प्रत्येकित हैं। कुछ भी पकड़ा जा सकता है। किंतु ऐसा दीखता नहीं कि वहाँ हाथ है। कहीं भी जाया जा सकता है, पर पैर नहीं दीखता है; देखा तो जा सकता है, पर आँखों का अस्तित्व दिखाई नहीं देता। सुना जा सकता, पर कान नहीं दीखता। गंध नहीं, स्वाद नहीं, दर्शन नहीं। किंतु पानी में डूबा हुआ-सा है। स्पर्श उपस्थित रहता है तथा लगता है कि वही सभी इंद्रियों का काम निभा रहा है।

यों तैरने से वहाँ से यहाँ भटकते बहुत समय व्यतीत हुआ होगा। तभी हवा का एक तेज़ झोंका आया और एक पुरुष दीख पड़ा। कुमार यह जान नहीं पा रहा था कि वह पुरुष क्या पहने हुए है, क्या ओढ़े हुए है तथा कैसा है। तथापि यह भी कहते नहीं बनता था कि वह कुछ जानता भी नहीं। रूप स्पष्ट नहीं है, किंतु अहसास-मात्र शेष है। आते ही उसने बात की–

''कुमार, तुम यहाँ तक आ गए। बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे ज्ञात था कि तुम आओगे। मैं वायु हूँ। मैं सभी का कारण कर्त्ता हूँ। तुम्हारी देह के बनने में भी मेरा हाथ है। जो भी मेरा यह रूप देख लेते हैं, वे मुझमें मिल जाते हैं। किंतु भविष्य में तुमसे बहुत कार्य संपन्न होने हैं। अतएव तुम आगे बढ़ो। किंतु जब तुम मेरे अग्रज आकाश के पास पहुँचोगे तो एक बात का ध्यान रहे। वहाँ जाकर उसे देखनेवाले सभी लोग उसमें लय हो जाते हैं। किंतु तुम अपने मन में कहते रहना 'अस्ति, तुम

ही अंत नहीं हो। तुमसे भी परे और कोई है। एक और है। वह मैं ही हूँ।' यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो तुम भी लय हो जाओगे। तुम्हारा अस्तित्व ही मिट जाएगा। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो।''

कुमार को चाहिए था कि वह उसकी पूजा करता। किंतु यह हो नहीं सका। वह तो वहीं चला गया। बहुत भारहीन दशा का अनुभव कर रहे कुमार को लगा कि देह ही छूटकर नीचे गिरी। अपनत्व के अस्तित्व के सिवाय अन्य सब शून्य बन गया था। एक शब्द भर सुनाई दे रहा था। उसे प्रतीत हो रहा था कि वह जहाँ है वहीं फैलता जा रहा है; वहाँ जो कुछ था, जहाँ था,वहीं लय होकर सजातीय किसी अनिर्दिष्ट वस्तु में समा जाने का बोध हो रहा था। तथापि अहमस्मि वाले अस्मिता-रूप की अनुभूति हो रही थी। एक और विशेषता थी कि अव्यक्त–अनिर्वचनीय शब्द वहाँ व्यापा हुआ था। कुमार को अहसास हो रहा था कि वह स्वयं शब्द-रूप बन गया है।

किंतु वह शब्द लौकिक नहीं, लौकिक शब्द तो वायु पर चढ़कर आहत होते-होते तरंगों द्वारा पहुँचता है, पर यहाँ जो शब्द था वह तरंग-रहित था। कुमार को यह प्रत्याभिज्ञता कहीं से प्राप्त हुई । उस शब्द के ज्ञाता की भाँति वह स्वयं ॐकार जप करता रहा था। यह फैलाव जो अनंत था, इसमें कुमार स्वयं ॐकार रूप में लय होना चाहता था, स्थिर में स्थिर बनकर समा जाना चाहता था। अब तक अज्ञात एक विलक्षण अवस्था प्राप्त हुई । तभी प्रत्याभिज्ञता पलटने का अहसास देकर वह कहने लगा– 'अस्ति'। विलयन क्रिया टूटती है। अपने अस्तित्व को जानने के लिए आवश्यक आवरण-ज्ञान भी टूट कर गिर पड़ा है। पुनः ॐकार, पुनः अस्मिता वृत्ति। किंतु उस वृत्ति का न कोई किनारा है न और कुछ। जो कुछ था वह एकल था । दूसरा कुछ नहीं; केवल अस्मिता ही अस्मिता थी। उसको व्यक्ति का अभिदान दिया नहीं जाता । किंतु क्या कहा जाए—यह भी ज्ञात नहीं। वह एकल ही था, और कुछ था क्या? लगता था नहीं, एकल में अंकन था, किंतु ऐसा कुछ था जो आँका नहीं जाता। बोध होता था कि वह अनंत है, पर स्वयं साथ होने का तथा अनंत का अस्तित्व उससे परे होकर श्रद्धा का राज्य होने का एहसास कराता रहा।

इस प्रकार के महाशून्य में कुमार ने अनुभूत किया कि उसके नामरूप विस्मृत हो गए हैं। उसे लगा कि वह स्वयं भी एक ध्वनि है, किंतु वहाँ स्थित ध्वनि से भिन्न भी नहीं। वह तो अनाहत है, और स्वयं भी अनाहत। किंतु वहाँ न तो विचार है, न

विनिमय। तो किसी की पहचान से विवर्जित उस 'महार्ण' को किस प्रकार का अभिदान दें ?

बिंब दर्शन

इस अवस्था में थोड़ी अवधि तक रहने पर कुमार को समय का एहसास हुआ। उसे लगा कि यही आकाश है। इस अनुभूति के होते ही वहाँ स्थित ध्वनि आहत-रूपा बन गई, उसमें चलन-वृत्ति आ गई। इस बोध के संग-संग उसे लगा कि कहीं से कोई कुछ आकर उसमें समा गया है। उसके स्वरूप से अवगत होने का प्रयास करता है तो उसे चलन-वृत्ति के बोध के साथ-साथ स्पर्श-वृत्ति का दर्शन प्राप्त होकर स्वयं ही दृक (दृष्टि) बन जाता है, मानो नेत्रहीन को दृष्टि मिल गई हो। अब उसमें देखने की इच्छा जागृत होती है, देखता है। पाता है कि उसकी देह के अंगांग यथावत् हैं। यों ही देखते रहने पर उसे बोध होता है कि काँच के पात्र में जल भरा जा चुका है तथा उसे अपनी भारवृत्ति का बोध होता है। तत्क्षण वह महसूस करता है कि जल जम चुका है और उसकी पूर्व की भारवृत्ति आ गई है। जहाँ बैठा था, वहीं बैठा हुआ है। अब उसके सम्मुख एक बिंब उपविष्ट है।

बिंब ने कहा–''याज्ञवल्क्य, देख लो। मैं जो तुम्हारी देह हूँ, इसको जिन्होंने ईंटों से बने मंदिर के समान बनाया वे सब पंचभूत ही तो हैं।''

''तुमने अनुग्रह किया। इस अनुग्रह के फलस्वरूप ही पृथ्वी आदि पंचभूतों के दर्शन हुए।''

बिंब ने कहा–''तुम धन्य हो याज्ञवल्क्य, बहुत कम लोग ही पंचभूत दर्शन का प्रयास किया करते हैं। उनमें से बहुतेरे एक ही भूततत्त्व का दर्शन कर उसी में लय हो जाते हैं। किंतु तुमने तो पाँचों भूतों के दर्शन किए?''

''तो क्या दर्शन के लिए आनेवाले को प्रत्येक भूततत्त्व अपने में समा लेता है? ''

''और क्या ? वायु आदि चतुर्भूतों ने तुम्हें यह बात कह सुनाई थी न ? वायु ने कहा था कि आकाश में क्या होनेवाला है ? क्या तुम्हें विस्मरण हो गया?''

''नहीं, स्मरण है।''

''सुनो, प्रत्येक भूततत्त्व की अपनी ही गति होती है। आत्मसात् करनेवाली उस गति के ज्ञाता यदि आगे बढ़ने के उद्देश्य से ओतप्रोत होते हैं तो उस भूत को पार पाते हैं। बहुत प्रयास करने पर भी आकाशभूत की विलयन-गति से बचकर आगे निकलना कठिन होता है। इसीलिए तो ज्ञाता कहते हैं कि 'अस्ती तै वोपलब्धव्यः' अर्थात् अस्ति-भाव से ही उसको प्राप्त करना चाहिए। जो उपासक होते हैं, उन्हें उपास्य देवता आगे ले जाते हैं तथा वे सुखपूर्वक प्रत्यावर्तित भी होते हैं। अन्यथा उनको वहीं रह जाना पड़ता है।''

''यह तो तुम्हारी कृपा से संभव हुआ। तदर्थ मैं पुनश्च नमस्कार करता हूँ।''

''तुम यहीं ठगे जा रहे हो। अंततोगत्वा मैं हूँ केवल शरीर जिसमें पृथ्वी अंश की ही प्रधानता है। इसीलिए तो मुझमें जड़ धर्म का आधिक्य होता है। तुम्हें पृथ्वी-अंश से साक्षात्कार कराने में ही मेरी संपूर्ण सामर्थ्य व्यय हो चुकी है।''

''अस्तु, तदर्थ ही सही, मेरा नमस्कार एवं पूजा ग्रहण करो।''

''यही तो सही धर्म होता है। महत्तर के दर्शन कराने पर भी लघुरूपा मुझे पूजा समर्पित कर रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो। मैंने सुप्रसन्न होकर तुम्हारी पूजा स्वीकार ली है। अब आओ, देखें; जो भूततत्त्व तुम्हें स्वाहा करने के लिए तत्पर थे उन्हें जिसने प्रसन्न कर लिया वे तुम्हारे प्रभु हैं, उन्हें पहचानो।''

कुमार ने देखा– एक तेजोमय शरीरी, दिव्य वस्त्र–मालाओं से भूषित देवता के दर्शन हुए। कुमार ने पूजा समाप्त कर परिचय की प्रार्थना की। आगंतुक हँसा–''मैं हूँ सवितृदेव। इस सृष्टि के जितने भी जीव हैं, उन्हें मातृगर्भ से बाहर आना हो तो मेरी अनुज्ञा लेनी पड़ती है। मैं प्रत्येक देह में निवसित हूँ। अस्तु, तुम्हें पंचभूत तत्त्वों के दर्शन हो गए न ?''

''हाँ, आपके अनुग्रह से तो हुआ।''

''अच्छा, मैं प्रसन्न हूँ। इन पंचभूतों के दर्शन से तुम्हें क्या लाभ हुआ, जानते हो ?''

''कवच धारण किए हुए योद्धा के समान, मैं समस्त अंगांग-संयुत देह धारण कर चुका हूँ।''

''हाँ, यह तो वास्तव में बड़े महत्त्व का लाभ है। अब बताओ– संसार शब्द से किस आशय की अनुभूति होती है ?''

''यह संसार मुझ जैसे देहधारी जीवों का एक समूह है।''

''देह तो पंचभूतों से बना एक आवास है । शास्त्र की शब्दावली में उसकी व्याख्या करनी हो तो वह 'क्षर' है। 'क्षर' तो नश्वर होता है। नश्वर आवास में अनश्वर चेतना रहा करती है। वह तो देहधारी होती है।शास्त्र की शब्दावली में वह 'अक्षर' होता है। एक को ग्रहण कर दूसरे को तजा जा सकता है क्या?''

''देव, मेरी प्रतीति है कि ऐसा संभव नहीं। यदि रहना हो तो दोनों को रहना है। अन्यथा दोनों नहीं।''

''हाँ, यही तो हमारा मार्ग होता है । किंतु बहुतेरे इस मार्ग पर नहीं चला करते। क्षर एवं अक्षर दोनों का आदर करना हमारा क्रम होता है। अस्तु, लोक-कल्याण का आशय क्या होता है ? वह किसके द्वारा संभव होता है ?''

''क्षर से आवृत अक्षर का शुद्धीकरण ही लोकोद्धार होता है। जो स्वयं शुद्ध हो चुका हो, आत्मोद्धार प्राप्त कर चुका हो, वह लोक का उद्धार कर पाएगा। शेष व्यक्तियों से यह संभव नहीं होगा। यह क्या देव, तुम अपनी बात मेरे मुँह से कहलवा रहे हो।''

''हाँ, हम सदा यही करते आए हैं। जो कार्य हमें करना होता है उसका दायित्व दूसरों पर डाल देते हैं। यदि कोई कर्त्ता बनकर आगे बढ़े तो हम पीछे हट जाते हैं । यही हमारा रहस्य है। अब ध्यान देकर देख लेना। बताओ इस लोक व्यापार का मूल आधार कहाँ है ?''

कुमार ने शोध कर देखा। सर्वत्र कर्त्तृत्वाहंकार व्याप्त है अर्थात् यह धारणा कि मैंने किया है, इस भाँति का अहंकार। इसके विपरीत यदि क्रिया न बन पाई तो उसका दोष दूसरों पर टरका देते हैं। कहने लगते हैं कि दूसरों ने विघ्न डाला। फलीभूत होगा तो अहंकार और बढ़ गया। न हुआ तो उसके लिए दूसरों को दोषी ठहराकर उनके प्रति वैरभाव, जो अहंकार को दूसरी तरह से भी बढ़ा देता है मानो ढोल दोनों ओर पीटा जाता है। वैसे कार्य सफल हो या विफल-दोनों ओर अहंकार का संवर्धन होता है। अंततोगत्वा लोक-व्यापार वृक्ष जैसा होता है। यदि उसमें कोंपलें लगीं तो सही-पत्ते झड़े तब भी सही-दोनों स्थितियों में वृक्ष का बढ़ना होता ही है।

कुमार ने सवितृदेव को मानो पूरा विवरण समझाते हुए कहा-''देव, यह क्या है ? सर्वत्र 'आप' यानी मैं ही मैं, इसके सिवाय कुछ नहीं-ऐसी अवस्था दिखाई दे रही है। मैं ही किया करूँगा- यह भाव तो पूर्व रूप है। मैं कर रहा हूँ-यह वर्तमान रूप है। मैंने कर दिया- यह तो पश्चात् रूप है। सिवाय इसके कुछ भी नहीं।''

''यह तो चेतन-संज्ञा से ज्ञात जंगम-जग है। यह भी देखो कि यहाँ … में कैसा है?''

''इसकी तुलना में वह तो अजीब है। वहाँ तो कार्य सम्पन्न होता रहता है, किंतु वहाँ यह अवस्था नहीं कि मैं करूँगा, या मैंने किया है। वहाँ पर सर्वत्र प्रतिक्रिया है। क्रिया भी नहीं, कर्तृत्व भी नहीं।''

''और भी देखो।''

''चूल्हे पर जिस प्रकार अन्न का पाक होता है, उसी प्रकार एक क्रिया समूहात्मक रूप से हो रही है। देव, सारे के सारे पचभूत घुल गए हैं। वे सब इस प्रकार घुल गए हैं कि उन्हें प्रत्येकित किया ही नहीं जाता, जैसे नदी में आई बाढ़ में सब कुछ घुलकर मिल गए हों, कई जड़ी-बूटियों के रसों के संसर्ग से एक काढ़ा बना हुआ हो, जिसको प्रत्येकित कर देखना असंभव हो, इस प्रकार सारे के सारे पंचभूत घुल गए हैं। ये तो वस्त्र के धागों के समान एक स्थान पर सम्मिलित हो रहे हैं। वही ओखली में कूटने पर जिस प्रकार एक-दूसरे से अलग होते हैं वैसे छूट भी रहे हैं। यों एक साथ घुल जाने, फिर अलग-अलग छूटने लगने… इन सबके पीछे कौन है, यह तो समझ में नहीं आ रहा…''

''अब और आगे देखो।''

कुमार ने अचंभे में आकर देखा–''देव जो घुल रहे तथा अलग होते रहे–ये सब भूत-संघात ही हैं। ओहो, ये संघात कितने सूक्ष्म होते हैं। यद्यपि प्रत्येक के अलग अस्तित्व का बोध होता है, तथापि वे सब पंचभूत संघात ही हैं। इनको मिलानेवाला तथा अलग करनेवाला एक ही रूप है। कोई अलौकिक शक्ति इधर जोड़ रही है तो उधर अलग भी कर रही है।''

''निवेदन करो कि उस अलौकिक शक्ति का दर्शन एवं परिचय दिलवाने का अनुग्रह करें।''

''हाँ, उस शक्ति का स्वरूप दीख पड़ा। वे हँस रहे हैं। ऐसी हँसी कि जिसने कभी दुख को जाना ही नहीं। वे कह रहे हैं–'मैं ही काल हूँ, सबके लिए मैं ही कारण बनता हूँ। जो मेरे स्वरूप को जानते हैं उन्हें दुख ही नहीं, उन्हें सुख देता हूँ।' वह अब अपना विश्वरूप दर्शा रहा है। लोक-लोकांतरों में अवस्थित सभी स्थावर एवं जंगम उसी से बने हैं। पर्वत हों या परमाणु, सब कुछ उन्हीं से निकले हैं। इस छोर से उस छोर तक सब कुछ उसी के द्वारा बना हुआ है। वे अट्टहास कर रहे हैं– 'मैं ही प्रकृति हूँ, मैं ही पुरुष भी।''

''पूजा द्वारा उनका सत्कार करो।''

''उन्होंने पूजा स्वीकार की, अब तिरोहित हो गए। अब लोक ही दीख रहा है।''

''अब तक तुमने जो देखा उसका जंगम जगत पर अन्वय करो।''

''देव, यहाँ भी वही बात है। प्रतीत हो रहा है कि सब के लिए काल ही कारण है। यह संसार चक्र के समान घूमता है। पलभर का विलंब नहीं, आतुरता भी नहीं। एक ही क्रम में घूम रहे इस चक्र का एक भाग नीचे जाता है तो दूसरा ऊपर उठता है। लोक भी उसी प्रकार चल रहा है। लगता है, इसके पीछे कोई कारण नहीं। जो है वह केवल गति है, उसी को देखते रहना है। इस चक्र-गति में यह ऊपर, यह नीचे–इस प्रकार का भेद किया नहीं जाता। क्या यही काल की गति है?''

''हाँ, यही गति अणु-अणु में विद्यमान है।''

''क्या, मुझमें भी है?''

''तुम स्वयं ही देखो–है कि नहीं।''

कुमार ने देखा–''हाँ, है, अन्नमय कोश, त्वक्, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि सभी में है। देह की सभी इंद्रियों में है। प्राण-प्राण में है। मन में है, बुद्धि में है। आनंदमय कोश में भी है, पर है 'न' के बराबर। यही नहीं, प्रत्येक गति का भिन्न-भिन्न रूप होता है। अजीब होता है। यदि केवल गति पर ध्यान दोगे तो पाओगे कि सब कुछ गमनपूर्ण है।''–कुमार को आश्चर्य हुआ।

''तो क्या ये सारी गतियाँ 'अक्षर' पर प्रभावी हैं।''

''हाँ, ये सब पाश होते हैं। जो इन सबसे मुक्ति पा लेता है, वही अक्षर को देखनेवाला होता है।''

''ये कब छूटेंगे?''

''जब प्रकृति का आदेश होता है। तब तक इनके ताड़न को सहते रहना पड़ेगा।''

''इनका छूटना कैसे मालूम होगा?''

''मन की प्रसन्नता से, अर्थात् इनका छूटना ही मन की प्रसन्नता है। इन सबके जा मिलने का क्षेत्र होता है मन। जब वहाँ प्रत्येक गति का तिरोधान होने लगता है तब मन प्रसन्न होता जाता है। मन जब मानव बनता है तब उसमें नई गति

आ जाती है। वही अहंकार है। इन गतियों के पूर्ण योग से जो फल प्राप्त होता है उसको गुण कहते हैं। गुण का स्पष्ट दर्शन अहंकार का क्षेत्र बुद्धि में होता है। गुण के तीन भेद होते हैं– तमस्, रजस् एवं सत्व। प्रकृति जब अक्षर को तमस् से रजस् की ओर बढ़ा देती है तब जीव मानव देह को प्राप्त करता है। यदि वहाँ काल, देश एवं वर्तमान अनुकूल बने रहेंगे तो जीवन रजस् से सत्व की ओर अग्रसर होगा, तब मन को, तदनंतर मन से बुद्धि को शुद्ध बनाकर अग्रसर होगा।''

''तब अहंकार का क्या होगा?''

''अहंकार जब सात्विक गुण को प्राप्त करेगा, तब देवताओं के हाथ का खिलौना बनेगा। भविष्य की उन्नति का साधन बनेगा। अंत में अपना परिचय देगा केवल प्रतिबिंब के रूप में तथा अपने मूलाधार को शोध कर उसे दर्शाएगा।''

''तब क्या होगा?''

''उसे रहने दो। एक कहानी सुनो। इस विश्व के आदिकाल में परब्रह्म से चतुर्मुख का जन्म हुआ। तब उसे सूझ नहीं रहा था कि क्या किया जाए? तब यह जानने के लिए कि उसे क्या करना होगा, तपस्या की। वह अमूर्त से मूर्त बनने का समय था। अतएव उसकी तपस्या ने मूर्तरूप धारण किया। वह आदित्य बन बैठा। उसने इधर-उधर देखा। कुछ भी दिखाई नहीं दिया तो कहा–'अहंपूर्व'। इस शब्द ने घनीभूत होकर पहलेवाले ब्रह्म की आँखें खोल दीं। तब उसने भी यही कहा–'अहंपूर्व' अर्थात् 'मैं सर्वप्रथम हूँ'। दोनों रजोगुण वाले थे। रजोगुण तो मूल को भुलाकर स्वयं को प्रत्येक मानने का स्वभाव पैदा करता है। अतएव दोनों भिड़ गए। यदि इसके विपरीत दोनों में सत्त्व गुण होता तो समझ पाते कि दोनों भी सृष्टि के लिए कारणीभूत हैं। उनके सृष्टि-कर्ता कौन हैं, यह भी जान लेते तो कृतकृत्य बन जाते। अब समझ में आया?''

कुमार समझ गया। यहाँ भी देवताओं का आचरण विचित्र है। ये स्पष्ट रूप से क्यों नहीं कहते कि क्या होगा। क्यों नहीं कहते कि अहंकार सात्विक वृत्तिवाला हो जाए तो अपने मूल को पहचान लेगा और उसमें समा जाएगा। जब यों विचार चल रहा था तब उसका ध्यान सवितृदेव की ध्वनि की ओर गया।

''यही तो द्वासुपर्णा श्रुति का अंतरार्थ है। इस संसार-रूपी वृक्ष में आश्रय लिए हुए दो परम जीव हैं। उनमें एक भोक्ता है, दूसरा अभोक्ता। जब भोक्ता

अभोक्ता को देखता है तब वह भी उस जैसा बनता है अर्थात् भोक्ता अभोक्ता बन जाता है। क्यों यही है न?''

कुमार ने परिभावित करते हुए देखा। अभ्यास बल से वह पदार्थ-साक्षात्कार की ओर आकृष्ट हुआ। उसको सवितृदेव की उपस्थिति का स्मरण ही न रहा। अहंकार सामने खड़ा है। वह उसे देखता है। जो अब तक लाल था, अब श्वेत-वर्ण का होने लगा था। वह संपूर्ण श्वेत-वर्ण का होनेवाला ही था; उबालने के लिए रखे पानी से ज्यों भाप निकलता है उसी तरह भाप निकल रहा था। तभी लगा कि कुछ अवरोध हो गया। तत्क्षण वह उफान थम गया। दूसरे ही पल आँखें खुल गईं। मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता सर्वत्र फैली है। तभी एक षोडशी प्रकट हुई। लगता था कि उपरोक्त प्रभा को ही संजोकर उसे गढ़ दिया गया हो।

कुमार जिस कुटी में बैठा था वह तो उत्तराभिमुखी थी। उसमें द्वार के ठीक सामने दीवार थी। जहाँ वह बैठा था वहाँ आना होता तो द्वार को पारकर उसके सामनेवाली दीवार को भी पारकर आना पड़ता था। यद्यपि कुमार की आँखें खुली थीं, तथापि उसे लग रहा था कि वह अभी सवितृदेव के सान्निध्य में ही है, तथा अहंकार से साक्षात्कार कर रहा है। अतएव सामने यद्यपि एक कुँआरी दीख रही थी तथापि तत्क्षण उसे पहचान नहीं पाया।

जो वहाँ आई हुई थी उसने इसको आँखें खोलते हुए देख लिया। फिर भी लौटने का मन नहीं हुआ। वह वहीं डटी रही।

बिखरे इंद्रिय एवं मन को पुनः बहिर्मुखी होकर स्थिर बनने में कुछ समय लगा। वह कुँआरी वहीं खड़ी रही। कुमार ने ही बात की-''तुम कौन हो?''

''मैं मैत्रेयी हूँ, आलापिनी देवी की भतीजी।''

''तुम यहाँ कैसे ?''

''मामी ने कहा, दूध दे आओ। इसीलिए आ गई।''

''कल भी आई थी?''

''हाँ, मैं एक सप्ताह से आती रही हूँ। आप तो आँखें बंद किए बैठे रहे तो बैठे ही रहे। मैंने सुना तो था कि यों आँखें मूँदे बैठनेवाले लोग भी होते हैं। अब आपको देख लिया। बार-बार देखने की इच्छा हुई। मामी से कहा तो उन्होंने अनुज्ञा दी। इसीलिए आती रही। आज सोच लिया कि पलभर रुक जाऊँ। मैं देखती रही तो आपने आँखें खोल दीं। मन हुआ कि दौड़ लगाते जाऊँ तथा मामी को इत्तला दूँ। पर गई नहीं, खड़ी ही रही, आपने बात की।''

मैत्रेयी

कुमार ने मैत्रेयी के बारे में जाना था। आलापिनी देवी चाहती थीं कि मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बने। किंतु माता-पिता की इच्छा थी कि उसका विवाह हो और उसकी गृहस्थी बसे। तथापि बहन के प्रति जो आदर-भाव था, इसलिए किसी प्रकार का दबाव उस पर डाला नहीं गया। यों मैत्रेयी विवाह-योग्य वय पार हो गई थी। चूँकि बंधु--बांधव आलापिनी का आदर किया करते, अविवाहित कन्या को घर पर रखने पर किसी ने आपत्ति नहीं उठाई। मैत्रेयी भी विवाह के प्रति उदासीन रह गई।

यद्यपि मैत्रेयी की गणना रूपवतियों में नहीं थी, तथापि उसको अनाकर्षक भी माना नहीं जाता। चेहरा सौम्य था, पर वह शांत होने का द्योतक नहीं था। वह गोरी तो थी, पर चूना जैसी सफ़ेदी उसमें नहीं थी। चेहरे पर हल्दी के लेप के कारण श्वेत एवं पीत वर्णों के संगम से उनमें विशेष प्रकार की मनोहारिता दृष्ट थी। नेत्र चंचल नहीं थे, कुछ अन्वेषित करने की चाह उनमें अभिव्यक्त थी। उसके विशाल मुख के ऊर्ध्वभाग में क्रीड़ित लटें तथा नीचे की ओर तनी हुई भौंहें मानो किसी लक्ष्य के प्रति निष्ठ रहने का बोध करा रही थीं। उनमें उसके अंत:करण की सारल्य एवं ऋजुता प्रतिबिंबित थी । उसके गाल न तो बालवय सदृश अत्यधिक कोमल थे, न वयाधिक्य के पीले पत्ते का अहसास करा रहे थे। कुछ ऊँचा उठी ठुड्डी देह में उदित यौवन को संकेतित कर रही थी। उसमें न प्रौढ़ा की भावभंगिमा थी, न षोडशी की चंचलता। देह की वय से बढ़कर मन की परिपक्वता सर्वोपरि दृष्ट थी। आकर्षक पुष्पों से लदे होने पर भी गर्वमुक्त वृक्ष जैसा, युवा मैत्रेयी निरभिमान रह गई थी।

कुमार को आश्चर्य हो रहा था। 'सप्ताह भर से आप निश्चल उपविष्ट रहे हैं।' मैत्रेयी के इस कथन पर उसे विश्वास नहीं हो रहा था। जागृतिवाली सात-आठ दिन की अवधि को स्वप्नावस्था में पलभर में अनुभव किया जा सकता है। किंतु इसके विपरीत जागृति के सात-आठ दिनों की अवधि सवितृ देवता के संग संवाद में बिताया जा चुका है–इस पर कैसे विश्वास किया जाए?

''क्या आपको भूख नहीं लगी?''– मैत्रेयी ने पूछा।

''हाँ, अब लग रही है।''

''तो यह दूध पी लें।''मैत्रेयी ने दूधभरा पात्र सामने रख दिया।

''ब्राह्मण देह जो है– स्नान नहीं हुआ है न ?''

''भूख तेज़ है या अल्प मात्रा में।''

''कहना चाहिए कि तेज़ है। जी करता है पहाड़ जितना खा लूँ, सागर जितना पी लूँ।''

''तो मेरा कहा मानिए। मंत्र-स्नान कर दूध पी लें। एक और बात भी है। क्या आप सोए हुए थे?''

''नहीं तो।''

''तो सप्ताह तक जागृत अवस्था में किस प्रकार से नेत्र बंद किए बैठे रहे?''

कुमार ने पलभर के लिए तर्क किया कि अपने अनुभव के बारे में कह सुनाऊँ कि नहीं। उसे ज्ञात था कि मैत्रेयी भी ब्रह्मवादिनी बनने जा रही है। उसने सिर उठाकर देखा। उसके गले में मंगल-सूत्र नहीं था। आँचल की ओट में यज्ञोपवीत होगा, इसके साथ दुराव करना नहीं चाहिए। यों सोचकर उसने अपने अनुभव के बारे में कहा।

मैत्रेयी ने ध्यान से सुना। अंत में लास्य भाव में आकर उसने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा-''आप जैसों को देहभाव का इतना बड़ा अभिमान है, तो उस अभिमान की महिमा का क्या कहूँ?''

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हुआ। उसने प्रश्न किया-''क्यों? ऐसा क्यों कहती हो?''

मैत्रेयी ने कहा-''आप तो देवता की सान्निध्य में रहे। जहाँ थे, वहाँ से उठे भी नहीं। केवल बैठे रहने के सिवाय देह से अन्य कोई व्यापार नहीं हुआ। ऐसे में आपको यह भ्रम क्यों हो गया कि आप अशुचि की अवस्था में हैं? जब आपने कहा कि मैं ब्राह्मण हूँ तब मुझे लगा कि ब्राह्मण होने का यह अभिमान माता-पिता द्वारा प्राप्त देह से आपमें निहित हो चुका है। इसीलिए मैंने आपके देहाभिमान की बात उठाई।''

याज्ञवल्क्य को मैत्रेयी का तर्क बहुत संगत लगा। उसने कहा-''तुम्हारा कथन सही है। हाँ, ब्राह्मण सदा से अग्नि जैसा शुद्ध होता है। किंतु जिस प्रकार लौकिक अग्नि को संस्कारित कर वैदिक अग्नि बनाते हैं उसी प्रकार शौच आदि का अनुसरण करना पड़ता है। किंतु अब तक देवता सन्निधि में रहने के कारण ऐसे संस्कार की आवश्यकता नहीं पड़ी। दूध देना, पीकर मैं भी आलापिनी देवी के दर्शनार्थ तुम्हारे संग चलूँगा।''

दूध अच्छी तरह गरमाया गया था। उसे पीकर वैश्वानर को संतृप्त कर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के संग आचार्याणी के दर्शन के लिए निकला। घुटनों का ऊर्ध्व

भाग धौत वस्त्र से आच्छादित था, वक्ष पर उत्तरीय था। याज्ञवल्क्य चला तो धा अंतर रखते हुए, देह को साड़ी से पूर्ण आच्छादित किए हुए ऊपर उत्तरीय ओढ़े मैत्रेयी चली। दोनो चले तो लगता था कि आश्रम की वीथि भर गई है।

थोड़ी दूर जाने पर मैत्रेयी को किसी सुगंध का अहसास हुआ। वह यत्नपूर्वक साँस ले रही थी तो याज्ञवल्क्य का ध्यान उधर गया। उसने पूछा–''क्या है ?''

मैत्रेयी ने कहा–''क्या कहीं आस-पास में कमल ताल है ?''

''जहाँ तक मेरी जानकारी है,ऐसा कोई ताल नहीं।''

''पर यह पद्म-गंध कहाँ से आ रही है ?''

याज्ञवल्क्य रुक गया, साँस खींचा–हाँ, पद्म-गंध पसरी है। पुनः परीक्षा कर देखा, हँसते हुए कहा–''हाँ, आ रही है।''

''कहाँ से ? कुछ पता लगा ?''

''ऋषि मूल एवं नदी मूल जैसा इसका भी शोध नहीं करना।''

''तो क्या आपकी देह से आ रही है ?''

''यदि हाँ कहूँ, तो उससे कुछ हानि तो नहीं होगी!''

मैत्रेयी सहसा खड़ी हो गई। कहा–''सचमुच''।

याज्ञवल्क्य ने हामी में सिर हिलाया। मैत्रेयी प्रसन्न हुई। उसने कहा–''योगियों के कथनानुसार, यह तो भूत विजय का आरंभ है। कहा जाता है कि यह पृथ्वी-तत्त्व की परिपक्वता का परिचायक है।''

याज्ञवल्क्य ने उस पर अपनी सहमति व्यक्त की। अब पथ चलते दोनों मौन रहे। मैत्रेयी के मन में विचार उठा–'क्या ही अच्छा हो कि ऐसे व्यक्ति के संग सदा विचार करते रहने का अवसर मिले ?' इधर याज्ञवल्क्य भी सोच रहा था।'यदि यों सेवा करनेवाली हो तो और अधिक तपस्या हो सकती है।'

आलापिनी देवी भतीजी की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी थी। अब उसने उनको आते हुए देख लिया। सहसा उसे लगा–'अरे, ये दंपती बनते तो क्या ही अच्छा होता?' फिर उसने अपने को समझा लिया। 'हाय रे, मैंने ही इसे, ब्रह्मवादिनी बनने की प्रेरणा दी। अब इतनी वय बीतने पर विवाह की बात क्यों? लोग हँसेंगे नहीं?' साथ-साथ यह विचार भी मन में आया–'याज्ञवल्क्य के लिए कन्या का निश्चय हो चुका है। और क्या? मन तो कुछ अंटसंट सोचता रहता है। आकाश की ऊँचाई को छूने की इच्छा करता है।' तब तक भतीजी एवं याज्ञवल्क्य दोनों आ पहुँचे थे।

कुमार ने प्रणाम किया। भतीजी ने मामी को संकेत से ही बता दिया कि कुमार की देह सुगंधमय बन चुकी है। तथापि उसको हास-परिहास का रंग देते हुए कहा-क्यों री, लोकोक्ति है कि स्त्री ब्रह्म-विद्या के रास्ते में बाधा बनती है। तुमने उस उक्ति को सच साबित किया है। जो व्यक्ति पंद्रह दिनों तक इस जगत् को भुलाकर आँखें बंद किए बैठा रहा, उसे न केवल बहिर्मुख कर दिया बल्कि उसे घसीट लाई हो।''

मैत्रेयी ने इस परिहास का स्वागत करते हुए कहा-''यह कौन बड़ी बात है ? जो बाधा बन सकती है वह उससे पार पाने का साधन भी बन सकती है। मैं जानती हूँ कि इनके समाधि में गए सात दिन व्यतीत हो चुके थे। पर आप पंद्रह दिनों की बात कर रही हैं?''

''हाँ, आज चौथ है। यह महापुरुष पिछली चौथ को आँखें बंद किए बैठ गया। दो दिन मैंने बालकों के हाथ दूध भेजा। उन्होंने न केवल पुकारा, बल्कि चीख़-पुकार कर आकाश सिर पर उठा लिया। पर ये तो टस से मस न हुए। वे आकर कहने लगे-'हमारे सारे प्रयास व्यर्थ गए। वह आँखें नहीं खोलता। लगता है, जान-बूझकर ऐसा कर रहा है।' मैंने सोचा कि यह ठीक नहीं हो रहा। तो अगले दिन से मैं ही दूध लेकर जाने लगी। तुम आई थी दशमी के दिन। द्वादशी से तुम दूध ले जा रही हो।''

याज्ञवल्क्य ने कुछ पूछना चाहा, सिर उठाया तो देवीजी ने हँसते हुए कहा-''यह मेरे लिए नया अनुभव तो नहीं। मैं कहा करती थी न कि हमारे वे कहीं गए हुए हैं। जानते हो, उसका मायने क्या होता था ? वे भी तुम जैसी समाधि लगा बैठ जाते थे। तब बड़ी आस्था एवं सावधानी से पहरा देना पड़ता था। मुझे इसकी आदत पड़ गई है। इसीलिए मैं तुम्हारी दशा समझ गई थी। मैंने अनुशासन बना दिया था कि कोई उस ओर न आए तथा तुम्हें कष्ट न दे। मैं स्वयं दूध ले आया करती थी। क्यों, मैंने तुमसे भी कहा था न ? यदि आँखें खोलकर स्वयं दूध लेगा तो ठीक है। अन्यथा पुकारना-चीख़ना आदि न किया करो।''

''आज मैंने वही किया, मामी। तुम उनसे पूछ लेना, मैंने उन्हें पुकारा नहीं। लगता है कि कुछ समय तक खड़ी रही। इतने में उन्होंने आँखें खोलीं।''

''चलो, मन का बोझ उतर गया। क्यों ? याज्ञवल्क्य, पंचात्म-संक्रमण विद्या प्राप्त कर ली ?''

''ठीक-ठीक नहीं जानता, परंतु...''

''कोई बात नहीं, यह भी ब्रह्मवादिनी ही बनेगी। आज नहीं तो कल, यही सारा अनुभव स्वयं प्राप्त कर लेगी। उसकी उपस्थिति से कोई बाधा नहीं पड़ती।''

''मैं पंचात्म-संक्रमण-विद्या की साधना में तत्पर था। किंतु जहाँ तक मुझे स्मरण हो रहा है, मुझे पंचभूतों का दर्शन ही हुआ।'' कुमार ने संक्षेप में अपने अनुभवों के बारे में बताया।

देवीजी चाहती थी कि पति को यह सब दर्शाए। किंतु अभी वे विश्राम कर रहे थे। उन्हें जगाना है कि नहीं—वह इसी असमंजस में थी। ऐसी स्थिति में पार्श्व की कक्षा का द्वार खुला। उद्दालक जी स्वयं बाहर चले आए। याज्ञवल्क्य को देखकर उनके मुँह से उद्‌गार निकला–'ओहो, याज्ञवल्क्य !' फिर जैसे थे वैसे ही खड़े रह गए।

आलापिनी को इस पर आश्चर्य हुआ। उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि पति कभी भी आश्चर्यचकित भी हो सकते हैं।

देह देवायतन बन गई

आचार्य जी पलक झपकते तक अवाक् रह गए। यद्यपि वे मौन रहे, तथापि उनके विस्फारित नेत्र, तनी भौंहें, खुला मुँह आदि उनके आश्चर्य को प्रकट कर रहे थे। वे पुन: सहज स्थिति में आए। वे यह कहते हुए स्नान-घर की ओर चले कि सर्व देवताओं को अपने साथ लेकर आए हुए कुमार के लिए अर्घ्य पाद्यादि की व्यवस्था करो, मैं अभी आया। देवी जी ने कुमार को कृष्णाजिन देकर उसपर आसीन कराया। अर्घ्य पाद्यादि की व्यवस्था करने भीतर गईं। मैत्रेयी भी मामी के साथ चली।

आचार्य का यह कथन कि कुमार सकल देवताओं को अपने साथ ले आया है, कुमार की समझ में नहीं आया। फिर उसने अपने मन को समझाया कि अब वे आएँगे तो स्वयं बताएँगे।

वह बैठा ही रहा तो पूर्व की मनोवृत्ति उसको खींच ले गई। कोई प्रस्तुत हुआ और कहा–''चाहो तो भविष्य कथन करूँ? आचार्य जी के कथन का आशय समझाऊँगा।'' पूछा कि तुम कौन हो। उत्तर मिला–''मैं तुम्हारा मन हूँ। मनस्सर्व

हूँ। अब तुम जो भी जानना चाहो, जान पाओगे। सब कुछ तुम्हारे सम्मुख अनावृत्त पुस्तक के समान स्पष्ट हो जाएगा। चूँकि तुम्हें कालपुरुष के दर्शन हो चुके हैं तुम्हारे लिए अन्यों की भाँति काल, देश एवं वर्तमान का बंधन नहीं रहेगा।''कुमार में कौतूहलवृत्ति बनी रही। आचार्य जी के कथन की किसी भी प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ी। अब मैत्रेयी के भविष्य के बारे में भी आसक्ति शेष नहीं रही।

तबतक आचार्य दंपती उधर से इधर आए। आचार्य ने हाथ-पैर वस्त्र से पोंछ लिए। पत्नी से कहकर जल मँगाया तथा शुद्धाचमन किया। उसके लाए पाद्य, अर्घ्य एवं आचमन कुमार को दिए। कुमार ने बिना प्रश्न किए उनकी आज्ञा मानकर उसे ग्रहण किया। पुन: उसे फल एवं दूध दिया गया। सदा की भाँति होता तो अब कुमार को चाहिए था कि वह मना कर दे। किंतु आज यह फलाहार उसने स्वीकार किया। इसके बाद आचार्य कुमार के साथ दूसरे कृष्णाजिन पर बैठ गए। आचार्याणी एवं मैत्रेयी भी वहीं दूसरा आसन डालकर बैठ गईं।

आचार्य ने ही बात आरंभ की। उनकी बातों में प्रसन्नता व्यक्त हो रही थी।

''याज्ञवल्क्य, अब तुम्हें कुमार कहकर संबोधित करूँ या आचार्य कहकर?''

कुमार भयभीत हुआ—''अभी स्नातक व्रत संपन्न नहीं हुआ है।''

''स्नातक व्रत तो क्रम से शिक्षा ग्रहण करेनवालों के लिए होता है। किंतु याज्ञवल्क्य ने जिस तरह सर्व-देवता सान्निध्य प्राप्त किया हुआ है, उसको स्नातक व्रत से क्या प्रयोजन? तुम्हारे जन्म से पूर्व ही हमें मालूम हो गया था कि तुम ऐसे ही बनोगे। हमें विश्वास भी था कि तुम्हारी समार्चना करने का अवसर अवश्य आएगा। इसीलिए जब दैवेच्छा के कारण तुम वैशंपायन के आश्रम से आए, तभी हमने कह दिया था कि हम अन्य शिष्य को ग्रहण नहीं करेंगे। तुमने देखा न? आदित्य गुरु की सन्निधि के कारण तुम्हें क्या कुछ प्राप्त हुआ है ? हमने कई वर्ष तक गुरु-सेवा कर जो पंचात्म-संक्रमण विद्या सीखी, वही तुमने पंद्रह दिन की अवधि में अपना लिया। ब्रह्म-विद्या संप्रदाय एवं गरिमा देनेवाली इस विद्या को किसी ने तुम जैसा अर्जित नहीं किया। यदि हमारे लिए कुछ ज्ञात करना शेष रह गया है तो अब हमें उसे तुम्हारे द्वारा प्राप्त करना पड़ेगा। अर्थात् तुम मेरे स्तर से ऊपर उठे हो। हम तो आचार्य हैं, तुम परमाचार्य बन चुके हो। विशेष बात यह है कि तुम में कौतूहलवृत्ति शेष नहीं रही। तुम्हें यह जिज्ञासा भी नहीं कि कल जो होनेवाला है उसे आज ही जान लिया जाए। यही तो सर्वज्ञता का परिचायक है। साधु! साधु! तुम्हारी साधना अपूर्व है।''

कुमार ने उठकर उन्हें प्रणाम किया और कहा, ''आपने जो कुछ कहा, मैंने सब सुन लिया। पर मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया। मुझे समझाने की कृपा करें।'' आचार्य ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा–''तुम्हारा यह विनय श्रेयोस्साधक है तथा सबके लिए शोभाप्रद है। ऐसा कौन होगा जो इस विनय से अभिभूत नहीं होगा ! अब मैं एक-एक करके सारी बातें स्पष्ट करूँगा। मैंने कहा था कि कई वर्षों की कठिन साधना द्वारा जो पंचात्म-संक्रमण विद्या मैंने प्राप्त की उसको तुमने केवल पंद्रह दिनों की अवधि में साध लिया। यह असत्य नहीं। तुम पूछोगे कि यह आपको कैसे ज्ञात हुआ? तो सुनो, जिसने पंचात्म–संक्रमण विद्या प्राप्त नहीं की उसे पंचभूत दर्शन नहीं देते। तुम्हारी आँखों की चमक ही बताती है कि तुम्हें पंचभूत दर्शन हुए हैं। भूतदर्शन हुए बिना इस संसार के नाना–रूपत्व दृश्य समाप्त नहीं होते। यदि दृश्य रूप ज्ञान नहीं मिटता तो इंद्रियों की लोलुपता तथा उनकी सहज चपलता खत्म नहीं होती। यदि वह नहीं मिटे तो मन में शांत संकल्प जन्म नहीं लेता। फिर शांत संकल्प अवस्थित हुए बिना उस देह में देवताओं का आवास नहीं होता। देवता आवास नहीं करेंगे तो देह देवायतन नहीं बनेगी। देह के देवायतन बने बिना काल–पुरुष प्रसन्न नहीं होते। उनकी प्रसन्नता के अभाव में चिंता, अशांति, कौतूहल एवं आतुरता दूर नहीं होतीं, मालूम हुआ ?''

''क्या अब मुझमें यह सब परिवर्तन आ चुके हैं ?''

''परिवर्तन आ चुका है। पर तुमने देखा नहीं है। जो कुछ मैंने कहा, वह सब कुछ तुममें है, जैसे पत्तों की आड़ में छिपा हुआ फल। क्या तुम्हें काल–पुरुष के दर्शन नहीं हुए ?''

कुमार ने हामी भरी। आचार्य ने आगे बात की– ''भई, इन देवताओं के खेल के बारे में क्या कहूँ ? जो भी तुम्हारे साथ होना था, हो चुका है । किंतु तुम्हें अभी तक उसका अहसास नहीं हुआ है। उस दिन जब तुम बैठे रहे तब आदित्य ने तुम्हें पंचात्म–संक्रमण विद्या का कृपादान दिया। तब एक के बाद एक पाँचों कोशों ने तुम्हारा पथ प्रशस्त किया। उसका स्मरण है ?''

कुमार ने हामी भरी।

''उसके बाद क्या–क्या हुआ देखो। तुम्हें पंच–भूतों के दर्शन हुए थे न ? तुम्हें यह भी ज्ञात हो गया कि प्रत्येक भूत की अलग गति होती है ? इन सबकी गति के शिकंजे में न फँसकर तुम आगे बढ़ते गए, वहाँ प्रणव–दर्शन कर लौटे थे न? जब कि संसार में व्याप्त सब प्रकार की ध्वनि आहत हुआ करती है तब तुमने परमाकाश

में अनाहत रूप में विद्यमान प्रणव के दर्शन भी पा लिए। ऐसा सौभाग्य किसे प्राप्त हुआ है? अब तुम्हारे साथ क्या घटा है जानते हो ? जो अब तक दृश्य रूप में था, वह सब श्रव्य बन गया, और श्रव्य का भी एकमात्र प्रणव-संकेत रूप में बोध हो रहा है। तुम मानो या न मानो, तुम्हें जिस प्रणव के दर्शन हुए उसका फल तुमसे अलग नहीं हो रहा है । है न ?'' कुमार ने इस पर हामी भरी।

''अब कहो, क्या दृश्य के नानारूप अब भी शेष हैं ?''

कुमार अपने अनुभव को झूठ कैसे कह सकता था ! जो अनुभव हो रहा है उसको झुठलाए कैसे ! जो अनुभव स्वयं को हुए थे तथा जो बोध अब भी हो रहा है उसका वर्णन आचार्य इस प्रकार कर रहे हैं मानो दर्पण में क्या, अपनी आँखों से देखा हो । यह कैसा अद्‌भुत है ! अगले ही क्षण यह आश्चर्य तिरोहित हो गया और मन ने कहा-'यह अद्‌भुत कैसे ? आचार्य जी ज्ञान-चक्षु जो हैं, उनके सम्मुख कोई अड़चन नहीं होती। वे केवल आगे-पीछे की बातें ही नहीं, देशांतर एवं देहांतर में घटित घटनाओं को भी देखकर बता देने में समर्थ हैं। तुम्हें भी वह सामर्थ्य प्राप्त है। मैंने तभी तुमसे कहा था कि उसका उपयोग करो। तुमने मना किया-अतएव मैं चुप हो गया था।'

आचार्य ने पुनः कहा-''दृश्य-नानत्व अवस्था के मिट जाने से तुम्हारी इंद्रियाँ अब स्थिर हो चुकी हैं। यदि कोई कहे कि ये इंद्रियाँ अलग-अलग नहीं अपितु सब एक हैं तो तुम 'हाँ ' करने की स्थिति में हो । देखने के लिए जो आँखें चाहिए थीं, उनकी आवश्यकता अब नहीं रही । पैरों से देखा जा सकता है । यद्यपि ऐसा तुमने नहीं किया है, तथापि ऐसा किए जाने की अवस्था में हो। इससे गोलक या आँखों की पुतली को 'दृक्' मानने का भ्रम थम चुका है। अब दृक् दृश्य एवं दर्शनवाली त्रिपुटी नहीं रही। जानते हो उसका परिणाम क्या है ? मन जो इंद्रियादि में बँट जाता था, वह अब स्थिर हो चुका है। बाहर निकल जाने की चिंता मिटाकर मन शांतकल्प बन चुका है।''

''ठीक है।''

''मन जब शांतकल्प बन गया तब बुद्धि ने कर्तृत्व रहित होकर अपनी चेष्टा त्याग दी। अतएव संसार में तुमसे जो कार्य होने चाहिए, उसे संपन्न करने के लिए स्वयं देवताओं को आना पड़ेगा। इसका तात्पर्य क्या हुआ ? तुम्हारी देह में जो प्राण-मंडल था, वह प्राण न रहकर आग्निष्टोम-मंडल बन गया है। जिस प्रकार अग्निकुंड से चिनगारियाँ उड़ा करती हैं, उसी तरह आवश्यकता पड़ने पर वहाँ

देवता संबद्ध होकर बिना लोप के अपने-अपने कार्य का निर्वाह किया करेंगे। अतएव तुम्हारी देह देवायतन बन गई, ठीक है न?''

''ठीक है।''

''इन सबके हो जाने की पहचान के रूप में तुम्हें कालपुरुष के दर्शन हुए। कालपुरुष के दर्शन के कारण तुम सर्वज्ञ बने। तुममें सर्वज्ञ चित्त का प्रवेश हुआ। तुम्हारी चिंता, व्याकुलता आदि अस्त हो गई। ठीक है कि नहीं ?''

कुमार ने कहा-''हाँ।'' दो मात्राओं की 'हाँ' में आचार्य के कथन पर सहमति थी कि आचार्य का कहा सब कुछ उसके अनुभव में आ चुका है।

''यदि तुम अपनी देह के आवास में बैठकर देखते तो तुम्हें भी हम जैसे वर्षों तक साधना करनी पड़ती। किंतु देवताओं ने तुम पर कृपा की। उनकी कृपा के फलस्वरूप यह सब तुम्हें दो सप्ताह की अवधि में प्राप्त हो गया। इस पूरी अवधि में तुम बहिर्मुखी नहीं हुए। देह की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं रहा। देह को अपने सुख-दुख-जल-मल आदि के बारे में 'हाँ' या 'न' कहने की ग़रज नहीं पड़ी। हठीले शिशु को सांत्वना दे रही माता की भाँति, देवताओं से संवाद करती रही देह को तुम्हारा वहन ही बड़ा दायित्व बन गया था। जब कि तुम अपने अधिकार का प्रयोग कर यह संवाद आगे बढ़ा सकते थे, तुमने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत मित्र-सा आचरण करते हुए अन्नमय कोश को पूजादियों से समादृत किया, अतएव उसे तुम्हारे आचरण के विरुद्ध चलना भी दुष्कर हो गया। अब तुम जागृति में आकर इस देह में व्यापार कर रहे हो। इसके परिचायक रूप में तुम्हारी देह के निर्मापक सारे के सारे पंचभूत पावन हो चुके हैं तथा तुम्हारी देह से मनुहारी कोमल गंध उत्सृत हो रही है।''

कुमार ने मौन रहकर उनके द्वारा कथित विचारों पर सहमति व्यक्त की। आचार्य ने कहा-''अब कहो। यद्यपि तुम सर्वज्ञ नहीं बने, तथापि सर्वज्ञ-कल्प (सर्वज्ञवत) तो बन गए हो। तुम जानना चाहोगे कि इसका अर्थ क्या है? मन शांति का संकल्प कर निर्विषयक हो अंतर्मुखी हो जाता है। तब अपने अस्तित्व या उसके अभाव की अनुभूति सुप्त हो जाती है। मन की इस अवस्था में जब कुछ जानने की इच्छा जगती है तो वह संकल्प देव कार्यार्थ जगनेवाला होता है। अतएव देवता स्वयं उपस्थित रहकर उस प्रकार के ज्ञान की आविर्भूति के लिए अनुकूल स्थिति का निर्माण करते हैं। जैसे अब तुम्हें यहाँ लाया गया है न ! अतएव अब तुम्हें जानने की आवश्यकता शेष नहीं रही कि मैं सर्वज्ञ बन चुका हूँ कि नहीं। इसीलिए इस

विचार में तुम अनासक्त रह गए हो। जिस प्रकार किसी घर के अवलोकन से उसकी संपदा या अन्यथा का बोध हो जाता है उसी भाँति आँखों को यहाँ अवस्थित वस्तुओं के दर्शन से उस देही की सामर्थ्य की अवगति होती है। अतएव अब तुम्हारे सम्मुख दो ही मार्ग हैं। एक मार्ग है कि स्वयं अपनी परीक्षा कर लो, या दूसरा मुझ पर विश्वास करो। तुम्हें इन दोनों में से एक को अपनाना होगा।''

कुमार ने विचार किया–'यदि समस्त लोक मुझे सर्वज्ञाभिधान से सम्मानित करे तो मुझे इससे कौन–सा पुरुषार्थ मिलेगा? यदि मैं स्वयं अपनी परीक्षा कर लूँ तो उससे भी मुझे क्या मिलेगा? अतएव आचार्य जी की बात पर विश्वास करना ही मेरे लिए अनुगम्य है। यही नहीं, आचार्य मेरे बारे में असत्य कथन क्यों करेंगे ? उससे उनको कौन–सा लाभ होगा?' यों विचार कर उसने कहा–''मुझे आपका कथन ही पर्याप्त है। परीक्षा जैसा प्रमाण नहीं।''

''तो ठीक है ! अब कहो, यदि इस प्रकार की परिणति प्राप्त तुम्हें अपने स्तर पर मानकर देखूँ तो इसमें कौन–सा दोष है ?''

कुमार ने कोई उत्तर नहीं दिया। हँसमुखी हो सिर झुका लिया।

''हाँ, तुम एक नितांत असमर्पक आक्षेप प्रस्तुत कर रहे हो कि तुम अभी स्नातक नहीं बने हो। बस यह लोकाचार ही तो है। उसे छोड़ो। अब अपने भविष्य के कर्तव्य के विचार में कहो। अब तुम्हें पुनः आदित्य की तपस्या करनी होगी। तुम स्वयं निश्चय कर पाओगे कि उनसे तुम्हें कौन–सा निर्देश मिलेगा। इसीलिए मैं इस संबंध में कुछ भी नहीं कहूँगा। आदित्य के अनुग्रहोपरांत एक अवधि तक गार्हस्थ्य में रहो। उसके बाद जो होगा, देखा जाएगा।''

''यथाज्ञपयति भगवान्, मैं तो निरंतर आदित्योपासना करता रहा हूँ, उसे स्थगित नहीं किया है। अब उसको अधिक बल देकर करूँगा।''

''हाँ, एक बात का विस्मरण हो गया है। बुडिल जी की पुत्री कात्यायनी के विवाह का समय बीता जा रहा है। मैंने सुना है कि तुम्हारे पिता जी के पास इस संबंध में प्रस्ताव आया है। उनका विचार है, माघादि पंचक में विवाह संपन्न हो जाए। मैं उन्हें क्या संदेश भेजूँ ?''

''जैसे अभी आपका आदेश हुआ, सर्वप्रथम आदित्यानुग्रह प्राप्त करूँ, उसके उपरांत ही विवाह हो।''

''ठीक है,वही होगा।''

गृहणी या ब्रह्मवादिनी ?

अब तक मैत्रेयी अपना समूचा ध्यान केंद्रित कर संवाद को सुन रही थी। किंतु विवाह का प्रस्ताव सुनकर न जाने क्यों अस्थिर हो गई। उसके मन में ईर्ष्या-सी जगी। उसे प्रतीत हुआ कि उसके स्वयं की वस्तु का कोई अपहरण कर रहा है।

आलापिनी ने भतीजी की मन:स्थिति को उसके चेहरे की रेखाओं को पढ़कर भाँप लिया। किंतु उसे लगा कि अब बात करना ठीक नहीं होगा।

याज्ञवल्क्य चलने को हुआ। आचार्य दंपती ने उसके प्रणाम को ग्रहण किया तथा इसे विदा किया। जाने को उद्यत उसे संबोधित कर आलापिनी ने कहा–''बताओ न, अब समाधि कब टूटेगी? ठीक उसी समय दूध भेजूँगी। तब तक दूध भेजती रहूँ, वह व्यर्थ होता रहे, यह तो उचित नहीं होगा न ?''

याज्ञवल्क्य जो चला ही था, रुक गया,बोला–''दूध व्यर्थ क्यों होगा? दूध तो फटेगा नहीं, खट्टा भी नहीं बनेगा। आप उसका दूसरा उपयोग कर पाएँगी।''

आलापिनी ने कहा–''ठीक ही कहा; किंतु लोकाचार के अनुसार कुछ कहना तो पड़ेगा। उसको इतना महत्त्व नहीं देना।''

आचार्य ने कहा–''देखा न, तुम आँखें बंद किए बैठे रहते हो, तुम्हारे पास दूध भेजा जाता है। जब वहाँ उसका उपयोग नहीं होता, तब उसे लौटा लाकर उसका उपयोग कर लिया जाता है। पर तुम्हें यह कैसे ज्ञात हो गया ? इस प्रकार का ज्ञान तुम्हें सर्वज्ञ बीज ने ही प्रदान किया है। है न? इसी ज्ञान को परिवर्तित करोगे तो छोटा-सा पौधा वृक्ष बन जाएगा।''

अपने स्वरूप को मुकुर में देखकर लजा जानेवाले की भाँति अपने अनजाने में प्रकट हुए सर्वज्ञत्व को लखकर याज्ञवल्क्य लजा गया। यद्यपि आंतर्य में उसे इस पर प्रसन्नता हुई तथापि उसको प्रकट किए बिना, संकोच करते हुए वहाँ से निकल गया।

जा रहे याज्ञवल्क्य को देखते हुए आलापिनी ने पति को उद्देश्य कर कहा–''क्यों जी, क्या कात्यायनी से यह याज्ञवल्क्य सँभल पाएगा? यदि कात्यायनी मैत्रेयी जैसी अवस्था में बड़ी होती तो क्या ही अच्छा होता !''

आचार्य जी ने अपनी हँसी को थोड़ी छेड़छाड़ का पुट देते हुए कहा–''तो कात्यायनी के पास समाचार भेज दें–अब यहाँ तुम्हारी आवश्यकता नहीं। यहाँ

अभी स्वयंवर हो चुका। हमारी मैत्रेयी ने तुम्हारे याज्ञवल्क्य को वरा हुआ है। क्यों मैत्रेयी, ऐसा करें?'' उन्होंने मैत्रेयी के चेहरे की ओर देखते हुए कह दिया।

आलापिनी ने कहा–''मैंने ही हठ किया कि मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बने। किंतु मैंने तब याज्ञवल्क्य को नहीं देखा था न ?''

आचार्य ने अपना परिहास जारी रखा–''अब कौन–सी बड़ी हानि हो गई? मैत्रेयी तुम्हारी इच्छा के अनुसार ब्रह्मवादिनी बने। यदि वह चाहेगी तो मोक्षपत्नी बन सकती है।''

मैत्रेयी ने हँसते हुए कहा–''देखा न मामी, मामा जी मुझे भी तुम जैसा बनाना चाहते हैं। पर तुम तो मामा जी की धर्मपत्नी भी हो, मोक्ष–पत्नी भी। तुम जैसे बनना संभव होगा ?''

किसी ने उसकी इन बातों में निहित गूढ़ अर्थ पर विचार नहीं किया।

विवाह

देवरात–दंपती पुत्र को आश्रम से लिवा लाए। उद्दालक जी का विचार था कि याज्ञवल्क्य अभी कुछ समय के लिए आश्रम में ही रहा करे। पर आलापिनी देवी का विचार भिन्न था। याज्ञवल्क्य के प्रति मैत्रेयी के मन में घरकर रहे कोमल भाव को उन्होंने देख लिया था। तो उसने सोचा–'दोनों की आयु इस योग्य नहीं कि वे पास–पास रहें।' अतएव उसने एकांत में पति से इस बारे में बात की और कहा–''भविष्य में जो होना है सो हो, पर प्रस्तुत दोनों दूर–दूर रहें, इसी में दोनों की भलाई है।'' परिणामस्वरूप देवरात दंपती पुत्र को घर ला पाए।

इधर याज्ञवल्क्य घर लौटे तो कात्यायन देवरात के पीछे पड़ गया। ''अब आलंबिनी देवी की आयु बढ़ती जा रही है, याज्ञवल्क्य ने अपना व्रताचरण अभी तजा नहीं। इसलिए उसकी परिचर्या के लिए किसी का होना आवश्यक है।'' इस प्रकार के कई तर्क प्रस्तुत किए। आलंबिनी भी उसकी बातों में आ गई। किंतु मन में एक इच्छा भी थी कि कात्यायनी से बढ़कर मैत्रेयी को बहू बना लें तो अच्छा होगा। किंतु बुडिल जी को जो वचन दिया गया था, उसका भी मान रखना था।

साथ-साथ यह विलक्षण इच्छा थी कि बहू घर आ जाए तो आयु ढलने के पूर्व ही पोते को गोद में लेकर खिलाने का सौभाग्य प्राप्त हो।

उद्दालक ने देवरात को पंचात्म-संक्रमण विद्या के बारे में कह सुनाया था। उससे प्रसन्नता हुई और भय भी हुआ। प्रसन्नता यह जानकर कि पुत्र स्वयं देवायतन बन चुका है। भय इसलिए कि इसी कारण से पुत्र ब्रह्म-विद्या की ओर आकर्षित होकर संन्यास ग्रहण कर ले तो क्या हो ! अतएव यथाशीघ्र पुत्र के गले में एक और यज्ञोपवीत डाल दिया जाए तो मवेशी के गले में डंडा झूला देने के समान होगा। (गाय, भैंस जैसे मवेशी जब अड़ियल हो जाते हैं तब उनको भागने से रोकने के लिए उनके गले में रस्सी से बँधा एक मोटा डंडा लटका देते हैं। इससे उसके भागने के वेग में अड़चन हो जाती है।) इसलिए देवरात ने पुत्र के विवाह के लिए स्वीकृति दे दी। कात्यायनी के पिता ने चैन की साँस ली, माघ मास में मुहूर्त निकलवा लिया।

इधर याज्ञवल्क्य के मन में माघमास में ही सूर्योपासना करने की इच्छा थी। उसका विश्वास था कि माघमास में सूर्य उत्तराभिमुखी हो जाता है; उस वेला में जो उसकी आराधना करेगा, उस पर सूर्य अधिक प्रसन्न होगा, शीघ्र वरदान प्रदान करेगा। अतएव माघ शुद्ध में ही विवाह निश्चित हुआ।

देवरात ने स्वयं पुत्र को समावर्तन-कर्म करा दिया। अब विद्यार्जन संपूर्ण होने से याज्ञवल्क्य स्नातक बनकर परिशोभित हुआ।

विवाह के लिए कुलपुरोहित सपत्नीक पधारे। मैत्रेयी मायके गई हुई थी। इधर आलंबिनी देवी के माता-पिता, भाई-भाभी सभी आए हुए थे। उधर कन्या की ओर से भार्गव आदि जन,कन्या के मातामह का परिवार—ये ही सब आए हुए थे। कन्या-वर दोनों पक्षों के बंधुओं में आनंदोत्सव की प्रसन्नता छाई हुई थी।

सभी का ध्यान विवाह के विभव की ओर था, पर याज्ञवल्क्य की आस्था विवाह की वैदिक प्रक्रियाओं में थी। उनका ध्यान उधर इसलिए था कि इससे प्राणापानों का मनोमिलन होता है, तो दंपती का जीवन सदा के लिए स्नेहमय बना रहता है। इसके विपरीत यदि कर्म में कोई कमी हो जाए तो कात्यायनी विपरीत आचरण करने लगेगी। तो क्या होगा? सबसे बढ़कर उसके मन में शंका थी कि कात्यायनी तो दस वर्ष की आयु की है। क्या यह मुझसे आदित्य-व्रत करा पाएगी? यद्यपि आकाश में घिर आनेवाली मेघराशि जैसा संदेह एवं भय उसको घेरे हुए थे, तथापि एक प्रकार का विश्वास भी था कि यह तो देवताओं द्वारा होनेवाला कार्य है।

वे कभी किसी कार्य को अधूरा नहीं छोड़ते। जो कुछ करते हैं, भली-भाँति किया करते हैं। इसके उपरांत भी यदि ऐसा कुछ हो गया तो एक हवन या होम कर देंगे।

विवाह का दिन आया। वर-पक्ष के लोग कन्या के घर आए। राजधानी भर में बड़ा उत्साह था। वहाँ के सभी लोग विवाह में उपस्थित रहना चाहते थे। भार्गव के कहने पर कात्यायन ने बहुत बड़ा छप्पर छवाया था। राजप्रासाद के लोगों के लिए विशेष आसनों की व्यवस्था की गई थी।

विवाह के दिन वैशंपायनजी ने देवरात को एकांत में बुलाकर कहा-''आज जो आपके घर में प्रविष्ट हो रही है वह केवल बहू नहीं, अपितु महा-लक्ष्मी है। आपके मन में यह भाव अवश्य घर करे कि वह आपके वंश का उद्धार करेगी। कन्या-ग्रहण के अवसर पर इसी भाव को मन में ग्रहण कर देवताओं से निवेदन करें। क्यों, मेरा परामर्श आपको अप्रिय तो नहीं लगता!''

देवरात ने उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक उनकी अभ्यर्थना करते हुए कहा-''समावर्तन तक आपके आश्रय में रहने का सौभाग्य याज्ञवल्क्य के लिए बदा नहीं था। तथापि उसमें यह भाव सदा बना हुआ है कि आप उसके गुरु हैं ही। उसी भाँति आपके हृदय में भी उसके प्रति शिष्य-भाव अमिट रहा है। यदि बुडिल जी आज जीवित रहते तो हमें इसके बारे में चेता देते। अब आप स्वयं बुडिल जी के स्थान पर हैं। इसलिए आपका परामर्श श्लाघनीय है। यद्यपि हम वेद-मंत्रों के अर्थ से अभिज्ञ हैं तथापि उन पर आचरण तज दिया है। यदि आप स्मरण नहीं दिलाते तो और कौन यह दायित्व निभाता ?''

विवाह-मंडप में प्रविष्ट होने से पूर्व याज्ञवल्क्य ने आकर वैशंपायन दंपती का पादाभिवंदन किया। उन्होंने उसे गले से लगाते हुए हृदय से आशीर्वाद दिया। ''याज्ञवल्क्य, तुम सर्वज्ञ बने हुए हो। सारा संसार इसको मान्य करे।'' याज्ञवल्क्य ने कहा-''सब आपके आशीर्वाद का ही फल है।'' कादंबिनी ने कहा-''तुमको देखने पर मन में इच्छा उठती है कि कहूँ- यह हमारा याज्ञवल्क्य है ? क्या करूँ?'' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया। ''मैं जिस भाँति देवरात दंपती की संतान हूँ उसी भाँति वैशंपायन जी का शिष्य भी हूँ—यह यथार्थ है। मैं कितना भी उछल-कूद कर लूँ, फिर भी आपका ही याज्ञवल्क्य हूँ।'' कादंबिनी के हर्ष की सीमा न रही। हृदय खोलकर आशीर्वाद दिया-''मेरे याज्ञवल्क्य को समूचा विश्व आँखों की पुतलियों पर बिठा ले।''

इधर याज्ञवल्क्य के मन में उद्दालक दंपती को भी प्रणाम करने की कामना है। किंतु वह कुछ कुछ संकोच कर रहा था, यह सोचकर कि वे अन्यथा न समझ बैठें। तथापि साहस कर उनके पास पहुँचा। उद्दालक जी ने उठकर उसका स्वागत किया। उन्होंने पत्नी को संबोधित करते हुए कहा–''देखो, याज्ञवल्क्य पधारे हुए है।'' वह आई और, हँसते हुए कहा–''आओ पुत्र, जानती नहीं कि तुम्हें तुम कहूँ या आप। यों तो 'आप' ही कहना संगत होगा। पर वे इस विषय में मार्ग दिखाएँ।''

याज्ञवल्क्य ने हाथ जोड़कर कहा–''आप जो चाहें कह लीजिए। आपके द्वारा रोपा गया बीज हूँ। आप द्वारा सिंचित हूँ। यदि वह बड़ा से बड़ा वृक्ष भी बन जाए वह तो आपका लगाया पौधा ही रहेगा। मैं आपसे एक वरदान चाहता हूँ। इसीलिए आपके पास आया हूँ।''

उद्दालक जी ने कहा–''क्यों, परसोंवाली बात ही तो है? दोनों को नमस्कार कर आशीर्वाद पाना चाहते हो, यही निवेदन है न ?''

''हाँ।''

''आज तुम जो भी चाहो, हमें अस्वीकार नहीं। अतएव अस्तु कहना होगा न? किंतु मैंने तभी कहा था कि तुम हमसे किस बात में कम हो। तथापि अस्तु कहता हूँ। आलापिनी जाओ, अक्षत ले आना, आशीर्वाद देंगे।''

आलापिनी अक्षत-पात्र लाने गई।

उद्दालक जी ने कहा–''मुझे एक वचन देना।''

''हाँ, हाँ, आदेश हो, जो भी हो, मैं आपके अनुग्रह्य वर्ग में गिना जाता हूँ।''

''तुम सदा से अंतर्मुखी रहे हो याज्ञवल्क्य, तुम यों सदा अंतर्मुखी रहोगे तो कात्यायनी का जीवन शुष्क हो जाएगा। अतएव बहिर्मुखी होकर तुम ऐसी गृहस्थी निभाओ कि उसके मन को कोई ठेस न पहुँचे।'' ये बातें कहते-कहते वे भावुक हो गए। बात के अंतिम स्तर तक पहुँचते-पहुँचते उनका कंठ अवरुद्ध हो गया।

याज्ञवल्क्य पलभर यों ही खड़ा रहा। वह अब तक इसी विचार में था कि इस नवेली को अपने अनुकूल कैसे ढाला जाए; किंतु कभी यह नहीं सोचा था कि वह भी इस संसार में उसी की भाँति आई हुई व्यष्टि है, उसे भी स्वयं जैसे सुख-दुख हैं। उद्दालक जी के परामर्श ने उसकी आँखें खोल दीं। विवाह के मंत्रों में सबसे बढ़कर उसे उस मंत्र का स्मरण हो आया कि 'ऋक् त्वं, अहं साम', अर्थात् तुम ऋक् हो, मैं साम हूँ। 'सखासप्तपदीभव' अर्थात् मेरे साथ सात पग चलकर सुखी बनो।

तब तक आलापिनी देवी अक्षत-पात्र ले आई। याज्ञवल्क्य ने अक्षत-पात्र से अक्षत ले लिया। उनके चरणों में अक्षत समर्पित कर नमस्कार किया और कहा– ''आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है। आपकी बातें सदा के लिए मेरे हृदय में निवसित रहें तथा मुझे पथ दर्शाएँ।''

दंपती ने मन से आशीर्वाद दिया–''यह विवाह तुम्हारे लिए सच्च अर्थ में कल्याण बने।''

अब याज्ञवल्क्य उधर से निकला तो वर-वधू की माताएँ आईं और कहा–''अब इंद्राणी की पूजा करवानी होगी, तुम्हारे साथ कादंबिनी देवी भी चलेंगी।''

आलापिनी एवं कादंबिनी देवी ने कात्यायनी से इंद्राणी की पूजा करवाई। कादंबिनी ने हृदय से आशीर्वाद दिया–हमारे याज्ञवल्क्य की धर्म-पत्नी बनो। तुम्हारा दांपत्य आदर्श बने।'' परंतु उसी क्षण आलापिनी को मैत्रेयी का स्मरण हो आया। उसने भी कादंबिनी की भाँति आशीर्वाद दिया, तथापि उसको लग रहा था–यदि यही मैत्रेयी होती तो? उसके मन में उदित यह भाव न जाने उसे कहाँ उड़ा ले गया !

पति-पत्नी

विवाह बड़े वैभव के साथ संपन्न हो गया। घर भराई की रस्म भी हो गई। आलंबिनी को बड़ी प्रसन्नता थी कि बहू घर आ गई। देवरात को निश्चिंतता थी कि भगोड़े घोड़े को लगाम कस दी गई। आलंबिनी के माता-पिता कुछ दिनों के लिए ठहर गए। शेष सभी विवाहोपरांत दो-तीन दिनों के भीतर ही चले गए।

याज्ञवल्क्य उद्दालक जी के परामर्श के अनुरूप ही संभवत: बहिर्मुखी ही रहा। प्रात: यज्ञेश्वर की उपासना करते समय उनकी इच्छा के विरुद्ध, कात्यायनी के पास रहते समय भी अंतर्मुखी होकर समाधिस्थ हो जाता। तब कात्यायनी इस अवस्था से अभ्यस्त-सी प्रतीक्षा में बैठी रहती। केवल दस वर्ष की आयु की थी वह। यदि अन्य कोई बालिका होती तो गुड़ियों के साथ खेला करती। किंतु कात्यायनी पति के संग तथा सास के साथ सयानी सदृश आचरण किया करती।

याज्ञवल्क्य ने आदित्योपासना आरंभ की। सूर्य के प्रखररूप का दर्शन कर अग्निर्युपासना संपन्न करता था। रक्तिम पुष्प, चंदन एवं अक्षतादि से आदित्य को

आचार्यस्थान से नमस्कार समर्पित करता; आदित्य को निवेदित खीर में से माता-पिता एवं पत्नी के लिए अलग रखकर शेष भाग वह खा लेता। रात को माँ के आग्रह पर दूध पी लेता। शेष समय मंत्रजप में व्यतीत करता।

कात्यायनी पति की दिनचर्या को देखती। एक सप्ताह में उसको सारी जानकारी हो गई। उसने सास के पास जाकर पूछा– ''क्या यह सच है माँ कि वे आदित्य को निवेदित खीर के सिवाय कुछ नहीं खाते?''

सास ने उत्तर दिया–''हाँ, वह और कुछ नहीं लेता।''

''रात में भी ?''

''तुम्हें उसकी भी जानकारी है ? हाँ, मैं जो दूध दे आती हूँ, वह भी आग्रह करने पर लेता है। अन्यथा वह भी नहीं।''

''देह के लिए इतना आहार पर्याप्त होगा क्या?''

आलंबिनी को प्रसन्नता हुई। आयु कम होने पर भी मन तो परिपक्व हुआ है। उसने कहा–''यह बात उसी से पूछ लेना। आज ही जाकर पूछ लो।''

''किंतु जो आत्मीयता आपके साथ है वह उनके साथ नहीं हो रही।''

''ऐसा कहने से कैसे चलेगा ? यों तो तुम दोनों पति–पत्नी हो। कल को तुम्हें उसकी छाया बनकर रहना पड़ेगा। अभी से तुम्हें उसके सुख–दुख का विचार कर उसके मन को समझने का प्रयास करना चाहिए।''

''अच्छा माँ, आज शाम को पूछ लूँ।''

''पूछो, इसमें कोई दोष नहीं होगा। किंतु जब वह जप करता होता है तब उसे भंग न करना। यदि वह किसी कारण झुँझला जाए तो तत्क्षण नमस्कार करना, और कहना–मुझे सिखा दीजिए। किंतु यह न समझना कि मेरा बेटा होने के कारण उसकी प्रशंसा कर रही हूँ। याज्ञवल्क्य सचमुच परम शांत स्वभाव का है।'' कात्यायनी ने हामी भरी।

कात्यायनी के आने के सप्ताह भर में ही आलंबिनी को प्रतीति होने लगी कि विश्राम क्या होता है। भोजन के तुरंत बाद वह पत्तल उठा देती, जूठनवाली जमीन को गोबर से पोतकर शुद्ध बनाती। सास के मना करते रहने पर भी रसोईघर की सफ़ाई, बरतन–भाँड़ा आदि की स्वच्छता का भार अपने ऊपर ले लेती। संध्या समय नदी में जाकर कपड़े धो लाती। संध्या के स्नान के लिए गरम पानी रखा करती। होम–धेनु को दुहने तथा भोजन बनाने के काम को छोड़ शेष सारे कार्य में सास का हाथ बँटाती। आलंबिनी को बहू भा गई थी। यद्यपि अभी वह आयु में

बहुत छोटी थी, तथापि उससे परामर्श किए बिना वह कोई काम नहीं करती थी। रसोई बनाने से पूर्व चावल-दाल निकालते समय भी वह पूछ लेती-''क्यों री कात्यायनी, इतना चावल पर्याप्त है न?'' सप्ताह-भर में बहू सास को बहुत भा गई।

संध्या हो चली थी। कात्यायनी घर के समस्त सदस्यों के मैले कपड़े उठाए तालाब की ओर जाने को थी। तभी उसे सास की कही बात याद हो आई। मन में डर था कि पति से इस बारे में पूछें कैसे ? आज तक उसने उससे खुलकर बात ही नहीं की थी। किंतु वही मन उत्तर भी देता था-'कभी न कभी बात करनी ही है। आज ही क्यों न पूछा जाए? सास ने तो कहा है कि मुझे उसकी छाया बने रहना चाहिए। उन्होंने कहा कि उसके सुख-दुख का ध्यान रखो। हाँ यदि वे डाँट दें तो? देखें, कुछ उपाय करें।' उसने निश्चय किया कि आज ही पूछ लूँगी।

घर के पिछवाड़े के बग़ीचे में याज्ञवल्क्य के लिए बनाई गई कुटिया से वह कभी-कभी बाहर निकलता। माँ के आग्रह एवं पिता के मना करने पर भी वह तालाब के ठंडे पानी में ही स्नान करता। भीगे वस्त्र धारण किए कुटी में प्रवेश करता, फिर वहाँ सूखने के लिए फैलाए गए धौत-वस्त्रों को धारण कर संध्या एवं जप आदि करता। अग्निकार्य के लिए घर के भीतर जाता। फिर कुटिया के द्वार पर आदित्योपासना किया करता। भीतर चला जाता तो मध्याह्न के समय भोजन के लिए आता। अब दो-तीन दिनों से भोजन नहीं करता था। अतएव अग्निकार्य के समय को छोड़कर फिर कभी वह घर में नहीं आता था।

आज संध्या के समय वह पति की कुटिया में गई। वह आँखें मूँदे पद्मासन में बैठा था। देह में कोई अलसता नहीं दीख रही थी। सर्वत्र शांति का वातावरण था। कात्यायनी बहू बन इस घर में आने के बाद इस कुटिया को साफ़-सुथरा रखती थी। जाने कब समय निकालकर इसकी लिपाई-पुताई भी कर लेती थी। रंगवल्ली भी रचती थी। कुटिया में सुगंध फैली होती थी।

वह पलभर प्रतीक्षा करती रही। फिर सोचा-'वे जप कर रहे हैं। मैं तो उनकी छाया हूँ; अब मेरे लिए करणीय क्या है?' स्वयं भी 'ॐ नमस्सवित्रे' का जप करते बैठी रही।

कुछ समयोपरांत याज्ञवल्क्य ने सहसा आँखें खोलीं। देखता है, दालान से बाहर पत्नी बालयोगिनी-सी बैठी हुई है। पद्मासन में दोनों हाथ दोनों उरुओं पर

रखे हैं, हथेली ऊर्ध्व दिशा की ओर है। जप के लिए अभ्यस्त देह-सी दीख रही है। यह देखकर याज्ञवल्क्य को बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसे खाँसी आ गई। उससे पत्नी का ध्यान भंग न हो, यों सोचकर उसने खाँसी को दबा लिया। फिर भी धीमी-सी आवाज़ निकल ही गई। चूँकि अभी कात्यायनी का ध्यान नहीं सधा था, इस छोटे से व्यवधान से वह जगी। आँखे खोलीं। बहिर्मुखी होकर पति को देख हँसी और उठ खड़ी हुई।

''बैठो। क्यों कोई काम था ? मुझसे कोई कष्ट तो नहीं हुआ?''

''मुझे नहीं हुआ। पर आपको मेरे कारण विघ्न हुआ होगा।''

''विघ्न कैसा? ऐसी कोई बात नहीं; क्यों, कोई बात है! बैठो, कहो!''

कात्यायनी बैठी, उसे सूझ नहीं रहा था कि बात कैसे आरंभ करें। एक बार पति की ओर देखा, फिर पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए सोचती रही।

यद्यपि याज्ञवल्क्य को इस प्रकार समय का अपव्यय सह्य नहीं था, तथापि उसकी ओर देख रही बालिका का मुख उसे प्रिय लगा। असहनीय अवस्था से ऊपर उठकर पत्नी की ओर स्नेह प्रकट करते हुए मुस्कराकर उसमें विश्वास पैदा करती ध्वनि में उसने कहा-''क्यों आई, कहो ना। मैं तुम्हें खा नहीं जानेवाला।''

कात्यायनी कुछ सहमी हुई-सी बोली-''सुना है कि आप इस व्रत की अवधि तक केवल खीर खाकर रह लेंगे ? क्या यह सच है?''

''तुमसे किसने कहा?''

''माताजी ने।''

''हाँ, कुछ ऐसा ही विचार है।''

''आपने समावर्तन किया हुआ है। फिर भी यह व्रत किसलिए?''

''किसी ने आग्रह नहीं किया कि मैं यह व्रत रखूँ । अंत:प्रेरणा हुई है, इसलिए व्रत रखा है।''

''कितने दिनों का व्रत है।''

''एक वर्ष तक।''

''केवल खीर खाकर रह जाने का नियम है?''

''हाँ।''

''मुझे भी आप अपनी तरह केवल खीर पर निर्भर रहने की अनुज्ञा दें।''

''उसके लिए मेरी अनुज्ञा क्यों ?''

''मुझे आपकी छाया बनकर रहना जो है! मेरी माता जी कहा करती थीं कि आप जैसा रहेंगे मैं भी वैसे ही रहूँ। यहाँ सासू माँ ने भी यही कहा है। यह भी है कि सुहागिनियों को उपवास व्रत रखना है तो पति की अनुज्ञा लेनी पड़ती है।''

''अच्छा ! यदि तुमसे यह नहीं हो पाए तो।''

''होना पड़ेगा। यदि मुझसे यह हो नहीं पाएगा तो मैं आपसे परामर्श करूँगी। पूछूँगी कि अब मैं क्या करूँ ?''

याज्ञवल्क्य हँसा–''मन से बढ़कर कुछ भी नहीं। यदि तुम मन में धारणा बना लो तो प्रारंभ में एक दो दिन कुछ कष्ट होगा। फिर भी हम हठ करें तो मन वश में हो जाएगा। और तो और, मानव प्राणापानों से ही जीवित नहीं रहता। वे दोनों जिस पर आश्रित हैं उसी से जीवित रहते हैं।''

''अर्थात् ?''

''हम जो भोजन करते हैं वह 'अन्न' होता है। 'अन्नाद' के रूप में देह में अवस्थित प्राण इस अन्न को खाता है। उस अन्न में से अनावश्यक भाग को बाहर करनेवाला अपान होता है। इसलिए सभी की धारणा बनी है कि मानव प्राणापानों के द्वारा ही जीवित रहता है। किंतु उपनिषद् कहता है–मानव प्राणापानों से जीवित नहीं रहता। वह जीवित रहता है इन दोनों को आश्रय प्रदान करनेवाले के कारण। मैंने भी तुमसे वही कहा है।''

''तो मुझे अनुज्ञा मिल गई न, मैं भी खीर के आधार पर रह लूँगी।''

''किंतु अभी तुम बहुत कम आयु की हो। अभी देह को परिपुष्ट बनना है। अतएव तुम्हारे लिए भोजन करना ही ठीक रहेगा। यदि तुम कहोगी कि मैं वैसे ही रह लूँगी, और उस प्रकार तुम रह पाओगी, तो ठीक है। इससे मुझे मेरे कर्म में बल मिलेगा।''

''ठीक है। मुझे इस जन्म में आपकी सहायिका रहने के सिवाय और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। कल से मैं भी निवेदित खीर खाकर रह लूँगी। रात को आप दूध पिएँगे तो मैं भी पी लूँगी।''

उसने कहा–''अस्तु''। कात्यायनी ने प्रसन्न होकर कहा–''अब मुझे जाने की अनुमति दें।'' यों कहकर वह वहाँ से चल पड़ी।

याज्ञवल्क्य को आश्चर्य हुआ–''इस अल्प आयु में भी ऐसी दृढ़ता! ठीक है। यदि ऐसा नहीं है तो संसार कैसे चले ?''

फिर उसने आँखें बंद कीं। विचार किया–'प्रतीत होता है कि मैं इसी कारण के लिए बहिर्मुखी हुआ था।' तो अभ्यास से मन पुनः ध्यान में सध गया।

आदित्य का अनुग्रह

याज्ञवल्क्य व्रती बना तो कात्यायनी उसकी पत्नी होने के नाते खीर भोजन में ही एक वर्ष तक आदित्योपासनारत रही। कुछ दिन जप में व्यतीत होने पर याज्ञवल्क्य को जप के समय चरागाह में चर रहा एक लाल अश्व दिखाई पड़ता। जब तक वह जप में निरत रहता तब तक अश्व भी खड़ा रहता।

कात्यायनी को अपने पितामह तथा घरवालों की बातों से मालूम हो गया था कि उसका पति एक अलौकिक महानुभाव है। इसीलिए उसने पति से कभी यह प्रश्न नहीं किया कि आप ऐसे व्रत का अनुष्ठान किस आशय से कर रहे हैं।

धीरे-धीरे याज्ञवल्क्य के मुख पर तेज समा गया। तेज ! वह भी सामान्य कोटि का नहीं, आँखों को चौंधिया देनेवाला तेज था। स्पर्श करना तो दूर, देखने से ही जला दे—ऐसा तेज था। जब वह जप में लीन रहता तब एकाध बार उसकी माता किसी कारण से वहाँ आई। झाँककर देखा। उस प्रखर किंतु शीतल तेज को देख उनके मन में शंका जगी कि पत्तों से बनी यह कुटिया जल जाए तो क्या हो? जब उसने पति के सामने अपनी शंका प्रकट की तो वे हँसकर बोले—''पगली, मंत्रजापक मंत्राधिदेवता सा बनेगा। किंतु कुटिया नहीं जलेगी, भय न करो। यदि तुम्हारे पुत्र की तपोज्वाला से कुटिया दग्ध भी हो जाए तो वह तुम्हारे पुत्र को कोई हानि नहीं पहुँचाएगी।''

किंतु प्रतिदिन पति के संग-संग अग्निदेव की सेवा करनेवाली कात्यायनी को ऊष्म की अनुभूति नहीं होती थी। इसके विपरीत उसे अनुभूति होती कि उसकी देह को कोई विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ है तथा उसमें प्रसन्नभाव राज कर रहा है। परंतु उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। उसकी एकमात्र कामना रही कि पति अपनी साधना में कृतकृत्य बने।

यों कई दिन बीत गए। कुछ महीने भी हो गए। एक दिन अश्व हिनहिनाते हुए याज्ञवल्क्य के सामने खड़ा हो गया। याज्ञवल्क्य को प्रतीत हुआ कि यह कोई साधारण घोड़ा नहीं है। उसने उसे पंचोपचार पूजा समर्पित की। मानव से बढ़कर अत्यंत सावधान होकर उसने पूजा ग्रहण की और मानव सहज भाषा में पूछा—''बोलो, मुझसे क्या चाहते हो।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''देव, मेरी इच्छा है कि आप अपना परिचय दें। आप आदित्य मंत्र जाप के समय ही प्रकट होते हैं। अतएव मेरा विश्वास है कि आप स्वयं आदित्य देव हैं।''

अश्व हिनहिनाया। याज्ञवल्क्य को वह हिनहिनाना उसकी हँसी के रूप में भान हुआ। घोड़े ने कहा–''देखना चाहते हो, देखो।'' देखता है तो सम्मुख घोड़े के स्थान पर आदित्य–मंडल ज्वालमाला रूप में मनुहारी हो दृष्ट हो रहा है। यद्यपि भिन्न–भिन्न वर्णों की ज्वालाओं से मंडल परिवृत है तथापि श्वेत ज्वाला सर्वत्र पसरी हुई है। मंडल के मध्यभाग में हिरण्मय पुरुष विराज रहे हैं। वे रक्तिम माल्यांबर धारण किए हुए हैं। सर्वाभरणों से भूषित हैं। याज्ञवल्क्य को बोध हो रहा है कि ये आदित्य ही हैं।

उस महापुरुष ने पूछा–''क्यों याज्ञवल्क्य, तुम मुझसे क्या चाहते हो?''

याज्ञवल्क्य ने विनती की–''मेरी पूजा ग्रहण करें।''

उस महापुरुष ने कहा–''तुम दंपती द्वारा की जा रही पूजा मैं प्रतिदिन ग्रहण करते आया हूँ। उससे मैं प्रसन्न भी हूँ। अतएव मुझे और पूजा नहीं चाहिए। माँगो, तुम क्या चाहते हो।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''देव हम तो मानव हैं। लोभ के आकर हैं। हम तो अपने मन की प्रेरणा के अधीन होकर बात करते हैं। अतएव मेरा माँगना और आपका देना यह ठीक नहीं होगा। आप ऐसा कुछ दें जो आपके पद के योग्य हो तथा उसके लेने से लोक मेरे द्वारा कृतकृत्य बने।''

आदित्य ने उसकी इस माँग पर प्रसन्न होकर प्रशंसा में सिर हिलाया और कहा–''साधु याज्ञवल्क्य, तुमने मुझे मेरी बातों में बाँध लिया। तथास्तु, ऐसा ही वरदान तुम्हें मिलेगा। तुमने अपने अहंकार को सामने कर अपने लिए कुछ नहीं माँगा। यह नहीं कहा कि मुझे वह चीज देना, या यह वस्तु देना। यह कहकर कि देने की इच्छा भी देनेवाले पर निर्भर हो, तुमने अपने सदभिमान की परमावधि को दर्शाया। तुम्हारे जन्म के आशय से मैं भली–भाँति अवगत हूँ। उस आशय की पूर्ति के लिए ही मैंने तुमसे इस व्रत का अनुष्ठान करवाया था। अस्तु, तुम इसी व्रत में अभी कुछ समय तक निरत रहो। अभी उत्तरायण समाप्त हो चुका है। अगले उत्तरायण में पुनः उपस्थित होकर मैं तुम्हें वर प्रदान करूँगा। अब मुझे जाने दो।'' यों कहकर वे तिरोहित हो गए। याज्ञवल्क्य पुनः जप में निरत हो गया।

उत्तरायण का समय फिर आ गया। संसार को त्रस्त करनेवाली शीत पराजित सैनिक की भाँति धीरे-धीरे पीछे हटते हुए धूप की गरमी को मैदान सौंपने लगा। रथ सप्तमी को सूर्य का रथ उत्तर की ओर उन्मुख हुआ। अब याज्ञवल्क्य अधिक से अधिक समय के लिए अंतर्मुखी होने लगा। कात्यायनी याज्ञवल्क्य का प्रतिबिंब बनकर बहिर्मुखी व्यापारों को निभा रही थी। परंतु आदित्य मंत्र जाप उसने छोड़ा नहीं था। वह इस भाँति मौन धारण किए होती थी कि देखनेवालों को लगता था कि यह लड़की बात करना नहीं जानती। पूरे दिन में एक-दो बातें ही करती; वह भी सास के साथ।

आज भी सदा की भाँति कुटिया में सूर्याराधना हो रही है। नमस्कार समाप्त हो चुके हैं। अर्घ्य प्रदान भी पूरा हो चुका है। न जाने उस दिन पूजा के समय क्या कुछ घट गया। याज्ञवल्क्य ने पत्नी को बुलाकर कहा-''यदि संभव हो तो आज कुटिया में ही रहो।'' कात्यायनी ने सविनय अपनी मौनवृत्ति को बनाए रखते हुए कहा-''अस्तु।'' अभी सूर्य कुछ ही ऊपर उठा था, प्रथम याम समाप्त हो चुका था। दूसरे याम का कुछ अंश बीत चुका था।

याज्ञवल्क्य सदा की भाँति जप कर रहा था। कात्यायनी भी द्वार से कुछ भीतर बैठे स्वयं भी जप कर रही थी।

अन्य दिनों की भाँति आज भी अश्व दीख पड़ा। अब अकेला अश्व नहीं, उसका एक झुंड एकत्र हुआ था। फिर अनेक एक में समा गए। अब वह अश्व शिशुवत् हो गया था। फुदकते हुए सीधे याज्ञवल्क्य के पास पहुँचा। पूछ बैठा-''क्यों याज्ञवल्क्य आऊँ?'' याज्ञवल्क्य ने उसको पूजा समर्पित कर कहा-''देव, आपकी इच्छा ही मेरी इच्छा है।''

अब अश्व कूदते-फाँदते कहने लगा-''क्या तुम मुझे धारण कर पाओगे?'' अब अश्व शिशुवत् नहीं है। एक मानव प्रमाण का हो गया था, यही नहीं, ज्वालामय बना हुआ था। ज्वलित अंगारों से बढ़कर लाल-लाल था।

याज्ञवल्क्य को भय नहीं हुआ-''देव, मैंने तभी आपसे निवेदन किया था-जो आपको उचित लगे, वही मुझे कृपा कर देना। जो मेरे लिए हितकर हो, वही देना। संसार का जो कल्याण करे, वही मुझे देना।''

अश्व बोलने लगा तो मेघ गर्जन-सा सुनाई पड़ता था। ''अच्छा, तुम सारा भार मुझपर डाल कर कृतकृत्य बने। अन्यथा, अब मैं जो वर दे रहा हूँ, उसका

वहन तुम कर नहीं पाते। लो, अब तुम मुझ जैसा बनकर इस वर को ग्रहण करो।''
अब एक घोड़ा हिनहिनाया और याज्ञवल्क्य के हृदय में प्रविष्ट हुआ।

याज्ञवल्क्य प्रज्वलित अग्नि-कुंड बन गया। उसके प्रत्येक रोमकूप से अग्नि पुरुष से भी अधिक ज्वालाएँ उठीं। एक मुहूर्त भर वह इसी प्रकार रहा।

अब अश्व प्रत्यावर्तित हुआ। याज्ञवल्क्य की देह से जो लपटें निकल रही थीं, वे उपशांत हो गईं। अश्व ने कहा–''याज्ञवल्क्य, तुम कृतकृत्य बने। तुम्हारे द्वारा लोक भी कृतकृत्य हुआ। तुम वेद पुरुष बन गए। अब संसार तुम्हारे द्वारा एक संहिता, एक ब्राह्मण एवं दो उपनिषद् पाएगा। उसमें से एक तुम्हारे बारे में होगा। दूसरा ब्रह्म के बारे में होगा। जो इन दोनों का अध्ययन कर उसमें निहित रहस्यों का उद्घाटन करेगा, उसे अवश्य महादर्शन प्राप्त होगा।''

याज्ञवल्क्य की समझ में नहीं आया कि क्या कहा जाए। वह पल-भर चुप रहा। घोड़ा तब तक याज्ञवल्क्य की देह के अंगांगों को चाटते हुए अपना प्रेम जताने लगा। कुछ समय व्यतीत हुआ, तो याज्ञवल्क्य प्रकृतस्थ हुआ। उसने अश्व को पूजा समर्पित की। पूर्व की भाँति अब भी अश्व के स्थान पर मंडलस्थ पुरुष दीख पड़ा तथा उसने पूजा ग्रहण की। उसने कहा–''याज्ञवल्क्य, तुम ऋषि बन गए; महर्षि, ब्रह्मर्षि बन गए। तुम-सा भाग्यवान कोई नहीं। आज तुम सर्वज्ञ हो, सर्व देवतामय हो। यही नहीं, ब्रह्म बने ब्रह्मर्षिवृक्ष हो। यद्यपि वह वृक्ष भीतर से कड़ा काष्ठ बना रहता है, तथापि आभ्यंतर में हरियाली, पुष्प एवं फलों से लदा हुआ होता है। अंतर्मुखी बनने पर भी बहिर्मुखी बने रहो। गृहस्थ बने रहो। समय आसन्न होने पर हम तुम्हें सावधान करेंगे। तब तुम तुम बनो। अब मुझे अनुज्ञा दो। मैं जा रहा हूँ। किंतु कभी यह न भूलो कि हम सब तुममें समाहित हैं।'' यों कहकर देवता विदा हो गए।

अब याज्ञवल्क्य ने आँखें खोलीं तो कात्यायनी की भी आँखें खुलीं। जो कुछ याज्ञवल्क्य ने देखा था, वह सब कात्यायनी भी देख पाई थी। वह प्रसन्नवदना थी, उसका हृदय हर्ष की हिलोरें ले रहा था। आँखों से आनंदाश्रु बह रहे थे–उसने कहा–''मैंने जन्मजन्मांतरों तक ईश्वर की अर्चना भलीभाँति की होगी। अन्यथा आप जैसे महानुभाव के हाथ थामने का भाग्य मुझे कहाँ से मिलता?'' उसकी ध्वनि में यह भाव था–''आप पर्वत हैं, मैं केवल परमाणु हूँ।''

यश फैल गया

''सुनने में आया है कि मिथिला में एक ब्रह्मर्षि का जन्म हुआ है।'' ''मिथिला के जनक महाराज मुक्त-हस्त हो विद्वानों का घर भरा करते थे। वह सार्थक हो गया।'' '' जो बात थी कि विद्या तो कुरु-पांचालों की धरोहर है,अब वह नहीं रही।'' ''हमने सोचा था कि मद्र एवं काशीवाले ही विद्वान् बन सकते हैं। अब मिथिलावासी भी सिर उठाकर चलने लगेंगे।'' ''हाँ बात तो ठीक है, मिथिला में भी महर्षि-कल्प पंडित रहते आए हैं। ऐसे में कैसे कहते हो कि यहाँ ऐसे महापुरुष हैं ही नहीं। क्यों ऋषि देवरात जी हैं नहीं?'' ''यही नहीं भाई, महर्षि वैशंपायन किस से कम हैं? उद्दालक जी तो महान हैं।'' ''हाँ, भई, ठीक है, ब्रह्मर्षि का जन्म लेना कोई साधारण-सी बात है? उसको कर्मकांड एवं ब्रह्मकांड दोनों में परिणत होना पड़ता है। उसे अनुभवों द्वारा आत्मसात् कर शिष्यों को 'इदमित्थं' स्तर पर पढ़ाने योग्य होना पड़ेगा। यदि ऐसा व्यक्ति जन्मा है तो उसको संसार का सौभाग्य मानना पड़ेगा।'' ''किसके बारे में कह रहे हो भाई, याज्ञवल्क्य ही तो है न ? मैं जानता हूँ, सुनो। कई वर्ष पूर्व ही वैशंपायन ने उन्हें आश्रम-निकाला कर दिया था। ऐसा व्यक्ति आज ब्रह्मर्षि बना है तो क्या कहें ? चुप भी हो जाओ न।'' ''अरे, ऐसी बात नहीं, कहते हैं कि उसे अभ्यूहन मंत्र की सिद्धि हो चुकी थी। उसके बाद ही वैशंपायनवाली घटना घटी थी। कुछ भी कह लो। मैं तो स्वयं देखे बिना किसी पर विश्वास नहीं करता, उसके बारे में मुझे तुमसे अधिक बातें मालूम हैं। किंतु मैं प्रत्यक्ष देखकर ही किसी पर विश्वास करता हूँ। तो चलो, चलें, देख आएँ।'' स्वामिन्, हमसे नहीं होगा। हम संन्यासी थोड़े ही हैं जो आज यहाँ डेरा डालते हैं तो कल को उठाकर दूसरे गाँव पहुँच जाएँ। हम बाल-बच्चों वाले हैं। यदि कोई मुझे अर्तिज्व के लिए निमंत्रण दे तो चला जाऊँ। कर्म-धर्म संयोग हो जाए तो हम भी कभी उनसे मिल लेंगे। तब चाहें तो दोनों साथ चलें।'' ''हाँ, हाँ, यह भी हो सकता है। किंतु याज्ञवल्क्य के बारे में एक सत्य बात है। वह असंग्रही है। सुनते हैं कि किसी से फूटी कौड़ी भी नहीं लेता।'' ''तो क्या कोई उसे अर्घ्य में निमंत्रण नहीं देता।'' ''क्यों नहीं? देते तो हैं; पर यह नहीं जाता।''

यों जहाँ भी चार ब्राह्मण एकत्र होते वहाँ याज्ञवल्क्य की चर्चा छिड़ती। सौ लोगों में कोई एकाध ही उसके पांडित्य के बारे में संदेह व्यक्त करता। पर एक बात तो थी। याज्ञवल्क्य का उद्दालक जी के पास रहकर ब्रह्मोपसना करने की बात का

उल्लेख कोई नहीं करता। वैशंपायन वाली बात, फिर किसी तरह उसका ब्रह्मर्षि बनना—ये ही बातें सबकी जिह्वा पर होतीं।

अब याज्ञवल्क्य प्रातः कर्मोपरांत सूर्योपासना समाप्त कर कुटिया में बैठे लिखता रहता था। कात्यायनी उसकी छाया बनी रहती थी तथा उसकी परिचर्या किया करती। भूर्जपत्र ले आकर उसे ढंग से काट–छाँटकर उसमें छेद बनाकर, तर होने के लिए रख देती। कभी–कभी आलंबिनी भी अपने पुत्र को देखने के लिए आ जाती। पुत्र के मुख पर तेज की प्रखरता देख वह बहुत प्रसन्न होती।

इस वर्ष आचार्य देवरात को कामों से समय ही नहीं मिल रहा था। वे जानते थे कि आदित्य ने पुत्र के मुख द्वारा संसार को एक भिन्न प्रकार से अनुगृहीत किया है। वे चाहते थे कि एक दिन बैठकर स्वयं देख लें कि उन्हें ज्ञात वेद तथा नए वेद में क्या अंतर है। किंतु उसके लिए समय नहीं मिल रहा था।

तथापि एक दिन ये समय निकालकर पुत्र को देखने उसकी कुटिया पर चले आए। पुत्र कुटिया में पद्मासन में बैठा लेखन कार्य में मग्न था। उसको देह की सुध भी न रही। हाथ में कंठी थी, भूर्जपत्र था, ध्यान केंद्रित कर वह लिखता रहा। देवरात पुत्र के सामने पल–भर खड़े रहे। उसकी स्वच्छ धुली धोती कुटिया के प्रकाश को प्रतिफलित कर आँखों को चौंधिया रही थी। पर याज्ञवल्क्य का ध्यान उन सबकी ओर नहीं था।

आचार्य जी वहाँ से वैसे ही लौट गए तथा पत्नी से कहा–''तुम्हारा पुत्र लेखन में डूबा हुआ है। जब तक वह हमें न बुलाए हम वहाँ न जाएँ। आज कात्यायनी भी वहाँ नहीं थी। कहाँ गई है ?''

''लगता है कि वह तालाब के पास गई हुई है। पता नहीं, कब यहाँ के सारे काम निबटा लेती है। तुरंत कुटी की ओर भागती है। मुझे उससे प्रसन्नता ही होती है। उसे रोकने का मन नहीं करता।''

''न, न, रोकना नहीं। हमारी भी तो इच्छा है कि वह अभी से पति की परिचर्या किया करे। अस्तु, मेरे यहाँ आने का उद्देश्य कुछ और ही था। हाँ, देखना कि हमसे उसे कोई कष्ट न पहुँचे। यदि हम उसके बुजुर्ग उसके यहाँ आते रहेंगे तो उसे अपना काम छोड़कर हमारी अभ्यर्थना करनी पड़ेगी और उसके कार्य में विघ्न पड़ेगा। मैं यही बताने आया था।''

''मैं परसों वहाँ गई थी। उसने कहा–माता, अभी लेखन कार्य शेष है। पूर्ण होने पर उन्हें दिखाना चाहता हूँ। जब वे स्वीकृति देंगे, तभी आगे की बात होगी?'

मैंने पूछा–'आगे की बात का आशय क्या है ?' उसने कहा–'पिता जी की अनुज्ञा होगी तो गुरु जी को दिखाना चाहता हूँ। किंतु यह आशंका है कि कहीं गुरु जी क्रोध न करें और कहें–क्यों अपनी ऐंठ जताने आए हो। यह कहने कि आपका वेद नहीं तो क्या हुआ, यह देखिए, मैं नया वेद लाया हूँ। इसीलिए इस विषय में पिता जी से परामर्श लूँगा।''

''उसका कहना विवेकपूर्ण है। किंतु याज्ञवल्क्य के बारे में वैशंपायन का आचरण ऐसा कभी नहीं होगा। उन्हें भी मालूम है कि याज्ञवल्क्य को नया वेद प्रकट हुआ है। जिन आदित्यदेव ने इसे नए वेद का अनुग्रह किया, उन्हीं ने आचार्य जी से कहा है–आचार्यजी, आपकी कृपा से आज इस जगत् के कल्याण के लिए आवश्यक कार्य पूर्ण हुआ। आपके शिष्य को देवताओं ने मेरे द्वारा नए वेद का अनुग्रह किया है। वह अब उसके लेखन–कार्य में व्यस्त है। उसके पूर्ण होने पर मैं उसे आपके पास भिजवाऊँगा। आप देख लें तथा उस पर अपनी सहमति दें। उसके उपरांत ही भविष्य का कार्याचरण होगा।' यदि आज अवकाश मिलता तो मैं स्वयं याज्ञवल्क्य को इसके बारे में अवगत कराता। अब तुम्हें जब अवसर मिलेगा उससे यह बात कह देना। कुछ भी हो, सभी लोग उसको ब्रह्मर्षि कह रहे हैं। मैं दिन–रात मनौती मान रहा हूँ कि लोगों का यह कथन चरितार्थ हो। अस्तु, अब कहो, यदि कात्यायनी वहाँ जाती है तो स्त्री के वहाँ आने पर वह रुष्ट तो नहीं होगा?''

''ईश्वर की कृपा कहें, ऐसा कुछ नहीं हुआ है। गतवर्ष जब पति ने व्रत रखा था तब कात्यायनी भी अनुशासन में रही। तब से याज्ञवल्क्य को उसपर बड़ा स्नेह हो गया है। किंतु एक बात है, आप दुखी न हों, वह साधारण जनों की तरह गृहस्थी में मन लगानेवाला नहीं। बस, यों ही रस्म निभाता होगा। उसको अपने घर-गृहस्थी जैसी आस्था है ही नहीं।''

''अच्छा सुनो, हमारी अन्य संतान तो नहीं। घर भरा हुआ है। बिना कुछ अर्जित किए भी भोगते रहो तो दस वर्ष तक सुख–पूर्वक जीवन–यापन हो जाएगा। अब मुझसे बढ़कर इसका यश फैल चुका है। इसके न कहने पर भी बलात् इसे ले जाकर यजन–याग करानेवालों का अभाव नहीं होगा। सबसे बढ़कर यह तो नए वेद का अन्वेषक है। उसके भाग्य का दैव उसका साथ नहीं छोड़ेगा। हाँ, जिसको वरा है उसके साथ गृहस्थी में है, बस यही पर्याप्त होगा।''

''वह तो धर्मनिष्ठ है। इस संबंध में भय का कारण नहीं। जैसा आपने कहा, देव उसका साथ देगा ही। किंतु वह आप जैसा नहीं। गृहस्थी के बारे में आप जैसी उसकी आस्था है नहीं। कभी-कभी तो उसके तेज को आँखों से निहारना कठिन हो जाता है। प्रतीत होता है कि प्रज्वलित सूर्य स्वयं धरा पर उतरकर उसमें अवस्थित हो चुका है। आपको ज्ञान है कि तब मेरे मन में कैसे विचार उठते हैं ? मन में शंका उठती है कि कहीं अपने निवसित स्थान को अन्य लोक का रूप न दे दे। किंतु जब उसके पास कात्यायनी को पाती हूँ तो आश्वस्त होती हूँ कि नहीं, यह तो हमारा ही लोक है, अन्य कोई लोक नहीं। कुटिया से बाहर निकलकर देखती हूँ, तो उन्हीं पेड़-पौधों को पाती हूँ। तब वह आश्वासन विश्वास बन जाता है।''

आचार्य ने पत्नी द्वारा दिए गए विवरण को सुना तो प्रसन्न हुए और कहा-''साधु आलंबिनी, तुम कथा-वाचिका बनती जा रही हो। अस्तु, उचित अवसर पाकर वैशंपायन वाली बात उसे सुना देना।''

प्रीतिभोज

आचार्य देवरात के घर पर आज प्रीतिभोज है। ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने आदित्य के अनुग्रह से प्राप्त यजुर्वेद को संपूर्ण किया है। इसी कारण से आज यह वैभवपूर्ण समाराधना आयोजित है। चौबीस दंपतियों की पूजा होगी। अतिथियों में राज-पुरोहित भार्गवजी एवं दोनों कुलपति प्रमुख हैं।

भार्गवजी ने कुलपति के प्रश्नों के उत्तर में कहा-''पूर्व महाराज की मनोकामना थी कि कुरु-पांचालों से भी बड़े विद्वान् हमारे देश में जन्म लें और देश का नाम हो। आज के महाराजा भी विद्वानों को आदर देने में पीछे नहीं हैं। किंतु अभी वे प्रात: के सूर्य की तरह हैं; अभी उनका स्वभाव यही रहा है कि देखा जाए। अन्यथा ऐसे अवसर पर राजमहल से सोपस्कर अवश्य मिला होता।''

आचार्य जी भी वहीं थे। यह सुनकर उन्होंने कहा- ''उसका कारण भी है। आज के महाराजा से एक दिन निमंत्रण आया था। तब याज्ञवल्क्य ने कहा था-'अब मेरे हाथ में जो कार्य है उसे पूर्ण करने तक मैं किसी से नहीं मिलूँगा।' महाराजा अभी युवा हैं तो उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगा होगा।''

यह सुनकर दोनों कुलपति बहुत प्रसन्न हुए। एक ने कहा—''यदि वह प्राप्त हो जाए तो राजानुग्रह अपने-आप प्राप्त होगा।'' दूसरे ने कहा—''हाँ, अभी समय आसन्न नहीं हुआ है। इसीलिए देवताओं ने उनके मुख से ऐसा कहलवाया है।''

भोजन के पूर्व दंपती-पूजा हुई। आदित्य के द्वादश नामों पर दो-दो जोड़े दंपतियों की पूजा हुई। साड़ी, कंचुक, धोती एवं दक्षिणा में दो-दो गायें दी गईं। उसके साथ हल्दी, कुंकुम, फल-फूल थालियों में भरभर कर दिए गए। सभी प्रशंसा कर रहे थे। इस प्रकार का दान आदि केवल राजे-महाराजे द्वारा ही होते देखा है। ब्राह्मण तो लेनेवाले हैं, ऐसे में यदि यों दिया जा रहा है तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है।

भोजनोपरांत तांबूलादि से सत्कार पाकर याज्ञवल्क्य एवं कात्यायनी को आशीर्वाद देकर सब विदा हो गए। कुलपति एवं भार्गव नए वेद को सुनने के लिए बैठे रहे। याज्ञवल्क्य सुनाता रहा। सर्वप्रथम प्रकृतियान-दर्शेष्टि सुनकर सब बहुत हर्षित हुए। उन्होंने प्रशंसा करते हुए कहा—''अब तक प्रचार में जो यजुर्वेद था वह इतना परिष्कृत कभी नहीं रहा था। बिना ब्राह्मणों की सहायता के उसका समन्वय कठिन लगता था। किंतु नया यजुर्वेद ऐसा नहीं है। मंत्रों का विनियोग स्पष्ट है। साधु, साधु। अब तक जो है वह कृष्ण रहा है, यह तो शुक्ल है। आचार्य जी आप यज्ञवल्क्य नाम से जाने जाते हैं तो आपका पुत्र वेदवल्क्य है। प्रकृति तथा विकृति यागों को किसी स्त्री की माँग-रेखा सदृश अलग करके दर्शित करानेवाले वेद को इसने आदित्यदेव की कृपा से प्राप्त कर लिया है।''

याज्ञवल्क्य ने उठकर उन्हें दंडवत् प्रणाम किया और कहा—''सब कुछ आपके अनुग्रह से हुआ है।'' वैशंपायन ने याज्ञवल्क्य की पीठ थपथपाते हुए कहा—''इस प्रकार नवोनव्य वेद की प्राप्ति के लिए जिसका जन्म हुआ था क्या वह मेरा शिष्य रहते हुए यह सब कर पाता! इसीलिए देवताओं ने खेल रचकर हम दोनों को अलग कर दिया। हमारे याज्ञवल्क्य की इस प्रकार की प्राप्ति हमें हितकर है और प्रियकर भी।''

उद्दालक जी बिना कुछ कहे मुस्करा भर रहे थे। वैशंपायन ने कहा—''देखें, समारोप किस प्रकार किया है?'' याज्ञवल्क्य ने पढ़ना प्रारंभ किया—'ईशावास्यमिदं सर्वं।' ये ही अठारह मंत्र थे।

वैशंपायन ने कहा—''इन मंत्रों का विनियोग कौन से 'कर्म' में होगा।'' उन्हें कौन उत्तर दे। याज्ञवल्क्य मौन रहा।

इधर स्त्रियों की मंडली में कुछ हलचल-सी हुई। मैत्रेयी ने मामी के कानों में कुछ कहा। तब उसने कहा-''यह देखिए, हमारी मैत्रेयी कुछ कहना चाहती है।'' उद्दालक ने सबकी अनुज्ञा पाकर कहा-''कहो, क्या कहना चाहती हो?''

दो-तीन बार अनुरोध करने पर वह उठी और सबको हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कहा-''यह नया वेद तो आदित्य की कृपा से उपलब्ध हुआ है। आप याज्ञवल्क्य से प्रश्न करेंगे तो वे क्या उत्तर देंगे। अतएव आदित्य से ही पूछना होगा।''

सभा ने उसके परामर्श को मान लिया। याज्ञवल्क्य ने गुरुजनों की अनुज्ञा पाकर आचमनादि के उपरांत आदित्य की प्रार्थना की। आदित्य ने उसी के मुँह से कहलवाया-''इन मंत्रों के लिए किसी प्रकार का विनियोग नहीं होता। ये उपनिषद् हैं। आप सब वेद को ब्रह्म कहते हैं। प्रकट रूप में ब्रह्म का बोध करानेवाले उपनिषद् का अभाव हो तो वह ब्रह्म कैसे बनेगा? उसी से तो इसका महत्त्व है।''

यह विवरण सबको मान्य लगा। सबने कहा-''यह सर्वथा सही है।'' अब इसके परिणाम-स्वरूप कात्यायनी को मैत्रेयी से बड़ा स्नेह हो गया। इस अवसर पर उसके पति का जो अपमान होनेवाला था, उससे उसको बचा लिया था। तो उसके प्रति आत्मीयता हो गई। वह उसके पास जाकर बैठ गई और कहा-''आज से तुम मेरी दीदी हो।'' मैत्रेयी ने उसके इस स्नेह को ठुकराया भी नहीं।

सब कुछ संपन्न हो जाने के उपरांत वैशंपायन ने कहा-''अस्तु, आचार्य आपने आज गार्गी को निमंत्रण क्यों नहीं दिया। यदि वे यहाँ होतीं तो यह सभा ब्रह्मसभा के समान हो जाती।''

आचार्य ने कहा-''वह अपने गाँव में नहीं है। कुरु पांचाल देश के विदग्ध शाकल्य के दर्शनार्थ गई हुई है।''

उद्दालक ने कहा- ''वे तगड़े विद्वान् तो हैं। किंतु गार्गी सदृश ज्ञानकांड में अभी परिपक्वता नहीं है, तथापि विद्वद्वर्ग में गण्यमान्य माने जाते हैं, प्रथम श्रेणी में गिने जाते हैं।''

वैशंपायन ने हँसते हुए कहा-''इसीलिए तो हमारे पूर्व के महाराजा की इच्छा थी कि इन सबको मात दे पानेवाले विद्वान् हमारे देश में जन्म लें। यदि आपकी प्रशंसा सुनते तो न जाने वे कितने हर्षित होते।''

''क्यों? कुछ समय के लिए अपने को सँभाल लें। वह समय दूर नहीं, जब गार्गी, विदग्ध शाकल्य, इन सबसे याज्ञवल्क्य बड़ा बनेगा। आपका शिष्य उन सब को मात देगा।''

''यदि ऐसा होगा तो हम अपनी पूरी तपस्या समर्पित करने को प्रस्तुत हैं। यद्यपि विदेही विद्या के लिए सब कुछ देने को तत्पर रहते हैं, तथापि विद्यालक्ष्मी ने विदेह को अपना आवास नहीं बनाया है।''

''वह तो होगा ही । कोई संदेह नहीं ।''

आचार्य जी के घर के उत्सव का पूरा ब्यौरा राजमहल में पहुँचा। महाराजा को लगा कि काम बिगड़ गया। अतएव उन्होंने राज पुरोहित को बुलाकर सब कुछ जाना। पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने कहा–''आपके परामर्श के अनुसार मुझे चलना चाहिए था। अब बात हाथ से निकल गई। क्या किया जाए? यदि हम ऐसे विद्वान् का आदर नहीं करेंगे तो हमारे राजवंश के नाम पर अपयश लगेगा ही।''

भार्गव ने सोचकर कहा–''गार्गी जी को आने दीजिए। उसके द्वारा इस मस्त हस्ती को वश में करने का प्रयास करेंगे।''

उपनिषद् की व्याख्या

याज्ञवल्क्य को आदेश हुआ कि 'ब्राह्मण' लिखा जाए। पूर्ववत् वह इस कार्य में समाहित हो गया। कात्यायनी सदा की भाँति पति–सेवा एवं वेद–पुरुष की सेवा दोनों करने लगी। चूँकि वह ब्राह्मण सौ अध्यायों का था उसको *शतपथ ब्राह्मण* कहा गया।

'ब्राह्मण' लिखने लगे तो एक दिन गार्गी जी आईं। वे तो बुडिल जी के शिष्य वाचक्नवी की पुत्री थीं। चूँकि वाचक्नवी की अन्य कोई संतान नहीं थी पिता ने इसको बड़े प्रेम से पाला था। यदि पुत्री का विवाह संपन्न कर उसे पति के घर भेज देते तो घर सूना हो जाता, अतएव पुत्री को पुत्रवत् बड़ा किया था। उसका उपनयन संस्कार कर उसको ब्रह्मविद्या का अध्ययन कराया। स्वयं गार्गी को भी शेष कन्याओं की भाँति विवाहित होकर घर बसा लेने की कामना नहीं रही। पिता की अनुज्ञा पाकर वे ब्रह्मवादिनी बनी रहीं। यद्यपि वे रूपवती थीं, इस पर किसी को आपत्ति नहीं रही।

विद्वानों की मंडली में उनका बड़ा मान था। विदेह के आश्रमों की बात क्या, पास–पड़ोस के कुरु–पांचाल, काशी, मद्र आदि देशों के आश्रमवासी भी उन्हें बड़ा

मान दिया करते थे। उनकी शास्त्रनिष्ठा, प्रवचन विचक्षता एवं गहरे अनुभव का सभी आदर किया करते थे।

जरुत्कार वंश की आरुणि को गार्गी जी पर असीम प्रेम था। उनकी प्रशंसा में वे कहा करते–''तुम तो सरस्वती का अवतार हो।'' जब वे पधारतीं उनके नमस्कार को ग्रहण करने के लिए स्वयं खड़े हो जाते थे। विदग्ध शाकल्य भी उनके प्रति बड़ा आदर प्रकट करते थे। कहा करते थे–''क्या किया जाए! उसकी आत्मा तो पुरुष है। पर ईश्वर ने उसे स्त्री का शरीर देकर उसके साथ अन्याय किया है। स्त्री है, अतएव कर्माधिकार प्राप्त नहीं है, अब कर्म के अभाव में ब्रह्म-विचार कैसे पूर्ण होगा?''

विदेह के राजदरबार में उसे प्रथम श्रेणी की विदुषी होने का मान प्राप्त था। पूर्व महाराजा ने परामर्श दिया था कि उन्हें अभिनव सरस्वती की उपाधि से सम्मानित किया जाए। यह सुनकर वे हँस पड़ीं और कहा–''हम तो अद्वैती हैं। ज्ञान की दृष्टि में आत्मा एवं आत्मा में कोई अंतर नहीं होता। इसलिए यदि हमने उपाधि ग्रहण की तो उसी दिन अपनी अद्वैत मान्यता को तिल तर्पण देने सदृश होगा।'' यों उन्होंने सविनय मना कर दिया था। इससे उनका गौरव और बढ़ गया था।

गार्गी जी याज्ञवल्क्य से मिलने आईं। चूँकि उस समय देवरात घर पर उपस्थित नहीं थे, आलंबिनी ने ही उनका स्वागत किया और पुत्र के पास ले आईं। गार्गी का आना याज्ञवल्क्य के लिए प्रसन्नता की बात थी। अपने लेखन कार्य को पलभर के लिए स्थगित कर उसने उनकी ओर ध्यान दिया- उसने निवेदन किया–''कृपया अर्घ्य पाद्यादि स्वीकार करें।''

गार्गी जी ने हँसते हुए कहा–''हम तो स्त्री हैं। हमें तो मधुपर्क का अधिकार नहीं है।''

''यह सच है कि स्त्री-जन को मधुपर्क का अधिकार नहीं। किंतु आप तो ब्रह्मवादिनी हैं। आपकी देह में अग्नि निवसित हैं ही। अतएव अग्नि के तृप्त्यार्थ हमारे द्वारा समर्पित अर्घ्यपाद्यादि का निराकरण करना कहाँ का न्याय है?''

''आपने हमें धर्म-शृंखला में बाँध दिया है। अग्नितृप्तयार्थ आप जो कुछ समर्पित कर रहे हैं उसे अस्वीकार करने का अधिकार हमें प्राप्त नहीं। अतएव मुझे ग्रहण करना होगा। तथास्तु।''

कात्यायनी ने गार्गी को अर्घ्यपाद्य, आचमनीय एवं अल्पाहार समर्पित किए। उन्होंने वह सब ग्रहण किया तथा समाहित हो बैठ गईं। उन्होंने कहा–''याज्ञवल्क्य,

आपके द्वारा नए वेद का ग्रहण करना हमें विदित हुआ है। यह भी ज्ञात हुआ कि उसके साथ उपनिषद् भी है। इसीलिए आई हूँ। लौकिक रूप से एक और दायित्व हमें वहन करना पड़ा था। किंतु मैंने वह टाल दिया।''

''क्या मैं पूछ सकता हूँ कि वह लौकिक दायित्व क्या था ?''

''क्यों नहीं! राज-परिवार आपको उनके यहाँ ले जाने के लिए मुझे दर्वी की भाँति उपयोग में लाने के इच्छुक थे। मैंने उनसे निवेदन किया-'महाराजा तो इस संसार में महान हैं। किंतु जो यह विश्वास करते हैं कि इस संसार से बड़ा भी कुछ है, उन्हें यदि स्वयं महाराजा जाकर मिलेंगे तो जन-साधारण में ब्रह्म-विद्या के प्रति आदर बढ़ेगा। यदि इसके विपरीत उनको आपके यहाँ आना पड़ेगा तो उनका आपसे भिक्षावृत्ति का आचरण होगा। ब्रह्मज्ञानी को भिक्षुक के स्तर पर ला खड़ा करना अनुचित होगा।' प्रतीत होता है कि महाराजा ने हमारी बात का मान रखा है, प्रायः वे यहीं पर आपसे मिलेंगे।''

अब थोड़े काल तक संवाद सर्वत्र भटककर उपनिषद् पर आ रुका। 'ईशावास्य मिदं सर्व यत्किंच जगत्याम् जगत्' यह तो मंत्र का प्रथमार्ध है । गार्गीजी ने इस पर बड़ी प्रशंसा व्यक्त की। उसका पाठ कई बार करती रहीं। उसके उपरांत उन्होंने प्रश्न उठाया-''तो याज्ञवल्क्य श्री, आपकी उपनिषद् में 'ईशावास्यमिदं सर्व'- यही निष्ठा है क्या ?''

''नहीं, निष्ठा दोनों मंत्रों में समाहित है।''

''तो आप ही इसकी व्याख्या कर दें।''

''इस संसार के समस्त जीवों में ईश्वर है। उसको छोड़कर कोई कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव सभी को चाहिए कि उसी से माँगें। कभी यह न सोचें कि उसके सिवाय भी अन्य किसी से पाया जा सकता है?''

''क्या इसमें इतना सारा अर्थगर्भित है ?''

''यह तो मंत्र है। इसका स्वरूप अलौकिक भाषा में है। अतएव उसकी व्याख्या इसी प्रकार से की जाती है।''

''अस्तु, अब दूसरे मंत्र को लें।''

''वह भी वैसा ही है। जब अलौकिक भाषा से लौकिक भाषा में परिवर्तित करते हैं तब हमारा ध्यान अर्थ की ओर ही होना चाहिए। अतएव उसकी भी उसी भाँति व्याख्या करता हूँ। जब हम स्वीकारते हैं कि सबमें ईश्वर का आवास है तब

शास्त्र-सम्मत कर्मों के आचरण को ही यज्ञ के अनुरूप बनाते हुए आयु पूरा होने तक जीवित रहना चाहिए। बीच में यह रोना-धोना नहीं चाहिए कि बहुत जी लिया, अब मृत्यु क्यों नहीं आती ? क्योंकि जब सबमें ईश्वर का आवास है, तब शोक क्यों? मोह क्यों ? यही एकमात्र पथ है, अन्यथा कुछ नहीं। यदि हम इस प्रकार जीवन-यापन किया करेंगे अर्थात् सकल कर्माचरण को यज्ञवत् करते रहेंगे तो कर्मलोप होने की संभावना ही नहीं होगी। इसके अतिरिक्त जब कर्म को यज्ञवत् मान लेते हैं तब वह जगत् भंडार को हमारी देन होगी, तो उसमें लोप कहाँ ?''

''हाँ, यदि कर्माचरण करते जीवन व्यतीत करना ही आपका मंतव्य है तो उनका क्या होगा जिनको कर्म का अधिकार प्राप्त नहीं ?''

''देवीजी, ऐसा उतावलापन क्यों ? जब यह मान लेते हैं कि समस्त जीवों में ईश्वर का आवास है तब उसका आवास स्त्रियों में क्यों नहीं होता? अतएव जिनको कर्माधिकार नहीं है, उनके लिए भी श्रुति ने एक मार्ग निश्चित किया है।''

''वह क्या है, बताइए । सुनें तो सही !''

''जिनको कर्माधिकार नहीं, वे यज्ञ-संबंधी मंत्रों का पाठ कर लें। किंतु जिनके लिए कर्माधिकार निर्धारित है उन्हें कर्माचरण करना चाहिए। उससे मुकरा नहीं जाता।''

''हम जो स्त्री कहलाती हैं, यदि हम अश्वमेध के बारे में पाठ कर लें तो हमें अश्वमेध का फल प्राप्त हो जाएगा ?''

''क्यों नहीं ? अवश्य प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त मैं तो कहूँ कि अश्वमेध-सा अन्य कोई कर्म नहीं। यदि आपको मेरी बातों में विश्वास न हो तो एक बार अध्ययन करके देख लें।''

''यह तो उचित प्रतिवाद है। जब आदेश हो गया कि करके देख लो तो उसके विरुद्ध कहने के लिए क्या रह गया ? अस्तु, मैं करूँगी। कब से प्रारंभ करूँ? यही पूछना शेष है।''

''हाँ, यह तो ठीक हुआ, जैसे मैंने कहा वैसा करके देखिए। यदि हमारे द्वारा बताए गए फल की प्राप्ति होगी तो हमारे मत को मान्य कीजिए।''

''ठीक है।''

''हाँ, अब एक महायज्ञ से संबंधित बात उठी थी न ? आप पूछ रही थीं, उसका क्या फल होगा ? जो अश्वमेधादि याग संपन्न करते हैं, उनका शरीर एवं

अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। जिनका शरीर एवं अंतःकरण शुद्ध होता है, उनको वेद में कर्मकांड में उल्लिखित समस्त देवताओं की अवस्थिति की अनुभूति होगी।''

''तो कहिए, कब से प्रारंभ करूँ ?''

''मैं आपका गुरु नहीं हूँ। आप अपने गुरु जी के साथ परामर्श कर उनसे इस संबंध में आदेश ले लें।''

जब यह संवाद समाप्ति पर था, तभी आलंबिनी वहाँ आई।

उसके चेहरे की घबराहट को देखकर पुत्र ने पूछा—''क्यों ? क्या हुआ माँ?''

आलंबिनी ने कहा—''समाचार आया है कि वैशंपायन जी का स्वास्थ्य बिगड़ चुका है। दो दिनों से उन्हें ज्वर था, आज वह और तेज हो चुका है।''

''यह समाचार कौन लाया ?''

''नौकर आया था, वे तो गाड़ी जुतवाकर चल पड़े। तुम्हें बताने के लिए कह गए। उन्होंने कहा कि आगे क्या करना होगा, यह तुम्हें मालूम है।''

याज्ञवल्क्य यह समाचार सुनकर हतप्राण हुआ। उसकी बाईं आँख फड़की, जो सूचना दे रही थी कि वैशंपायन के आश्रम में सब कुछ ठीक नहीं। वहाँ जाने का निश्चय किया।

''गार्गी जी क्षमा करें। वे तो मेरे गुरुतुल्य हैं। यदि उनके अंतिम क्षणों में मैं वहाँ उपस्थित न रहूँ तो मैं पाप का भागी बनूँगा। अब ब्राह्मणवाला यह कार्य कुछ समय के लिए अवरुद्ध होगा। हाँ, जो होता है वह किसी और की इच्छा से होता है। अतएव हम सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़कर अपना दायित्व श्रद्धा सहित निभाएँगे। यदि आप अनुज्ञा दें तो मैं चला जाऊँ ?'' यों कहकर उसने हाथ जोड़े।

गार्गीजी भी याज्ञवल्क्य के साथ उठ खड़ी हो गईं। उन्होंने कहा– ''वैशंपायन जी हमारे समय के विद्वान् वरेण्यों में से एक हैं। यदि वे आपके गुरुस्थान में न भी होते तो उनके अंतिम क्षणों में उनका दर्शन करना आप जैसे विद्वान् का कर्तव्य बन जाता है। इस पर वह तो आपका गुरुस्थान भी है। मैं फिर कभी आपके दर्शन कर लूँगी। आपकी उपनिषद् एवं उससे बढ़कर आपकी व्याख्या बहुत ही महत्त्व की है। मुझे भी आश्रम पहुँचना होगा। परंतु अब घर जाकर देखती हूँ,'' यों कहकर वे विदा हुईं।

आलंबिनी ने पूछा–''क्या गाड़ी की व्यवस्था करूँ ?''

''हाँ, किंतु जब किसी बुजुर्ग की अस्वस्थता का समाचार आता है, तब तत्क्षण चलना होता है। मैं निकल रहा हूँ। पीछे से गाड़ी भेजना। आप और कात्यायनी घर में रहकर अग्नि की परिचर्या किया करें। यदि मैं और पिताजी दोनों के लौटने में विलंब हुआ, कल भी स्नान के समय न पहुँच पाएँ तो प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं।'' उत्तरीय के साथ एक और वस्त्र साथ लेकर वह चल पड़ा।

याज्ञवल्क्य के आश्रम पहुँचने तक वहाँ से रोने-धोने की आवाज़ सुनाई पड़ी। कोई सांत्वना दे रहा था—''न, आप अपने को सँभालिए। आपका रोना वे सुन न पाएँ।''

वैशंपायन का ज्वर तीव्रतम हो गया था। वे अर्धज्ञानावस्था में थे। उनके बचने की आशा लुप्त होती जा रही थी। इस स्थिति की अनुभूति सभी को हो चुकी थी। अबतक उनकी सेवा में रत कादंबिनी को मालूम हो चुका था कि उनकी दशा अब सुधरेगी नहीं। वह उठी, उनकी पादाभिवंदना की तथा वहाँ से हट गई। अगले कुछ क्षणों के बाद पासवाले कक्ष में कुछ लुढ़कने की-सी आहट हुई। किसी ने जाकर देखा तो कादंबिनी के प्राण पखेरू उड़ गए थे। पद्मासन में उसकी देह लुढ़क गई थी।

याज्ञवल्क्य को आया देखकर सबने उसके लिए रास्ता बनाया। वह जाकर गुरुजी के पास बैठ गया। जो ज्वर उन्हें अब तक बहुत ताप पहुँचा रहा था, वह प्रायः इसको देखकर भयभीत हो गया तथा पलभर में मानो चंपत हो गया। इसकी पहचान के रूप में देह भर से पसीना छूटा। अब वे उठ बैठे। शुद्ध आचमन किया।

उन्होंने देखा कि पत्नी वहाँ नहीं है, तो पास बैठे लोगों से पूछा– ''वह कहाँ है ?'' अब लाचार होकर यथार्थ बात कहनी पड़ी। वैशंपायन ने निश्चिंत होकर सिर हिलाया और कहा–''अब मेरा पथ प्रशस्त हो गया।'' अब उन्होंने एक वृद्ध शिष्य को बुलाया और कहा–''अब आश्रम आप लोगों का है। आप जिसे चाहे चुन लीजिए तथा उसके याजमान्य में रहिए।''

याज्ञवल्क्य की ओर उन्मुख होकर कहा–''याज्ञवल्क्य अच्छा हुआ कि तुम आ गए। मुझे अब अनुज्ञा दो। तुम तो दैवानुग्रह-संपन्न हो। अब मुझे रोकना नहीं। हम जैसों के लिए जीवन और मृत्यु एक समान है। यह लो। पितृगण उपस्थित होकर मुझे बुला रहे हैं। अब जाने दो। शंसर्वेभ्यः।''

उन्होंने आँखें बंद कर लीं। अब पलभर बाद शरीर ठंडा पड़ गया।

धर्म संकट टल गया

शतपथ ब्राह्मण पूर्ण हो गया। अंतिम अध्याय जिस प्रकार संहिता में है वैसे ही उपनिषद् बने, इतने में दैव का आदेश हुआ कि यहीं पर समाप्त कर दिया जाए। याज्ञवल्क्य ने वहीं रोक लिया। कृतकृत्य भाव से उसे संतोष हो गया। किंतु उसके मन में इच्छा थी कि उसे किसी बुजुर्ग को दिखाएँ तथा ब्राह्मण की परिसमाप्ति पर एक मंगलाचरण आयोजित किया जाए।

एक दिन अवसर पाकर पुत्र ने पिता के सम्मुख अपनी इच्छा प्रकट कर दी। आचार्य ने कहा–''मुझे दिखा सकते हो। किंतु मैं तो प्राचीन वेद–ब्राह्मणों का पक्षधर हूँ। अतएव संभव है कि प्रारंभ से अंत तक मुझे उसमें दोष ही दोष दृग्गोचर हो। अतएव तुम उद्दालक जी को दिखा देना। वे तो वेद एवं ब्राह्मणों का समन्वय कर देख पाएँगे। इसके अतिरिक्त लोकाचार की बात भी तो है। कल को लोग तुम पर यह अपयश मढ़ेंगे कि पुत्र ने लिखा और पिता ने उसपर स्वीकृति की मुहर लगा दी। याज्ञवल्क्य संसार की सदा से रीति रही है कि वह अन्यों पर दोष तो मढ़ेगा; कभी किसी की महानता को देख नहीं पाता। अतएव मेरा परामर्श मानो–तुम अपने समस्त ग्रंथ उन्हें दिखा दो।''

पुत्र को लगा कि पिता ठीक ही तो कह रहे हैं। उसने पिताजी से अनुज्ञा माँगते हुए कहा–''मुझे भी वहाँ जाने की ललक है। तो कब जाया जाए?''

''कल पूर्वाह्न को महाराजा पधारेंगे। यदि वे आ भी जाएँ तो कितनी देर रहेंगे? तो तुम मध्याह्न भोजनानंतर निकल पड़ो। जाते समय अपने संग अग्नि भी ले जाना। जब वेद ब्राह्मण पारायण हो रहा होता है तब बिना अग्निहोत्र के क्यों रहा जाए।''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''तो तैयारी के लिए कह आऊँ।'' यों कहकर वह भीतर चला गया।

वह भीतर गया तो इधर भार्गव जी 'आचार्य' पुकारते हुए पहुँचे।

कुशल प्रश्नों के बाद भार्गव ने कहा–''आचार्य, तुमने मेरे आने का कारण नहीं जाना। कल महाराजा यहाँ पधारनेवाले थे। पर किसी राजकारण के लिए उन्हें नगर से बाहर जाना पड़ा, इसलिए वे चले गए हैं। मुझे आदेश हुआ कि मैं उनकी ओर से आपसे मिलूँ तथा आपको इस बारे में समझाऊँ।''

''मैं तो आपका ही हूँ। अतएव मुझे क्या समझाना? और याज्ञवल्क्य तो आपका चिरंजीव है। आप न भी समझाएँ तो कोई बात नहीं।''

''आचार्य, वह तो आपका पुत्र है। इसीलिए आपको उसके प्रति आदर नहीं। किंतु जानते हैं क्या कि बाहरवालों का उसके प्रति कितना आदर है? वे सब उसे महान मानते हैं। वह जो है न, वाचक्नवी की पुत्री, वह तो सभी में मीन-मेख निकालती रहती है। किंतु जानते हैं कि आपके पुत्र के प्रति उसके मन में कितना बड़ा आदरभाव है ? महाराजा तो एक वर्ष से आपके पुत्र के दर्शनार्थ आने को आतुर हैं। जानते हैं कि कल वे नहीं आ पाए, उस पर वे कितने व्यथित हैं ? मुझे एक मुहूर्त तक समझाते रहे। कहते रहे कि उन्हें आप इस भाँति समझाएँ कि वे किसी भी प्रकार से रुष्ट न हों। हाँ, इसमें उनकी कोई महनीयता नहीं। अरे भाई इस युग में एकवेद, एक ब्राह्मण एवं एक उपनिषद का सर्जन करे-ऐसा और कोई है? तुम लाख समझाओ, किंतु मुझे बुडिल जी का वह कथन आज भी स्मरण हो आता है।'' आचार्य पुत्र के यश के बारे में सुनकर दंग रह गए। ''राजाश्रय से प्रबल बना भार्गव विद्वानों की अवहेलना किया करता था। वही तुम्हारे पुत्र की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा है तो क्या कहना !''

उस संतोष की स्थिति में भी आचार्य का अहं आहत हुआ-उन्होंने कहा-''आचार्य यह न भूलें कि मैंने अतिपिता एवं अतिपितामह को पाने की कामना से तपस्या की थी।''

भार्गव ज़ोर से हँस पड़े-''अरे भाई, तुम्हारे पुत्र के संहितोपनिषत् (ईशावास्य का यह भी अभिधान है।) की सारा संसार प्रशंसा कर रहा है। तुमने कभी उसे देखा है ? तुम पूछोगे कि आपने देखा है क्या ? हाँ, क्या करूँ, राजाधिष्ठान के कई दायित्व निभाने पड़ते हैं तो यह कार्य रह गया है। पर आप अपना बताइए न?''

''आप क्या कहना चाहते हैं? पुत्र के पास बैठकर शांतिपाठ किया करूँ? मैंने बहुत बार उस दिशा में भी विचार किया है। हाँ, मैं आपसे सच कहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि पिता रूपी अहंकार को छोड़कर उससे सुनूँ। पर कुछ समय बीतने दीजिए। उसको भी एक आश्रम बनाने दें। तब वह शिष्य संपदा से वर्धित बनेगा। जब वह अपने शिष्यों को अध्ययन कराएगा तब हम पति-पत्नी भी बैठकर सुन लेंगे।''

''जानते हो कि मुझे कितना बड़ा कौतूहल है ? जब से मैंने सुना कि याज्ञवल्क्य की उपस्थिति से वैशंपायन जी को कितना बड़ा उपकार हुआ तब से मेरे

मन में इच्छा घर कर चुकी है कि मैं सब कुछ छोड़–छाड़कर उसका शिष्य बन जाऊँ। किंतु मुझे समय ही नहीं मिलता। हाँ, जब तुम दंपती उसे सुनने के लिए प्रस्तुत होगे तब मुझे भी अपने संग लेना न भूलना। हमारे आए इतना समय व्यतीत हुआ, किंतु याज्ञवल्क्य आया ही नहीं। लगता है, आँखें बंद किए ध्यान में तत्पर है।''

''वह भी संभव है। ठहरिए, कात्यायनी से पूछ लूँ।''

आचार्यजी ने कात्यायनी को आवाज़ दी। स्वयं याज्ञवल्क्य यह कहते हुए आ गया–''क्यों पिताजी, वह तो पोखर में कपड़े धो रही होगी।''

भार्गव ने उसका स्वागत करते हुए कहा–''आओ न, हम तो तुम्हीं से मिलना चाहते हैं। कात्यायनी द्वारा तुम्हें यहाँ बुलाने के लिए उसे आवाज़ दी।''

याज्ञवल्क्य बड़े विनय के साथ भीतर प्रविष्ट हुआ। भार्गव की सूचना पाकर उन्होंने राजागमन टल जाने की बात कही। याज्ञवल्क्य ने निश्चिंतता की साँस ली और कहा–चलो, अच्छा हुआ। यदि वे आते और कहते कि 'ब्राह्मण' दिखा दो तो मुझे बड़ी दुविधा होती। उन्हें दिखाना ही पड़ता था। तब मेरा संकल्प व्यर्थ ही जाता कि किसी बुजुर्ग को दिखाने के बाद ही उसको प्रकट में लाया जाए।

''तो न आना ही कुशल हो गया?''

''भार्गवजी, क्या कहूँ ! यह संसार तो ईश्वर का है। जब उसकी ओर से देवता इस पर राज्य किया करते हैं तब जो कुछ होता है भले के लिए ही होता है; है न ?''

''तो तुम्हें किसी प्रकार का अमर्षणा तो नहीं ?''

''क्यों ? आप इतना ज़ोर देकर क्यों पूछ रहे हैं ?''

''तुम्हारा यश देश भर में व्याप चुका है। उसकी प्रतिच्छवि राजमहल में भी छा गई है। अब महाराजा की दृष्टि में तुम मेरुपर्वत सदृश महान हो। इसीलिए मुझे आदेश हुआ कि मैं तुम्हें समझा दूँ ताकि तुम्हें किसी प्रकार की अप्रसन्नता न हो। इसीलिए इतना कुछ कह रहा हूँ। ''

याज्ञवल्क्य ने कहा–''ऐसा है ?'' फिर वह हँस पड़ा ? फिर कहा–

''अब मेरी बात भी सुन लें। जब वे युवराज थे तब मैंने उनके साथ रुक्ष आचरण किया था। मैंने प्रतिवाद करते हुए कहा था कि 'आप मुझे अग्नि–रहस्य क्या समझाएँगे ? मैं आपसे सुनूँगा ! जब मैं स्वयं यज्ञेश्वर से जान सकता हूँ तब अन्यों से क्यों सीखूँ ?' यों कहकर चला आया था। इसीलिए सोच लिया था कि

उन्हें मुझ पर क्रोध है। जब उन्होंने समाचार भेजा कि मैं मिलने के लिए आ रहा हूँ तब मेरे मन में शंका उठी कि कहीं वे इस प्रसंग का उल्लेख तो नहीं करेंगे। चलो। अब वह शंका भी नहीं रही। दुविधा भी टली। यदि वे पुन: आना चाहें तो हमारी भेंट गुरुकुल में हो। आप कृपया ऐसा प्रबंध कर दें।''

''तो गुरुकुल का शुभारंभ कब मनाओगे?''

''हाँ, हाँ, आप तो मेरा परिहास कर रहे हैं। अब मैं पिताजी के कृपाश्रय में हूँ। ऐसे में निश्चित रूप से कैसे कहूँ कि गुरुकुल का प्रारंभ कब होगा?''

''तुम्हें क्या ? तुमने तो देवताओं का अनुग्रह अर्जित किया है। तुम्हारे संकल्प-मात्र से सब हो जाए। धन अपने-आप प्राप्त होगा। हम लोग जैसा एड़ी-चोटी का परिश्रम करना नहीं पड़ेगा।''

''आपके आशीर्वाद से वही हो। मेरे मन में भी गुरुकुल प्रारंभ करने का संकल्प बार-बार उठ रहा है। कई शिष्यों को इस नवीन ब्राह्मणोपनिषद् का पाठ कराना चाहता हूँ। यह सोचकर अपने को संयत कर लेता हूँ कि जिन्होंने मुझे ऐसा सब दिया है, क्या उन्हें इसके विनियोग की चिंता नहीं होगी!''

''अच्छा, कल की तुम्हारी यात्रा शुभदायक हो। अब मुझे अनुज्ञा देना, राजदर्शन टल गया, इससे अमर्षण तो नहीं हो रहा न?''

''वह टला कहाँ ? अब निरे याज्ञवल्क्य को देखने के स्थान पर कुलपति याज्ञवल्क्य से मिलेंगे ? यही न ?''

उसके गंभीर किंतु स्थिर विश्वास को देखकर उन दोनों को भी प्रसन्नता हुई। उदात्त होने पर भी उसके विनयपूर्ण आचरण पर दोनों ने प्रशंसा जताई। एक ने तो मन में ही 'तथास्तु' कहा। दूसरे ने प्रकट में सघोष 'तथास्तु, तथास्तु।' शब्द का दो बार उच्चारण किया तथा विदा हुए।

इधर उद्दालक जी के आश्रम में आलापिनी देवी को अतिसार के लक्षण दिखाई देने लगे। वैद्यों ने कहा कि इसे गरिष्ठ आहार न दिया जाए, केवल द्रवाहार दिया जाए। उसे एक बड़े कक्ष में लिटाया गया था। मैत्रेयी उसकी सेवा में तत्पर थी। उद्दालक जी बार-बार वहाँ आकर उसके स्वास्थ्य के बारे में पूछ लेते थे। यद्यपि रोग पल-पल बढ़ता ही जा रहा था तथापि आलापिनी देवी निःशंक थी। वह किसी की प्रतीक्षा में बार-बार द्वार की ओर दृष्टि फेरती रही। अपने मनोदौर्बल्य पर स्वयं हँसती रही। किसी को न आया देख आँखें बंद कर ली थी।

उद्दालक जी ने उसकी यह दशा दो-तीन बार देखी। उन्होंने प्रश्न किया– ''प्रतीत होता कि तुम्हें किसी की प्रतीक्षा है। किसी को बुलाना चाहती है?''

''कोई बड़ी बात नहीं है। जब देह में स्पृहा है तभी एक बार याज्ञवल्क्य को देखने की इच्छा है। किंतु इसके लिए उसके पास समाचार भेजा जाए, ऐसी बलवती इच्छा भी नहीं।''

''अरे, इसमें क्या है! अभी किसी को भेज देते हैं, कल प्रातः तक आ जाएगा। अस्तु, क्या और कोई इच्छा मन में शेष है?''

''आप हँसेंगे नहीं तो कहूँ।''

''हाँ, हाँ, क्यों हँसूँ, कहो न?''

''मुझे लगता है कि मैत्रेयी मेरे ही कारण अविवाहिता रह गई। मेरे बाद इसका क्या होगा? परंतु अगले क्षण यह विचार भी आया कि उसका भाग्य तो उसके साथ रहेगा। तो इस प्रकार आश्वस्त हो शांतचित्त हो गई हूँ।''

''मेरे बारे में तुम्हें कोई चिंता नहीं?''

''जानती हूँ, मेरे निष्क्रमण के बाद आप आश्रम में नहीं रहेंगे। वानप्रस्थ ग्रहण कर हिमालय की ओर चले जाएँगे।''

''यह आश्रम?''

''हाँ, इसके बारे में निर्णय लेने का अधिकार आपने मुझे भी दिया हुआ है। सोचती हूँ,जो कुछ होना हो, वही होगा। तथापि कुछ अपनी ओर से प्रयास करना भी मानव धर्म होता है न? यदि तब तक याज्ञवल्क्य आ जाए तो आपके स्थान पर उसको नियत किया जा सकता है। वह तो दैवानुग्रह प्राप्त है, विद्वान् है तथा निष्ठावान् भी। सबसे बढ़कर एक वेद, एक उपनिषद् तथा एक ब्राह्मण अर्जित किया है। मैं नहीं जानती कि आपके मन में क्या है?''

''मेरा ही विचार यदि तुम्हारे मुख से उद्धृत हो रहा है तो मैं क्या कहूँ! मेरे वदन से केवल एक बड़ा आश्चर्यात्मक उद्गार 'क्या ' निकल सकता है?''

''क्या आपका संध्या-कर्म संपन्न हो गया?''

''हाँ, सब समाप्त कर तुम्हारे पास बैठने के लिए आया हुआ हूँ। रक्षोघ्न मंत्रों का पाठ करने की इच्छा है।''

''अब मेरे लिए रक्षोघ्न मंत्र क्यों? नहीं,आप पलभर मेरे पास बैठे रहें?''

इतने में कोई भागा-भागा आया। हाँफते हुए कहा—''याज्ञवल्क्य जी पधार रहे हैं।'' आलापिनी ने कहा—''क्या याज्ञवल्क्य आ गया?'' उद्दालक जी ने पूछा—''क्या वह अकेले आया है?''

''नहीं, सपत्नीक आए हैं?''

''अच्छा, मैं उसे भीतर लिवा लाता हूँ।'' यों कहकर उद्दालक जी वहाँ से उठ गए। पल-भर में याज्ञवल्क्य दंपती के संग लौटे।

याज्ञवल्क्य ने सीधे आलापिनी के पास जाकर उसे प्रणाम किया, झुककर आत्मीयता से जाकर उसके पार्श्व में बैठ गया। आलापिनी ने उसे सुस्नेह से कहा-''तुम आ गए। आज नहीं आते तो कल तुम्हें बुलाने के लिए आदमी भेजती।''

कात्यायनी ताड़पत्रों के ग्रंथों को उठाए हुई थी। उसने उन्हें उतार दी नमस्कार किया तथा मैत्रेयी के संग बैठकर उससे पूछा—''क्यों दीदी, कुशल तो है?''

आलापिनी को एक विचार आया। 'यदि योगायोग से उसकी बात सत्य सिद्ध हुई तो ? तब ये दोनों इसी प्रकार स्नेह निभाएँगी तो कितना अच्छा होगा?'

दूसरे ही क्षण मन समाहित हुआ—'ईश्वर के इच्छानुसार ही सब कुछ होगा। उसका भाग्य भी तो है ? हाँ, यह तो है कि इसमें मेरे आशीर्वाद की रक्षा यथेच्छ है।'

याज्ञवल्क्य कुशलप्रश्नों के उपरांत संध्याकर्म संपन्न करने चला। वहाँ से आने तक आलापिनी की दशा बिगड़ चुकी थी। यद्यपि रोग बढ़ गया था, तथापि वह प्रसन्न-चित्त रही। याज्ञवल्क्य दंपती मैत्रेयी के साथ-साथ उसकी परिचर्या में दत्तचित्त हो गए। देवरात दंपती के लिए गाड़ी भेजी गई।

अगले दिन से उद्दालक दंपती की सन्निद्धि में 'ब्राह्मण' का पारायण हुआ। तब तक देवरात दंपती भी आ गए थे।

वे दंपती याज्ञवल्क्य द्वारा किए गए 'ब्राह्मण' एवं उपनिषद् का पारायण सुनकर हर्षित हुए। आलापिनी ने कहा—''संहिता के अंत में जो 'इशावास्यमिदं सर्व' है, उसके साथ ब्राह्मण के अंत में आए अश्व के वर्णन के साथ समन्वय किया जाए तो कैसा रहे?''

उद्दालक ने कहा—''भली-भाँति औंटे दूध में शक्कर एवं शहद का मेल-सा होगा।''

पारायण

उद्दालक जी का आश्रम आज याज्ञवल्क्य जी द्वारा सनाथ हो चुका है। कुलपति ने आदेश तो नहीं दिया कि उन्हें भगवान् संबोधन से समादृत करें, किंतु आश्रमवासी तो उन्हें भगवान् ही कहा करते हैं। आचरण भी अभ्यस्त कुलपति जैसा है। भगवती कात्यायनी वय में वहाँ के शिष्यों से कनिष्ठा हैं।

यों तो वह न वयोवृद्धा हैं, न ज्ञान वृद्धा। अभी षोडशी है, बाल चंद्र-सा विकसित हो रही युवावस्था है। उसकी देह के अंगांग उसकी यौवनावस्था को उद्घोषित कर रहे हैं। किंतु सभी उसमें अपने से कुछ विशेषता देखकर सिर नवाते हैं। इस बात की अवगति किसी को नहीं कि यह तो उसकी पतिनिष्ठा का परिणाम है।

याज्ञवल्क्य दंपती किसी भी प्रकार के उद्वेग के बिना आश्रम के कार्यक्रमों का निर्वाह कर रहे हैं। आश्रम में एक-दो दिन रहने के लिए जो अतिथि आते हैं, वे चाहे बुजुर्ग हों या युवा, यही कहा करते हैं कि इन नए दंपती में उद्दालक दंपती आवाहित हुए होंगे।

समाचार आया है कि विदेह राजा जनक याज्ञवल्क्य से भेंट करने की इच्छा से आश्रम में पधारनेवाले हैं। राजा परिवार सहित आश्रम में सर्वप्रथम पधार रहे हैं—इससे आश्रमवासी प्रसन्न हैं। कुछ तो इतने उत्साहित हैं कि कहने लगे हैं- ''चलो, अब तो हमारा आश्रम तीर्थ बनेगा, तीर्थ। सभी विद्वान् यही समझने लगेंगे कि यदि हम आश्रम में न हो आएँ तो यह हम पर एक कलंक होगा।''

महाराजा के स्वागत के लिए तैयारियाँ हो रही हैं। उनको ठहराने के लिए भव्य आवास की व्यवस्था कर दी गई है। उसके सामने राज-परिवार के लिए अलग-अलग आवास बने हैं। उसके दक्षिण पार्श्व में विद्वानों के लिए आवास, उसके पीछे राजघराने की महिलाओं के लिए अंत:पुर, तथा उसकी रक्षा के लिए नियत सेना के लिए छोटे-छोटे आवास, उससे थोड़ी दूर पर गोशाला, रसोईघर। महाराजा, राज-परिवार की स्त्रियों एवं विद्वानों, आश्रमवासियों तथा कुलपति के बैठने के लिए अनुकूल, ऊँचा, विस्तृत खुला मंच बना हुआ है। यह भी निश्चय किया गया है कि जब वे पधारेंगे तब कौन-कौन उनके स्वागत में आगे रहेंगे, उनमें से पूर्ण कुंभ को कौन उठाएगा, लाजाक्षतों का छिड़काव कौन करेगा, पुष्पवृष्टि कौन

करेंगे। कात्यायनी मैत्रेयी के साथ रहने की इच्छुक थी, अतएव किसी अन्य सुहागिनी को पूर्ण कुंभ उठाने का दायित्व सौंपा गया है ?

महाराजा पधारे। उनकी पालकी के साथ में विद्वानों की पालकियाँ भी थीं। वाहनों में,हाथियों पर राज–परिवार के लोग एवं राज–स्त्रियाँ आईं। उनका स्वागत पूर्ण कुंभ एवं वेद घोषों के साथ हुआ। भगवान्, भगवती एवं मैत्रेयी ने उन्हें उन सबके लिए व्यवस्थित आवासों में ठहराया। देवरात जी के आग्रह पर भार्गव एवं गार्गी जी एक दिन पूर्व ही आ चुकी थीं। यह निश्चय हुआ कि आगामी दिन से ही ब्राह्मणोपनिषद् का पारायण हो। भगवान् ने उस कार्य के लिए एक वृद्ध शिष्य को नियुक्त किया था।

यथासमय वेद पारायण आरंभ हुआ। पूर्वाह्न–अपराह्न दोनों समय में परायण चला। वृद्ध शिष्य व्यासपीठ पर बैठते थे। उसके दक्षिण पार्श्व में कुलपति, आश्रमवासी, आलंबिनी, भगवती के साथ मैत्रेयी एवं आश्रम की स्त्रियाँ बैठा करती थीं। वामपार्श्व में महाराजा, विद्वान्, राज–परिवार वाले एवं राज–स्त्रियाँ बैठा करती थीं। सभा को देखनेवालों को लगता था कि यह तो ब्रह्म–सभा है। उनमें से केवल दो–तीन जनों को छोड़कर शेष सभी प्रथम दिन के सभादर्शन के आनंद से ही अचंभे में आ गए थे। भार्गव जी एवं देवरात जी भगवान् जी के दक्षिण पार्श्व में परिशोभित थे। भार्गवजी तो उपनिषद् को सुन पाने के सुअवसर से भावविभोर हो चुके थे। उनके चेहरे पर लालिमा थी।

वेद पारायण को सुनकर विद्वानों ने प्रशंसा में सिर हिलाया। अब तक प्रचलित वेदों में मंत्र एवं ब्राह्मण में प्रत्येकता नहीं थी। किंतु नए वेद में सब कुछ अलग कर दिया गया था। अतएव वेद पारायण के संपन्न होने पर विद्वत्–सभा ने उस पर अपना अनुमोदन देते हुए महाराजा को परामर्श दिया कि कृष्ण यजुर्वेद शुक्ल यजुर्वेद नाम दिया जाए। यह प्रस्ताव भगवान् के सम्मुख रखकर उनकी स्वीकृति माँगी गई। पर उन्होंने मंतव्य प्रकट किया–''यह तो विवरणात्मक नाम हुआ। किंतु स्मरण रहे कि उसका उद्भव वाजिरूप आदित्य द्वारा हुआ है। अतएव उसका नामकरण वाजिसनेयी संहिता हो।'' महाराजा ने दोनों पर अपनी सम्मति दी। अतएव नूतन वेद शुक्ल यजुर्वेद वाजिसनेयी संहिता युगल नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक चर्चा छिड़ी कि क्या संहितोपनिषद् का पारायण अभी प्रारंभ कर दिया जाए। महाराजा ने गार्गी की ओर देखा। वे निरुपाय हो खड़ी हो गईं। विद्वत्सभा को प्रणाम कर उन्होंने कहा–''यहाँ के आश्रमवासियों के अतिरिक्त मैं ही हूँ जिसने

उस उपनिषद् का अवलोकन किया हुआ है। वहाँ के मंत्रों की संख्या अतिसीमित है। किंतु अर्थ की दृष्टि से अत्यंत विस्तृत है। जिन्होंने प्रश्न, ऐतरेय, केन, तैत्तिरीयादि उपनिषदों को आत्मसात् कर लिया है, उन्हीं की समझ में यह उपनिषद् आती है, अतएव आज इसका पारायण हो, पर दुबारा भी होना चाहिए– यह मेरा मत है।''

निर्णय गार्गी के कथनानुसार ही हुआ। वहाँ उपस्थित विद्वानों ने कहा–''गार्गी ने उचित परामर्श दिया है। उस उपनिषद् का पारायण पुनः हो, यह निर्णय लिया गया।''

ब्राह्मण का पारायण प्रारंभ हुआ। प्रथम सात कांड पूर्ण हो गए तथा अग्नि-रहस्य पर आ गए। तब महाराजा भगवान् की ओर देख हँसे। अग्नि–रहस्य पारायण के उपरांत उन्होंने कहा–''यह एक उदाहरण है कि भगवान् यज्ञेश्वर को पूर्णतः जानते हैं। हम तो औरों के कहने पर यह कहते हुए उछला करते हैं कि हम सब जानते हैं। ऐसे में भगवान् इतना सब कुछ जानते हुए, यहाँ तक सर्वज्ञ होते हुए भी बड़ी सरलता से व्यवहार करते हैं, तो कोई इनके ज्ञान का मूल्यांकन कर सकता है?'' यों उन्होंने भगवान् की भूरि–भूरि प्रशंसा की। पर भगवान् कुछ नहीं बोले।

ब्राह्मण–परायण समाप्त हो चुका। अश्वमेध कांड की उपनिषद् आरंभ हुई। तब भगवान् ने कहा–''यहाँ गार्गी द्वारा पूर्व में पूछे गए प्रश्न का उत्तर आदित्य देव ने दिया है। उनका प्रश्न था कि कर्मब्रह्म समुच्चय ही सिद्धांत कहलाता है तो कर्माधिकार रहितों का क्या होगा ? तो आदित्य देव का स्पष्टीकरण है कि ऐसे व्यक्ति एक यज्ञ से संबंधित मंत्र एवं ब्राह्मण का पारायण किया करेंगे तो उनको फल प्राप्त होगा। और एक बात भी है। उनका आदेश है, इसीलिए कहता हूँ। चातुर्वर्ण्य को मिलाकर ही एक समाज बना है। इसका विभाजन तो गुण–कर्मों से गुण-कर्मों के लिए ही होता है। इस पर उसका ध्यान गया हुआ है। किंतु आज कालवश होकर हर वर्ण प्रत्येक अस्तित्व को अपना चुका है। यह उचित नहीं। अतएव उनकी इच्छा है कि उपनिषद् के उपलक्षण रूप में दो राजन्यों की कहानियाँ जोड़कर इसको पूर्ण कर दिया जाए। अतएव अभी यह अपूर्ण ही है।''

उपनिषद् भाग के लिए विद्वानों के निवेदन पर स्वयं भगवान् ने ही उसकी व्याख्या की। भगवान् की [illegible] कहें, या कहें कि तपस्वी के कथन में विशिष्ट शक्ति का समावेश हुआ था, या मान लें कि वहाँ उपस्थित विद्वानों के हृदय परिपक्व हो चुके थे, कुछ भी कह लें पर भगवान् द्वारा की गई व्याख्या से सबने

उसका अर्थ ग्रहण कर लिया तथा भगवान् की कृतकृत्यता पर सभी हर्षित हुए। पर भार्गव एवं देवरात पुनः उपनिषद् का श्रवण करने के इच्छुक थे।

अगले दिन जनक महाराजा ने भगवान् से विनती की–''भगवान् कभी हमारे राजप्रासाद पर पधार कर हमें अनुगृहीत करें। आप कृपया विस्मरण न करें कि आपने हमें वरदान दिया था कि हम आपसे प्रश्न–काम हो सकते हैं।'' भगवान् ने इसकी प्रतिक्रिया में समयोचित बातें भर कीं।

महाराजा आश्रमवासियों को उदारतापूर्वक यथोचित पुरस्कार वितरित कर भगवान् से विदा लेकर लौटे। उस दिन रात को कात्यायनी सारे गृहकृत्य संपन्न करने के बाद सोने जा रही थी, तभी मैत्रेयी आई।

बड़ी बहन के संग वार्तालाप करती छोटी बहन सदृश कात्यायनी ने सस्नेह पूछा–''क्यों दीदी, क्या बात है ?''

''मैं तुमसे कुछ चर्चा करने आई हूँ। तुम्हें सावधान होकर मेरी बातें सुननी होंगी। सुनोगी न?''

''तुम मुझसे बड़ी हो, अतएव तुम जो कहोगी वह सुनना मेरा धर्म हो जाता है।''

''बहन, तुमने मुझे बड़ा मान दिया हुआ है। तुम मुझे अपने से प्रथम मानती आई हो। किंतु यह उचित नहीं। तुम इस आश्रम की अधिराज्ञी हो। मेरे कारण तुम्हारे अधिकारों का ह्रास नहीं होना है। अतएव जितना शीघ्र हो सके, मैं यहाँ से चली जाऊँगी।''

''इस प्रकार सोचने के लिए कोई कारण तो हो ? जहाँ तक मेरी जानकारी है, मैंने कभी तुम्हारे साथ अविनय का आचरण नहीं किया है।''

''न, यह बात नहीं। मैंने तभी कहा न, तुम्हारे द्वारा तिल भर क्यों, तिलांश भर अविनय नहीं हुआ है। किंतु यहाँ मेरी उपस्थिति में तुम्हारे अधिकारों की सीमारेखा खिंच जाती है। तुम भगवान् की पत्नी हो अर्थात् भगवती। किंतु तुम्हारा आचरण ऐसा है कि मुझे भगवती बनाती हो, और तुम बनती हो मेरी आज्ञाकारी। तुम्हारी इस अधिकार हानि को मैं कैसे सहन कर लूँ ?''

कात्यायनी बैठ गई। मैत्रेयी का हाथ पकड़कर बिठाते हुए सस्नेह कहा–''तुम्हारा तो अजीब मनोवैकल्य है। मैं तो डर गई थी कि मुझसे कहीं कोई अपराध तो नहीं हुआ ? अब तुम्हारी बातें सुनकर मुझे प्रतीत हो रहा है कि तुम

निष्कारण व्यथित हो रही हो। अस्तु, समझ लो कि अब हम तुम्हारा कहना भी मान लेंगे। किंतु बताओ कि क्या करने का विचार है ?''

''मैं अन्यत्र कहीं रह लूँगी।''

''कहाँ? यह तो बताओ।''

''अभी निश्चित नहीं है। मैं सयानी हूँ, अविवाहिता भी। और तो और स्व-अनुशासन में रहती हूँ। यों लोकविलक्षण कन्या कहीं भी रहे, अपयश का अनुसरण तो होगा ही। यदि यहाँ से मायके चली जाऊँ तो वहाँ भी अपयश होगा ही। अतएव मन करता है कि मुझ जैसे रह रही गार्गी के साथ रह लूँ।''

''तो जब वे यहाँ आई थीं, तब उनसे पूछ लिया ?''

''हाँ, पूछा। उन्होंने कहा कि यदि चाहो तो यहीं रह लो। भगवान् हम सबसे बड़े हैं। यदि उनके आश्रय से निकलना चाहती हो अन्यत्र कहीं न जाना, मेरे साथ रह लो।''

''तो, यह कहो कि तुम्हें भगवान् चाहिए कि नहीं ?''

''यह लो। यह व्यंग्य रहने दो। मुझे तो केवल मार्गदर्शक गुरु ही चाहिए।''

''क्या तुम्हें विश्वास है कि भगवान् तुम्हारे ऐसे सद्गुरु बनेंगे?''

''हाँ, मुझे अचल विश्वास है। यही नहीं, ऐसे गुरु को पाना हो तो भाग्य में लिखा होना चाहिए। किंतु जो संसार वयोधर्म को ही देखता है, वह तो कुछ और ही लांछन लगाएगा।''

''दीदी, जो संसार से विरक्त हैं, उन्हें संसार के अपशब्द एवं निंदा की चिंता क्यों?''

मैत्रेयी को अपने दोष का अहसास हुआ। तथापि उसने कहा—''अपयश या कलंक किसी एक पर नहीं लगेगा। जो दो वस्तुएँ असंगत होती हैं, उनको जोड़कर ही निंदा थोपी जाती है। इस पर क्या कहती हो ?''

भगवती बाघ के समान उस पर पिल पड़ी—''दीदी, मैंने नहीं सोचा था कि तुम इतनी नरम हो। अब मेरी बात सुनो। घुमा-फिराकर हज़ार बातें नहीं करूँगी। दो टूक बात कहती हूँ। सुनो, तुम यहीं भगवान् के आश्रय में रहो। उन्हें भी वेदांत के विचारों को सुनने तथा उसमें सहभागी होनेवाली की आवश्यकता है। मेरे भाग्य में वह तो नहीं लिखा है। अतएव यह न्यूनता तुम पूर्ण करो। अपयश की बात करती हो। ऐसा करो कि तुम उनकी सहधर्मिणी बनो। तब अपयश नहीं होगा। न जाने तुम क्या कहोगी ? तुम वय में तथा ज्ञान में मुझसे बड़ी हो। मेरी बड़ी बहन हो। मैं

तुम्हारी अनुजा हूँ। दोनों उन महापुरुष की सेवा कर कृतकृत्य बनेंगी। हम सौतें नहीं, बहनें हैं–समझ गईं।''

अनिरीक्षित रूप से आई ऐसी उदारता को देखकर मैत्रेयी मूक हो गई। कात्यायनी ने अपनी बात आगे की–''हाँ, भगवान् को इस पर राजी करने का एक रहस्य भी है। सुनो, वे अग्निहोत्रोपरांत थोड़े समय तक उपविष्ट रहेंगे। तब उनके निकट जाकर नमस्कार करना। रक्षा एवं पर्यदर्शन दोनों को वरदान के रूप में माँग लेना। वे तब न नहीं कहेंगे, वरदान देंगे। तब तुम्हारी समस्त शंकाएँ एवं संदेह दूर होंगे।''

मैत्रेयी ने कुछ नहीं कहा। कात्यायनी को कंठ लगाया। दोनों की आँखें भीगी थीं।

अग्रजा–अनुजा

धूप का तेज घट चुका था, अब उसका स्पर्श हितकर लग रहा था। भगवान् आदित्यदेव अपनी किरणों का उपसंहरण कर रहे थे। संध्या का समय आसन्न था। भगवान् चबूतरे पर उपविष्ट थे। आँखें अंतर्मुखी होकर पंचभूत–संघात–जगत् के चित्त का संवीक्षण ले रही थीं। आश्रमवासी यत्र–तत्र उपविष्ट हो चिंतन–मनन आदि व्यापारों में निष्ठ थे। भगवान् उन सबके द्वारा अपने–अपने कार्यों को संपन्न करानेवाले मातरिश्वा की भाँति मौन मुद्रा धारण कर बैठे हुए थे।

एक आश्रमवासी आया। उसके पदचापों को सुनकर भगवान् ने आँखें खोलीं और पूछा– ''क्या है ?'' आए व्यक्ति ने भय–विनय सहित निवेदन किया कि एक राजदूत आया हुआ है । वे उठे, अतिथिशाला में राजदूत से मिले। राजदूत ने राजा का आदेश उनके हाथ में थमा दिया। उसमें लिखा था–''भगवान् कृपया राजप्रासाद में पधारें तथा अपने पदरज से उसको पवित्र बनाएँ। आपके लिए अनुकूल दिन के बारे में अवगत करा दें तो यथोचित व्यवस्था होगी।'' भगवान् ने उसे पढ़ा तो कह दिया–''महाराजा से निवेदन किया जाए कि उनका आदेश आदित्य देव के सम्मुख रखकर उनके निर्देशानुसार उत्तर भेजा जाएगा।'' आश्रमवासियों को आदेश दिया कि राजदूत का यथोचित सत्कार हो।

उन्हें अनुभूति हो रही थी कि आज कुछ अनहोनी घटेगी। किंतु उस ओर ध्यान देकर उसे जानने का कौतूहल न था। उन्होंने विचार कर लिया कि राजगृह का आगमन ही कुछ विशेष घटना थी। स्नान के लिए अभी समय नहीं हुआ था। अतएव पुनः चबूतरे पर नेत्र बंद किए बैठे रहे। भगवान् की उपस्थिति के कारण पक्षी क्या, छिपकलियाँ भी मौन साधे रहीं।

वे उसी अवस्था में थोड़े समय तक उपविष्ट रहे। अंतरंग में चित्तरूपी अंबुधि तरंग-रहित थी। उसी तरह बाहर भी सारा वातावरण प्रशांत था। सहसा उनके नेत्र खुले। सामने भगवती जी थीं।

भगवान् ने पूछा–''कितनी देर से यहाँ हो?''

''अभी आई। संध्या के स्नान का समय है। आप आए नहीं, अतएव देखने के लिए आ गई।''

''देखो ना, हमें तो स्नान के समय का भी स्मरण कराना पड़ता है। ऐसे पागल के गले पड़ा है यह आश्रम।''

''क्यों नहीं ? दादा जी कहा करते थे–यह आश्रम ही नहीं, सारा संसार आपके गले पड़े तो पड़े।''

''तब तो अपने को बड़ा झोला थामना होगा।''

''आपको उसकी चिंता क्यों? निभानेवाले दूसरे लोग हैं, निभा लेंगे।''

''हाँ, तुम बातें बनाने में चतुर होती जा रही हो। चलो, स्नान कर लूँ। विलंब हो जाएगा। आज घर पर ही स्नान करने को मन कर रहा है।''

''गंगा मैया घर पर ही पधारी हैं। सब तैयार है । चलिए।''

भगवान् ने घर में ही स्नान किया। भगवती ने उनके स्नान के लिए व्यवस्था कर दी, संध्या के लिए सारा सामान सजाकर स्वयं अग्निगृह में गई। भगवान् ने संध्या की तथा अग्निहोत्र संपन्न किया।

अब बैठक में दीप प्रज्वलित कर दिया गया था। आकाश में नक्षत्र दीख रहे थे। दृष्टि मंद पड़ती जा रही थी। अभी चंद्रोदय नहीं हुआ था। भगवान् बैठक में आए, बिछे हुए आसन पर दीवार से सटकर बैठ गए। वे आज आग्नेय-मंत्र पाठ कर रहे थे। मन उसके अर्थ को परिभाषित कर रहा था। 'युयोध्य स्मज्जु हुराणमेनः।' 'हमारे कुटिल पापों का नाश करने के लिए'– इस अर्थ के तीसरे चरण पर पलभर रुके–अर्थात् हमें कुपथ की ओर ले जानेवाला एक पाप भी होता है। तो वह पाप कौन-सा है ? हमारी अपूर्णता ! अपूर्णता ही शक्तिहीनता होती है। इसी से हम भटक जाते हैं। इन्हीं विचारों पर मन मँडराने लगा।

किसी ने आकर नमस्कार किया। भगवान् के लिए यह कोई नई बात नहीं। किंतु इस समय में आनेवाला कौन होगा? मन कहीं अन्यत्र था। दीप की ज्योति धुँधली थी तो आँखों ने साथ नहीं दिया। आनेवाली कोई स्त्री थी। किंतु कौन थी, यह स्पष्ट नहीं था।

भगवान् ने धीरे से पूछा–''कौन है ?''

आनेवाली देवी ने उसी ध्वनि का अनुकरण करते हुए कहा–''मैं हूँ मैत्रेयी।''

''कैसे आना हुआ ?''

''अब लगता है भगवान् प्रसन्न हैं। जो भी वरदान की याचना करूँ वह तो मिलेगा– इसी आशा से आई हूँ।''

''तुम तो आलापिनी देवी की प्यारी भतीजी हो। तुमने जो कुछ माँगा, मैंने न नहीं किया। यह तुम भी जानती हो।''

''देव, जानती हूँ। पर आतंक है कि मैं अपनी अर्हता से बढ़कर माँग तो नहीं रही। मैं भी इसी आश्रम में रहना चाहती हूँ।''

''अवश्य ! क्या तुम्हें यहाँ रहने का अधिकार नहीं है? हमसे पूछकर हमारी अनुज्ञा पाकर ही रहने की आवश्यकता क्यों ?''

''यह बात नहीं। यदि मुझे यहाँ रहना है तो मेरी रक्षा, पालन एवं मार्गदर्शन आपके दायित्व पर होगा।''

''क्या यह सब कुछ अभी से आश्रमवासियों को प्राप्त नहीं है ?''

''मैं अन्य आश्रमवासियों का–सा नहीं चाहती?''

''अर्थात् ? समस्या तो जटिल बनती जा रही है। मेरे मुँह से निकल चुका है। कुछ भी हो। वह सब मैं अपने दायित्व में ग्रहण करता हूँ। बिना आतंक के बता देना।''

''मैं केवल शिष्यवृत्ति नहीं माँग रही।''

''तो और क्या चाहिए।''

मार्गदर्शन के संग संग····

''सह–ब्रह्मचारिणी बनना चाहती हो ?''

''हाँ।''

''क्या तुम्हें मालूम नहीं कि मैं विवाहित हूँ।''

''देव, मेरी माँग धर्मपत्नीत्व की नहीं ?''

''तो और क्या है ?''

''मोक्षपत्नीत्व चाहती हूँ। गुरु के रूप में, पति बनकर मेरी सेवा ग्रहण करनी होगी।''

भगवान् पलभर के लिए चुप रहे। फिर कहा–''तो ऐहिक धन की कामना तो नहीं।''

''हाँ, मुझे ऐहिक धन नहीं, आमुष्मिक धन चाहिए।''

भगवान् पलभर विचारमग्न रहे। अब उन्होंने निश्चय किया– ''हाँ, इसमें कोई दोष नहीं, यदि हम ऐसा करें तो निंदक जनों की बोलती बंद होगी।'' तथापि उन्होंने कहा–''परंतु कात्यायनी की अनुज्ञा के बिना हम ऐसा कुछ नहीं कर सकते, मैत्रेयी।''

''उन्होंने ही परामर्श दिया कि इस समय तुम जाओ तो निःशंक होकर भगवान् वरदान देंगे।''

भगवान् ने स्वीकृति में सिर हिलाया और कहा– ''तो ठीक है।'' मैत्रेयी ने उठकर प्रणाम किया। भगवान् हँसे।

संवाद

भगवान् के राजधानी जाने का दिन सन्निहित हुआ। यह निश्चय हुआ कि आश्रम की व्यवस्था का सारा दायित्व भगवती कात्यायनी आश्रम के वृद्ध शिष्यों की सहायता से सँभालें तथा मैत्रेयी नित्य सूर्योपासना किया करें। निश्चित समय पर भगवान् दो शिष्यों के साथ राजशकट में बैठकर चल पड़े।

भगवान् राजधानी की सीमा पर पहुँचे तो राजपुरुषों ने उनका स्वागत किया। भगवान् ने उनसे भेंट की और कहा–''हम आचार्य पिता के घर पर ठहरेंगे। अब संध्या हो चली है। अतएव कल महाराजा के दिए समय पर उपस्थित होंगे। आप हमारी ओर से महाराजा से निवेदन करें कि हमारे लिए मधुपर्क आदि की व्यवस्था न की जाए।'' यों स्पष्ट आदेश देकर उन्हें विदा किया।

आचार्य जी के घर पर गार्गी एवं भार्गव उपस्थित रहे। याज्ञवल्क्य ने उन्हें देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। उन दोनों ने अभिवादन समर्पित किया। भगवान् ने कहा–''यह क्या हो रहा है ! हम गार्गी के अभिवादन को सह्य मान भी लें, किंतु

हम से बड़े भार्गव जी के अभिवादन को कैसे सह्य मान लें ? उसको स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता।'' यों कहकर प्रत्याभिवादन करने के लिए आगे बढ़े तो दोनों ने उन्हें रोका–''आप तो ज्ञान वृद्ध हैं। अतएव आपका अभिवादन होना चाहिए। आप न करें।'' भगवान् ने माता–पिता के चरण छुए तथा आशीर्वाद प्राप्त किया।

रास्ते में एक अनहोनी घटना घटी। कुछ लोगों ने हव्य के लिए सद्योघृत समर्पित किया। कई लोग तो दुधारू गायें समर्पित करने के लिए आए हुए थे। अन्य कई लोग भाँति–भाँति के उपहार ले आए थे। अनहोनी बात थी कि सभी ने उन्हें लोकोद्धारक महापुरुष मान लिया था। आदित्यदेव की कृपा स्वरूप वेदादियों को प्राप्त करनेवाले के रूप में सभी उनका समादर करते रहे।

कुशल प्रश्नों के उपरांत गार्गी थोड़े समय तक वहीं रहीं। उसके उपरांत वे विदा हो गईं। राजपुरोहित जी अभी वहीं थे। उनके चेहरे के भाव कह रहे थे कि वे भगवान् से कुछ कहना चाह रहे हैं। अंत में देवरात ने कहा–''लगता है, आप कुछ कहना चाहते हैं। कह दीजिए न ? यदि आप एकांत में कहना चाहेंगे तो मैं बाहर रहूँगा।'' भार्गव ने कहा–''हाँ, कहना चाहता हूँ। पर कहाँ से प्रारंभ करूँ? आपकी उपस्थिति से कोई बाधा नहीं ?'' भगवान् ने हामी भरी।

अंत में भार्गव ने कहा–''यों तो मुझे चाहिए कि तुम्हें आप कहकर ही संबोधित करूँ ? किंतु तुम्हें बचपन से मैं जानता हूँ। अतएव यदि तुम कह लूँ तो अप्रसन्न न होना। जिस दिन से मैंने तुम्हारी उपनिषद् व्याख्या सुनी, मैं तुम पर मोहित हो गया हूँ। मैं राज–पौरोहित्य छोड़कर तुम्हारे गुरुकुल में आ जाऊँगा। किंतु यह सोचकर कि हम जैसों को वहाँ प्रवेश है कि नहीं, मैं संकोच कर रहा हूँ।''

भगवान् हँस पड़े–''साधु, क्या ही बात कर दी! आप जैसों को क्या हमारे गुरुकुल में स्थान नहीं होगा ? गुरुकुलवालों के लिए भगवान् कहलानेवाले पूज्य होते हैं तो आप उनके पितृस्थान में रह लीजिएगा। हाँ, गुरुकुल में आना बड़ी बात नहीं, पर पहले यह निश्चय कर लें कि वहाँ आकर आप करेंगे क्या ? हाँ, वहाँ आने से पूर्व यहाँ का सारा दायित्व संपूर्ण कर वहाँ चले आइए, पुनः इधर को प्रत्यावर्तन संभव नहीं होगा। मैं अपनी पत्नी के साथ आपकी सेवा के लिए तत्पर रहूँगा।''

भार्गव ने कहा–''भाई क्या कहूँ! इससे पूर्व जिस किसी वस्तु पर मोह करते हुए उसे सँभालकर रखा करता था आज उन सबके प्रति जिज्ञासा हो गई है। बड़ी आस्था से घर बनवाया। किंतु अब उस घर में रहना दुभर हो गया है। साया की

भाँति सेवारत पत्नी को छोड़कर निकलने में कुछ आना-कानी हुई थी। परन्तु उसने मुझे अनुज्ञा देते हुए कहा–'आपको जाने की ललक है तो चले जाएँ, मैं राजधानी में रह लूँगी।' अब यहाँ मुझे बंधक बनाकर रखनेवाला कोई आकर्षण शेष नहीं रहा।''

देवरात ने कहा–''भार्गव जी यथार्थ कह रहे हैं। आजकल वह राजप्रासाद में भी नहीं जाया करते।''

भगवान् ने कहा–''तो भार्गव जी यों कहिए कि इन लोगों से आप अघा चुके हैं। जब आपको यह सब अप्रिय न लगे तब तक यहीं रह लीजिए। जब आपको इनसे विरक्ति होगी, तथा आपको विश्वास होगा कि अब इनके प्रति आप पुनः आकृष्ट नहीं होंगे तब चले आइएगा। हम तो आपको आँखों की पुतली जैसा रखेंगे। आप जो कुछ सुनना चाहते हैं वे सब आपको सुनाएँगे।''

प्रातः के सारे कर्म संपन्न कर अग्निहोतृ, सूर्य-नमस्कार एवं वेद-पारायण आदि पूर्ण करते-करते भगवान् के लिए राजशकट आ गया। अब भगवान् ने माता-पिता की अनुज्ञा ली तथा राजमहल के लिए चल पड़े।

महाराजा सरस्वती विलास में अकेले ही प्रतीक्षा में थे। भगवान् का आदेश हुआ था, इसलिए मधुपर्कादि की व्यवस्था नहीं थी। एक आसन रखा गया था, जिस पर कृष्णाजिन बिछा हुआ था। एक तकिया भी रखा गया था। उसके दक्षिण पार्श्व में उसी कोटि के दो अजिनों से आच्छादित एक और आसन रखा गया था। दूर पर व्यजन-चामरधारिणी दासियाँ थीं।

महाराजा स्वयं आए, दंडवत् प्रणाम किया। भगवान् का स्वागत करते हुए भीतर ले आए तथा पूर्वाभिमुख आसन पर उन्हें उपविष्ट कराया। कुशल प्रश्नों के उपचार के उपरांत महाराजा ने हाथ जोड़कर कहा–''आप ही से संवाद का आरंभ हो।''

भगवान् के चेहरे पर मंदस्मित खिल गया। उन्होंने प्रारंभ किया–''पूर्व में एक विद्वान् रहा करते थे जिनका नाम था बालाकि गार्ग्य। उन्हें अपनी विद्वत्ता पर दुरभिमान था। वे कहा करते थे–यह कौन बड़ी ब्रह्म-विद्या है ? क्या गुरु के बिना इसको साधा नहीं जाता? एक बार वे अजातशत्रु के पास गए। उससे कहा–'मैं तुम्हें ब्रह्म के बारे में ज्ञान कराऊँगा।' राजा इनकी बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। सभी लोग जनक जी के पास जाते हैं –यह सोचकर उन जैसे विद्वत्-प्रिय अन्य कोई नहीं है। 'अच्छा हुआ कि आप मेरे पास आए। आपने कहा कि ब्रह्म-विद्या का

ज्ञान कराऊँगा। इसके लिए मैं आपको सहस्त्र स्वर्ण मुद्राएँ दूँगा।' तो संवाद प्रारंभ हुआ।

''गार्ग्य ने कहा–'आदित्य में जो पुरुष निहित है वही ब्रह्म है।' अजातशत्रु ने कहा–'हे ब्राह्मण, ब्रह्म अजन्मा है। जिसने जन्म लिया है तथा जो जन्म लेता है, सब भूतों के लिए वह ईश्वर होता है। मैं जानता हूँ कि उसकी उपासना जिसने भी की है वह महेश्वर बनता है। क्या तुम 'वह' हो, बताओ।'

''गार्ग्य ने आगे चंद्रादियों के बारे में बताते हुए राजा से कहा–'मैं शरीरांतर्गत पुरुष को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।' अजातशत्रु ने प्रत्येक उपासना के लिए अलग-अलग फल को गिनाते हुए पूछा–'जो ब्रह्मोपासक होता है उसे स्वयं ब्रह्म बनना होगा। बताओ न क्या तुम वह हो?'

''अंत में गार्ग्य ने अपने अहंकार का फल पा लिया तथा अजातशत्रु से स्वयं ब्रह्मोपासना की शिक्षा ली।

''मुझे आदेश हुआ है कि इस कथा को उपनिषद् में समाविष्ट करूँ। जानते हैं कि मैंने यह कथा क्यों सुनाई; इसलिए कि अहंकार मुझे गर्त में न गिरा दे कि जितना ज्ञानी मैं हूँ उतना अन्य कोई नहीं। तथा यह स्मरण करने के लिए भी कि पूर्णोपासना का फल पूर्ण बनना होता है। अब आप जो कहना चाहेंगे आदेश हो।''

महाराजा ने सुना तो प्रसन्नता में सिर हिलाया–''बड़ा ही प्रिय आरंभ हुआ। यह कथा केवल आपके लिए नहीं। मेरे लिए भी पथ-प्रदर्शक है। इस दृष्टि से देखा जाए तो हमें ही संदेह होने लगता है कि हमने जो जाना है वह सही है कि नहीं। अब मैं क्या कहूँ ?''

''विचार करने बैठने के लिए क्या रखा है ? जब तक इस देह को 'मैं' समझे रहने का भाव विद्यमान है, तब तक संदेह छूटते नहीं। अतएव आप कहीं भी प्रारंभ कर सकते हैं। अथवा मैं ही पूछूँ?''

''वही क्रम सरल लगता है।''

''अस्तु, सर्वप्रथम मुझे यह बताइए कि आप पर इस ब्रह्मज्ञान का उन्माद क्यों और कैसे हावी हुआ?''

''विद्या-प्रेम हमारी संपदा है। उसमें भी हमारे पितृवर्य की अपेक्षा थी कि हमारे यहाँ विद्वद्वरिष्ठ हों। मैंने बाल्यकाल में ही सुना था–''यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति; अर्थात् किसी एक को सुनने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है तो सब कुछ जानने का विचार ही मुझे ब्रह्मज्ञान की ओर ले आया।''

''अच्छा, तो आपने किन-किन की सेवा की; उन सबने आपको क्या बताया; आदेश हो।''

''मैंने शैलिनी, उदंक, वार्ष्ण, भारद्वाज, सत्यकाम एवं शाकल्य छह गुरुओं की सेवा की है।''

''अच्छा, इन सबने माता, पिता एवं गुरु द्वारा सुशिक्षा पाई थी। उन्होंने जो कहा था वह तो सटीक ही होगा। अब एक-एक करके बताएँ।''

''शैलिनी ने कहा था–वाणी ही ब्रह्म है।''

''सही,सब वेद-शास्त्र वाणी द्वारा ही अवगत होते हैं। इसीलिए उन्होंने वाणी को ही ब्रह्म कहा। उसके बाद?''

''उदंक ने कहा था– प्राण ही ब्रह्म है।''

''वह भी सही है। जिसका प्राण नहीं होता वह कर ही क्या सकता है! इसके अतिरिक्त संसार ने आकाशतत्त्व को ब्रह्म कहा। उसके बाद?''

''वार्ष्ण ने कहा–चक्षु ही ब्रह्म है।''

''उन्होंने सही कहा। संसार चक्षु से देखकर ही तो सब कुछ जान लेता है।''

''भारद्वाज ने कहा– श्रोतृ ही ब्रह्म है।''

''हाँ तो यह भी सत्य है। जिनके श्रोतृ नहीं होते उनका रहना न रहने के समान होता है। उसके बाद ?''

''शाकल्य ने कहा–हृदय ही ब्रह्म है।''

''उनका भी कहना सही है। जब हृदय ही नहीं रहे तो और किसी के होने से क्या होगा ? अस्तु, आपने इन सबमें किसका अनुष्ठान किया है ? अथवा उससे पूर्व मुझे यह बताइए कि उस-उस गुरु ने अपने कहे ब्रह्म के आयतन एवं प्रतिष्ठाओं के बारे में कहा कि नहीं ?''

''नहीं, किसी ने भी नहीं कहा। वे क्या होते हैं?''

''आयतन उसका स्थान होता है। जिसके ग्रहण से वह प्राप्त हो पाएगा, वह प्रतिष्ठा होती है। अब कहिए कि इनमें आप किसके अभ्यास में निरत रहे हैं? आपका अनुभव क्या कहता है ?''

''आपके ये प्रश्न ही मेरे लिए नए हैं। ब्रह्म के बारे में अभ्यास कैसे किया जाता है ? उससे होनेवाला अनुभव किस प्रकार का होता है ?''

''ब्रह्म तो वह अव्यय होता है जो सबको समेटे होता है, तथा सबके भीतर रहकर बाहर भी रहा करता है। उसके अभ्यास से तात्पर्य है कि सबको 'मैं' कहते

हुए आत्म-भिन्न होकर देखने की सीमित दृष्टि को नष्ट कर देना। ऐसी दृष्टि से विरत होना। ज्यों-ज्यों वह संकुचित दृष्टि विनष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों मानव की आनंदानुभव-शक्ति में वृद्धि होती जाती है। वह ऐसी स्थिति को पहुँचता है जहाँ यह अनुभव होता है कि कटोरे में भरा जल समुद्रवत् विस्तार को पा गया। अभी तक आपने जो-जो व्याख्याएँ दीं, वे सब एकांश ब्रह्म हुए। उनकी उपासना का भी फल मिलता है। किंतु उनसे पूर्ण ब्रह्मोपासना का फल प्राप्त नहीं होता।''

''तो बताइए, पूर्ण ब्रह्मोपासना का फल क्या होता है ?''

''मन की शांति, दिन-रात जो मन यहाँ अतृप्ति का अनुभव करते हुए रोता रहा, वह अब उस प्रकार के रुदन से मुक्त होकर सुखी बन जाता है।''

''साधु, क्या बात है ! क्या बात है भगवान् ! रुदन से मुक्त होता है-इस उक्ति पर ही आपको हाथी जैसे वृषभ सहित गायों की एक टोली उपहार में दे रहा हूँ। कृपया ग्रहण करें।''

भगवान् ने बिना किसी उद्वेग के शांत रहकर कहा- ''यह हड़बड़ी क्यों ? ठहर जाइए। मैंने अभी तक आपको पूर्ण विद्या के बारे में नहीं बताया है। जब तक पूर्ण विद्या के बारे में न बता दूँ, तब तक आपको निस्तार नहीं। जब तक शोक-मुक्त कर आपका उद्धार न करूँ, तब तक आपके द्वारा प्रदत्त किसी वस्तु को लेने का अधिकार मुझे नहीं। यह पितृवर्य का मंतव्य था। आप मेरे शिष्य नहीं बने हैं, ऐसे में मैं आपसे ग्रहण कैसे करूँ?''

महाराजा ने विचार किया। पल-भर बाद उन्होंने कहा-''आप मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार कर मुझे पूर्ण विद्या-दान दें।''

''ऐसा किया नहीं जाता महाराज! जिस प्रकार गुरु शिष्य को परख कर देख लेता है उसी तरह शिष्य को भी चाहिए कि गुरु को परख कर देख ले। जब शिष्य का मन मानेगा कि ये मेरे लिए ठीक होंगे तभी विधिवत् गुरु को स्वीकारा जाता है। अतएव आपको चाहिए कि परीक्षा कर जो विजयी हो उसी को गुरु के रूप में स्वीकार करें। तब तक आप अपने विचार के राजा हैं। तब तक आप जो कुछ पूछते हैं उसका उत्तर देना हम विचारवादियों का धर्म बन जाता है। आप पूछते रहें, हम बताते जाएँगे। आपको प्रश्न करने पर आनंद होगा, हमें उत्तर देने में संतोष होगा। अब मुझे अनुज्ञा दें ?''

भगवान् उठ खड़े हुए। महाराजा भी अपनी इच्छा के विरुद्ध निरुपाय होकर उठे और प्रणाम किया। वे राजप्रासाद के द्वार तक आए, भगवान् के राजशकट में बैठने पर उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा उन्हें विदा किया।

ताल का आश्रयवाला कुआँ

आश्रम के एक कोने में विस्तृत रूप में फैला एक बरगद का वृक्ष है। उसकी छाया में विशाल शिला-फलक वाला आसन बनाया गया है। यदि लोकव्यापार से श्रम अनुभूत होता है तो भगवान् वहाँ बैठे विश्राम करते होते हैं। साधारणतया वहाँ अन्य कोई नहीं जाता। जब वहाँ भगवान् बैठे होते हैं तो कोई उधर फटकता तक नहीं।

आज भगवान् वहाँ कात्यायनी के साथ बैठे हुए हैं। थोड़े समय बिना वार्ता के बैठे रहने पर वे ही मौन तोड़ते हैं और भगवती से पूछते हैं– ''कात्यायनी तुम्हारी कोई इच्छा रह गई है ?''

वह कहती है–''सिवाय आपकी सेवा करने के मेरी कोई इच्छा नहीं है।''

''मैत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी है। उसके मुँह से यह बात शोभा देती है। किंतु तुम वैसी नहीं हो। तुम्हारी कोई इच्छा तो होगी ही। अस्तु, स्त्री सहज संतान-अपेक्षा भी नहीं है क्या ?''

कात्यायनी हँसती है। हँसी थमने के बाद बोलती है। उसकी ध्वनि में यौवन का सारल्य नहीं। प्रौढ़ा का गांभीर्य है। ''सच कहूँ तो मुझे संतान के विचार से भय होता है। यदि संतान होगी तो उधर ध्यान दूँगी या आपकी सेवा करूँगी ? तब तो न घर की न घाट की वाली दशा में रह जाऊँगी। अतएव मुझे संतान-पुत्र या पुत्री-नहीं चाहिए। आपका वरण कर आपके घर आने पर मैं हर प्रकार से संतुष्ट हूँ। जब से आप गुरुकुल के अधिपति बने, तब से मेरी प्रसन्नता का आरपार नहीं। मुझे कुछ नहीं चाहिए । हाँ, ऐसे तो छोटी-मोटी इच्छाएँ तो हैं। भिंडी की सब्ज़ी, कुम्हड़े का साग, कढ़ी, पापड़-बड़े, इन सबकी चाह है। किंतु यदि वे न भी मिलें तो भी बड़ी प्रसन्नता होगी।''

''यह क्या ? मैं कात्यायनी से बात कर रहा हूँ कि मैत्रेयी से ?''

''यह लो, लोक-लोकांतरों में जो घटता है उसको संयम कर जान लेने वाले के सामने बैठी हुई दिखाई नहीं दे रही है न? क्या कहें ?''

''अच्छा, देह तो कात्यायनी की है। इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु मैं कैसे विश्वास करूँ कि आश्रम की अधिराज्ञी बनकर लौकिक व्यापार में मग्न कात्यायनी की कोई इच्छा नहीं है, तथा वैराग्य-संपन्न है। धर्मपत्नी यदि संभव होनेवाली बात करेगी तो ठीक है। यदि वह कहे कि भविष्य को किस प्रकार बनाएँ तो हमारी

समझ में बात आए। किंतु इसके विपरीत मोक्षपत्नी ज्यों कहे कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, यहाँ तक कि संतान भी, तो कैसे विश्वास किया जाए? उछल-कूद करनेवाले बछड़े के पदाघात-ज्यों तुमने तो मुझपर चोट ही कर दी।''

''यदि मेरी बातों से आपको ठेस लगी हो तो पैर छूकर क्षमा-याचना करती हूँ। हाँ, मैंने संयम की जो बात की शायद वह करनी नहीं चाहिए थी। तथापि आपको ठेस क्योंकर लगी? यदि जल में पत्थर का टुकड़ा फेंकेंगे तो वह उसे निगल जाएगा। यदि हम जान-बूझकर आपको पीड़ा देंगे तो भी आपका स्पर्श पाकर वह भी आनंद में परिवर्तित होगा। अतएव आप इस बारे में व्यथित न हों।''

''कात्यायनी, पृथ्वी के गर्भ में तुम जो भी डाल दो उसको वह आत्मसात् कर लेगी। अतएव मुझे जो भी मिले उसे मैं आत्मसात् कर लूँ, इसमें आश्चर्य कैसा? आत्मा का अभिप्राय आनंद से है। अतएव आत्मसात् होने का तात्पर्य है कि प्रत्येक अनुभव आनंद ही हो।''

''देव, यह सब मैत्रेयी के लिए बलिहारी हो। मेरा जन्म तो सेवा के लिए हुआ है, वही मैत्रेयी का विचार के लिए। वह आप जैसे ताल बनना चाहती है। मुझे ऐसी कोई इच्छा नहीं। मैं तो ताल के आसरे में रहनेवाला कुआँ हूँ। इसीलिए कहा– मुझे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं है। सर्वदा मेरा हृदय भरा-भरा हिलोरें लेता रहता है। आप पूछेंगे कि यह पूर्णता कहाँ से आई ? यह आपसे है। यदि आपके हृदय में किसी वस्तु का अभाव या अपूर्ण कार्य की धारणा होती तो मेरे हृदय में भी वही धारणा होती। आप तो प्रत्येक बात पर कहा करते हैं–किं तेन मर्मं? अर्थात् उससे हमें क्या मिलना है? इसीलिए मुझमें भी वही भाव आ गया है।''

''साधु कात्यायनी, आज मेरी कात्यायनी सरस्वती बनी हुई है। बातें कितनी अच्छी कर लेती हो! हम को ताल बनाकर तुम कुआँ रह गई। यदि इसी उपमान को और विस्तार दें तो क्या होगा ? हम तो कहीं से प्रवहित कीचड़-भरा पानी रह जाएँगे तथा तुम बनोगी शुद्ध जल। अरे, कितना सुंदर उलाहना दे गई ?''

कात्यायनी उन्मुक्त होकर हँस पड़ी–''आपने ठीक कहा। यदि किसी बात को खींच लें तो वह कैसा भी अर्थ दे सकता है। किंतु मेरे मन में ऐसा विचार नहीं था। यह सब रहने दें। यदि आपका मन हुआ तो एक वर की याचना है। यह इच्छा तो है।''

''क्या है, कहो ना ?''

''प्रतिमास तीन–चार दिनों की अवधि स्त्री के मासिक धर्म की अवधि होती है, जो अशौच की अवधि मानी जाती है। उस समय मैं सेवा के अवसर से वंचित रह जाती हूँ। यदि इस अवस्था का निवारण हो जाए तो आपकी चरण–सेवा में रत रह जाऊँ।''

''यह तो कोई बड़ी बात नहीं। किंतु कात्यायनी, स्त्री देह का यह धर्म होता है, उसका अवरोध नहीं करना। अस्तु, हाँ देखो, अब स्मरण हो आया, तुमने गायों को पाने की इच्छा की थी।''

''वह तो स्वर्ग को सीढ़ी लगाने–सी बात थी। पूर्व में सिर पर सनक सवार थी कि हमारे यहाँ भी सहस्र गायें हों। अब लगता है कि वह अविवेक था। सहस्र गायें कहाँ बँधेंगी ? उनके लिए कितना स्थान चाहिए ? उनको चारा–पानी की बात तो दूर, उस गोशाला को धोने के लिए कितना सारा जल चाहिए? उसे कौन भर लाएगा? अब उतनी गायें कौन दुहे?– यह सब विचारकर इस निर्णय पर पहुँची हूँ कि वह बड़ा अविवेकपूर्ण चिंतन था।''

''यदि तुम्हें ऐसी प्राप्ति हो तो ?''

''तो क्या ? भुगतना पड़ेगा। अब भी हमारे आश्रम एवं घर में गायों की संख्या पाँच सौ तो होगी ही ? चूँकि हमने उन्हें वितरित किया हुआ है, हमें कष्ट नहीं होता। यदि वे एक स्थान पर होतीं तो ! कल्पना ही भयावह है। हाँ, आपके मुँह से कोई बात निकले तो वह पूर्ण हुए बिना कैसे रहे? अतएव लगता है कि सहस्र गायों की प्राप्ति का योग है। आएँ तो आएँ। हाँ, अभी से विचार करने लगूँगी कि यदि वे आ जाएँ तो उन्हें सुखी कैसे रखें?''

''तभी कहा न, आश्रमवासियों में वितरित कर दें।''

''हाँ, कष्टों से पार पाने का अच्छा उपाय है। अब मैंने बच्चों के बारे में वही उपाय किया हुआ है। यदि गोरे शिशु को गोद में लेने की इच्छा हुई तो ऐसे घर में पहुँच जाऊँगी जहाँ गोरा शिशु पल रहा है। उसे उठा लेती हूँ,उसके साथ खेलती हूँ, फिर घर लौट पड़ती हूँ। ऐसे ही लाल शिशु, काला शिश, सुंदर शिशु, कुरूप शिशु– यों तो आश्रम के सभी बच्चे अपने बने हुए हैं। इसी में सुख पाती हूँ। किंतु गायों के विचार में ऐसा कुछ नहीं होने का। अपनी कहें तो अपनी ही होकर रहें। उसके स्वामित्व एवं विनियोग के विचार में किसी और का हस्तक्षेप नहीं होना है। अस्तु, गायें यदि आनी हैं तो आने दें,बाद में विचार कर लें।''

''आने के बाद विचार नहीं करना, पहले से ही सोच रखें।''

''हाँ, यही सही है। आप कहते हैं तो अवश्य आएँगी। किंतु आपने अभी नहीं कहा कि वे आएँगी। मैं भी दबाव नहीं डालती कि वे आ जाएँ।''

''अरी भागवंती सुनो, तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करने के लिए समस्त देवगण तत्पर हैं। तुमने कहा कि संतान नहीं चाहिए। धन, वह भी नहीं चाहती। अतएव सहस्र गायें पालने की तुम्हारी वह पुरानी इच्छा अब चरितार्थ होने का समय सन्निहित है। देवता देना चाहते हैं। कहो कि वे आ जाएँ।''

''आपके आदेश का प्रतिरोध कभी नहीं होगा। हाँ, इच्छा प्रकट करती हूँ कि गायें आ जाएँ। किंतु आते वक़्त मेरे एक निबंधन का अनुपालन होना होगा।''

''वह कौन–सा निबंधन होगा?''

''बस, यही कि हमारे माँगने से नहीं, अपने–आप सहस्र गायें प्राप्त हों ताकि हमें उससे संतोष मिले। उनके आने से हमें किसी प्रकार का कष्ट न हो। यहाँ संतोष से मेरा तात्पर्य आपका संतोष नहीं, कात्यायनी का संतोष है। उन सहस्र गायों के आगमन से हमारी आँखों से एक बूँद आँसू न गिरे। हमारी देह को तिलभर भी कष्ट न पहुँचे।''

''साधु, कैसा निबंधन है तुम्हारा! मान लो कि देवताओं ने तुम्हारे निबंधन को मानकर तुम्हें सहस्र गायें दे दीं तो ?''

''हाँ, आपने बात उठाई तो स्मरण हो आया। जब तक वे गायें हमारे यहाँ हों, तब तक उन्हें तथा उनके बछड़ों को किसी प्रकार का रोग न हो। उन्हें चारा–पानी बहुतायत से मिलता रहे। अर्थात् एक ही बात मैं कह दूँ–न उनसे हमें, न हमसे उन्हें तिल प्रमाण भी कष्ट पहुँचे।''

''अब तेरे सारे निबंधन समाप्त हो गए कि नहीं ? और भी कुछ है क्या?''

''बस यही। हमसे उन्हें और उनसे हमें संतोष प्राप्त होता रहे। किसी भी प्रकार से दोनों में से किसी को कोई कष्ट न पहुँचे।''

''और भी विचार कर देख लो न।''

''क्यों ? आप ही वर प्रदान करनेवाले हैं ?''

''हाँ, देवताओं की ओर से मैं ही तथास्तु कहता हूँ।''

''तो कह दीजिए तथास्तु।''

कात्यायनी उठी, दंडवत् प्रणाम किया, पुनः उठकर हाथ जोड़े। भगवान् भी उठ खड़े हुए, गंभीर होकर कहा–''तथास्तु।''

आंदोलन

भगवान् गुरु-शिष्य संबंध के बारे में दो टूक बात कर चले गए, तो जनक महाराज की विचित्र मनःस्थिति हुई। एक ओर उन्हें क्रोध आ रहा था–''मैंने स्वयं शिष्यत्व की याचना की तो दुत्कारते हुए कह दिया कि परखकर गुरु को अपना लो, तबतक न मैं तुम्हारा गुरु हूँ न तुम मेरे शिष्य!'' पर तत्क्षण मन समझाता– ''न, न, उन्होंने जो कहा ठीक ही कहा। राह चलते हर किसी को गुरु कहते रहो तो जीना दुभर हो जाए।'' उनके मन में उथल-पुथल मच रही थी– गुरु को ढूँढ़ें कैसे ?

जनक के अभिमान पर याज्ञवल्क्य की यह दूसरी चोट थी। जब वे याज्ञवल्क्य ही रहे, तब देवता-रहस्यों के संबंध में बात उठी थी तो तिरस्कार-पूर्वक यह कहते हुए चल पड़े थे कि इस संबंध में देवताओं से ही पूछ लिया जाएगा। अब शिष्य बनाने के विचार में परीक्षा रूप में दुत्कारते हुए कह गए कि ऐसा करना संभव नहीं होगा। अब की बार का तिरस्कार पूर्ववाले तिरस्कार से कहीं तीव्रतर था। ''तब मैं युवराज जनक था, आज महाराजा जनक हूँ।''

''अस्तु, मान लें कि उन्हीं की ग़लती थी, किंतु आश्रम में केवल मेरा ही नहीं, मेरे परिवार की भूरि-भूरि उपचर्या की। यही नहीं, विदुषियों में सिरमौर गार्गी ने प्रशंसा में कहा है कि पूरे भारतवर्ष में उन जैसा अन्य कोई विद्वान् है ही नहीं। ऐसे में विद्वज्जनों के आदर के लिए नामी विदेह राजवंश को मैं कैसे दंडित करूँ? मैंने गुरु-शिष्य संबंध के लिए कोई राजादेश नहीं निकाला, यह तो निजी स्तर का विचार था। अतएव इस प्रश्न को राज-अवहेलना ठहराया नहीं जा सकता, यदि ऐसा कुछ कर दिया जाए तो धर्म के प्रति बड़ा अत्याचार होगा। तो अब क्या किया जाए ?''

जनक को यही चिंता खाने लगी। जितना वे इस पर विचार करते, उतना ही उनको भगवान् का रुख़ सही लगने लगा। मन गुरु-परीक्षा की बात को ही उचित मानता। किंतु ऐसी परीक्षा चले कैसे, यही तो संश्लिष्ट विचार बन जाता। उन्हें इसका कोई निदान सूझ नहीं रहा था।

इसी चिंता में राजा अन्यमनस्क हो गए। मंत्रीजन परामर्श के लिए उपस्थित होते। राजा यद्यपि चिंता रहित दीखने का प्रयास करते तथापि उनकी लंबी उसाँसें उनके मन के क्षोभ का रहस्योद्घाटन कर देतीं। मंत्रियों ने देखा कि राजा का शरीर कृश हो रहा है तथा वे राजकार्यों में पूर्ववत् मन लगा नहीं रहे हैं। अब उन्होंने रहस्य

रूप में परिजनों से इसकी चर्चा की। उन्हें ज्ञात हुआ–'भगवान् से राजप्रासाद में भेंट करने के उपरांत राजा भोजन आदि में भी कोई आस्था नहीं दिखाते। दबाव डालने पर ही कुछ खा लेते हैं। यद्यपि माथे पर बल नहीं पड़ते, तथापि एकांत में रहना पसंद करते हैं। अपने मन के विचारों को किसी पर प्रकट नहीं करते।' मंत्री टोह लगाने लगे कि इसका क्या कारण हो सकता है। उन्होंने उन चामर-व्यंजनधारकों को बुलाया जो भगवान् से भेंट के दिन सेवा में निरत थे। उनसे बात की। उन व्यंजनधारियों ने कहा–''हमने इतना ध्यान नहीं दिया। हाँ, जाने से पूर्व भगवान् ने कहा, गुरु-परीक्षा हो, बाद में देखा जाए।'' अब मंत्री इसी सूचना पर अपने कल्पना-भवन के निर्माण में जुट गए।

एक दिन उन्हें लगा–'क्यों न उनकी चिंता का कारण उन्हीं से जान लिया जाए। इधर-उधर की सूचनाओं पर जो कुछ गढ़ने जा रहे हैं वह केवल कपोल-कल्पना में परिणत हो मिथ्या सिद्ध हो जाए तो क्या हो?'

अगले दिन मंत्री जी राजकाज के बहाने राजा से मिलने गए तो भार्गव जी भी वहीं उपस्थित थे। राजा उनसे वार्तालाप कर रहे हैं। जब उनसे कहा गया कि मंत्री जी दर्शनार्थ आए हुए हैं तब राजा ने उन्हें बुला लिया–''आइए, अन्य दिनों की तुलना में आज हमें आपकी अधिक आवश्यकता है। उलझी बातों की गुत्थी जब हमसे सुलझ नहीं पाती, तब उसे सुलझाने वाले आप ही तो होते हैं। उस विचार पर बात करने से पूर्व हमारे पुरोहित जी के संबंध में कुछ चर्चा होनी है। आप भी सुन लें।'' उन्होंने मंत्री को आसीन कराया तथा पुरोहित जी की ओर उन्मुख होकर संकेत दिया–''आगे?''

''स्वामिन, कितनी बार कहूँ ? मैं तो उनका अर्थात् भगवान् के पिता का बाल्य सखा हूँ। मैंने उनसे कहा–'यहाँ का सब कुछ पुत्र के दायित्व पर छोड़कर मैं आश्रम में रह लूँगा।' तो उन्होंने कुछ अप्रत्यक्ष रूप से कह दिया–'आप परख लीजिए कि आपका वैराग्य परिपक्व हो गया है कि नहीं तथा निर्णय कर लीजिए कि आप संसार की ओर प्रत्यावर्तित नहीं होंगे। तभी आना।' उनका यों कहना ठीक ही तो था। किंतु मेरे अहंकार को ऐसी चोट कभी न लगी थी। उसका परिणाम मुझ पर अच्छा ही हुआ। मैं इन चार दिनों से विचार कर रहा हूँ कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा? उनके कथन में सत्य निहित है। मेरे अनजाने ही ईषणा मेरे मन को झकझोरती है। सोचकर देखा कि इससे विमुक्ति कैसे पाऊँ ? यह तो अपने-आप नहीं छूटती। इसीलिए आज मैंने पुत्र और पत्नी को बुलाकर अपनी सारी गृहस्थी एवं लौकिक

व्यवहार उन्हें सौंप दिया। मैंने उनसे कहा कि कुछ समय के लिए मैं आश्रम में एकांतवास करूँगा। उन्हें मनाया। मैं यहाँ आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ तथा निवेदन कर रहा हूँ कि मेरे स्थान पर अन्य किसी को राज–पुरोहित नियोजित कर लें तथा मुझे मुक्ति दें।''

जनक ने प्रश्न किया–''सब कुछ छोड़–छाड़कर भगवान् के आश्रम में ही क्यों जाया जाए ? यदि आपको आश्रमवासी ही बनना हो तो अपना ही एक आश्रम बना लें।''

भार्गव हँसे–''महाराजा के कथन को मान्य करूँ तो यहाँ की गृहस्थी छोड़ो, दूसरी बसा लो वाली स्थिति होगी। महास्वामिन, मैं तो लौकिक को ही त्यागना चाहता हूँ। यदि अपना आश्रम बना लूँ तो प्रातः से संध्या तक उसी की चिंता लगी रहेगी, मेरी अंतर्मुखी होने की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होगी। अतएव मैं आश्रम नहीं बनाऊँगा। जिन्होंने आश्रम बनाया है उन्हीं के यहाँ रह लूँगा। आप प्रश्न करेंगे कि क्या मैं वहाँ स्वतंत्र रह पाऊँगा ? किंतु जिसने सब प्रकार के संकल्प को तजने का निर्णय किया है उसको स्वतंत्र रहने का प्रश्न क्यों ? यह भी प्रश्न उठ सकता है कि यदि वहाँ से कोई निकाल दे तो क्या होगा ? जिसका घर छोड़ने का मन हो चुका है, वह मन की इच्छा को भी छोड़ देगा। अतएव निश्शंक होकर जा रहा हूँ। अनुज्ञा मिले।''

''मेरे सम्मुख ऐसा ही एक अवसर आ उपस्थित हुआ है। किंतु मैं आपको इस प्रकार सहज ही जाने नहीं दूँगा। मंत्री जी भी सुनें। मुझ पर जो संकट आसन्न है वह भी भगवान् द्वारा ही आया हुआ है। जब वे हमारे यहाँ आए थे तब मैं उनकी बातों से बड़ा ही प्रभावित हुआ। मैंने उनसे निवेदन किया कि मुझे शिष्य के रूप में ग्रहण कर मुझे पूर्ण विद्या का अनुग्रह प्रदान करें। जानते हो कि उन्होंने क्या कहा! कहा कि परीक्षा कर गुरु का चयन कीजिए तब तक हम हम हैं, और आप आप ही रहेंगे। हम आपके देश के निवासी हैं और आप हमारे राजा हैं। अतएव आप जो भी पूछेंगे उसका समुचित उत्तर देना हमारा धर्म बन जाता है। हम अवश्य वह धर्म निभाएँगे। अर्थात् इसका तात्पर्य क्या हुआ, उनका आशय था कि तुम पगला गए हो, तुम्हें वेदांत क्यों? अब आप ही कहिए कि हमारे लिए करणीय क्या है ? आप दोनों बड़े ही ज्ञानी हैं। मेरे लिए इस समस्या का निदान निकालें।''

अब मंत्री जी को राजा की चर्या समझ में आ गई। उन्होंने जान लिया कि इस प्रश्न ने राजा की मनोबुद्धि एवं अहंकार को ही नहीं, उनके संपूर्ण सत्व को भी

झकझोर दिया है। तथापि उन्होंने सोचा–'अब मुझे मुँह खोलना नहीं; पुरोहित का परामर्श सुनकर बाद में इसपर विचार करूँगा–यों सोचकर पहले राजा के चेहरे की ओर देखा, फिर पुरोहित की ओर देखकर कहा–''आदेश हो।''

राजपुरोहित ने कहा–''स्वामिन, यह भी एक प्रकार से किसी की कुंडली परीक्षा जैसा है। इसके निर्णय के लिए तीन मार्ग हो सकते हैं। प्रथम तो ईश्वर पर छोड़ देना है। अर्थात् ईश्वर जो करे सो करे। यों सोचकर उसके व्यापार की प्रतीक्षा में निष्क्रिय बैठे रहना। किंतु वहाँ तो अहंकार का निरोध होना अवश्यंभावी है। किंतु जो पुरुषार्थ पक्षधर हैं उन्हें यह संगत नहीं लगता। दूसरा है शास्त्र का मार्ग। यहाँ भी कन्या–परीक्षा एवं वर–परीक्षा में जैसे किया जाता है वैसे शकुनादि देखना, पुनः योग्यता की परख करना, तथा ऋण–ऋणीभाव की परख करना–इन सब के आधार पर निर्णय लेना। किंतु स्वाभिमानी एवं पुरुषार्थवादी इसका भी इतना मान नहीं करते। तो शेष रहता है मानुष मार्ग। एक ही वर्ग की कई वस्तुओं को देखकर उनके गुणों में विद्यमान् गुणभेदों को परखकर उनमें से जो उत्तम गुणवाली होती है उसका चयन करना। यह तो राजस्थान है। यहाँ पर मुझे प्रतीत होता है कि मानुष मार्ग ही सही बैठेगा।''

''अर्थात्?'' राजा ने पूछा।

मंत्री जी ने कहा–''पुरोहित जी का मंतव्य कुछ इस प्रकार है। जो भी ब्रह्म–विद्या संपन्न होने के ख्याति–प्राप्त विद्वान् हैं उन्हें एक स्थान पर एकत्र कर लेना। वे आपसी शास्त्र–चर्चा द्वारा अपनी–अपनी योग्यता एवं श्रेष्ठता को स्थापित करेंगे। तब उनमें से जो सर्वोत्कृष्ट लगे, उनका चयन कर लेंगे। क्यों पुरोहित जी, आपका यही मंतव्य है न?''

''हाँ, यह तो है। पर यह इतना सरल नहीं है। अब भगवान् के विचार में कहना हो तो वे तो जन्म से ही पवित्र हैं। मुझे ज्ञात है कि कई लोग उन पर गुरुद्रोही होने का आरोप लगाते हैं। किंतु वह भी एक रहस्य है। वैशंपायन जी के पास देवताओं का संदेश आया था कि वे उनको अपने से दूर कर दें। इसी कारण से याज्ञवल्क्य वहाँ से निकल पड़े थे। यथार्थ में वे गुरु–द्रोही नहीं थे। इसके अतिरिक्त वे दैवानुग्रह–संपन्न हैं। सभी को मान्य करना पड़ेगा कि वे कर्मकांड एवं ब्रह्मकांड दोनों में निष्णात हैं। किंतु इसका निर्णय कि वे राजगुरु बनने योग्य हैं कि नहीं, परीक्षा द्वारा होना ही सर्वोचित होगा।''

''आपने अभी तक यह नहीं बताया कि परीक्षा किस आधार पर हो?''

पुरोहित ने मंत्री जी की ओर ताका। उसकी इस क्रिया में संकेत तो यही था कि तत्संबंधी व्यवस्था आदि के बारे में निर्णय आप ही दे सकते हैं। मंत्रीजी ने उनके संकेत पर मानो सम्मति देते हुए कहा—''स्वामिन्, समस्त ब्रह्मज्ञानियों को आमंत्रित कर एक परिषद् का आयोजन किया जाए। जिस प्रकार स्वयंवर में किया जाता है, उसी भाँति यहाँ भी एक पुरस्कार नियत किया जाए। कहा जाए कि आप में से जो श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ हैं वे उसे पाने के अधिकारी होंगे। तब वे शास्त्र-चर्चा में आपस में उलझ पड़ेंगे। इससे उनको लड़ाने का अपयश आप पर नहीं लगेगा। उनमें जो सबको चर्चा द्वारा निरुत्तर कर देगा, वही श्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ समझा जाएगा।''

''केवल बातचीत ही से शास्त्रार्थ हो तो ?''

''नहीं, ऐसा कैसे होगा? ब्रह्मज्ञान केवल वागाडंबर नहीं। वैसे ही वह केवल शास्त्र भी नहीं। वहाँ अनुभव की भी वरीयता होती है। परंतु केवल अनुभव के आधार पर ही कोई वादभूमि में प्रविष्ट नहीं हो पाएगा। अनुभव के साथ जिनको शास्त्र का ज्ञान है वे ही मैदान में उतर सकते हैं। शास्त्र एवं अनुभव के साथ-साथ जिनको वाचोवैभव अर्थात् वक्तृत्व-कला पर अधिकार है, उनका कहना ही क्या !''

पुरोहित ने उनके समर्थन में कहा—''आप जो कुछ योग्यता गिना चुके, वे सब भगवान् में वर्तमान हैं। शास्त्र एवं अनुभव के साथ-साथ उनकी तर्कशैली अद्भुत है। और तो और, वे तो सर्वज्ञ हैं। मुझे लगता है कि उनसे पार पानेवाला कोई नहीं होगा।''

राजा ने कहा—''हाँ, मैं भी मानता हूँ कि भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं। किंतु कहा जाता है न, प्रत्यक्ष होने पर भी प्रमाणित कर देख लिया जाए। इसीलिए हमें यह सारा खेल रचना पड़ा है।''

''अस्तु, अब मैं पुनः निवेदन कर रहा हूँ कि मेरी प्रार्थना स्वीकार कर मुझे अनुज्ञा दी जाए।''

''मैंने इसका प्रत्युत्तर आपको दिया हुआ है। आप तो हमारे पितृवर्य के समय से हमारे यहाँ हैं। आपको विदित है कि राजप्रासाद में कब क्या संपन्न हो। ऐसे में हम आपको कैसे जाने दें!''

''पुनः निवेदन है, हमें जाने दें।''

अब महाराजा ने बड़ी देर तक सोचकर कहा—''अस्तु, आप जैसा चाहें, वैसा ही हो।''

तीर्थयात्रा

भार्गव राजा के यहाँ से सीधे देवरात के घर आए। वे घर पर ही थे।

''आचार्य, मेरी मनोकामना पूर्ण हुई। एक अरसे तक उनका नमक खाया है, अतएव उनकी अनुज्ञा के बिना कैसे चला जाए, यही चिंता खाए जा रही थी। आज समय आ गया। मैंने महाराजा को अपना अंतिम परामर्श दे दिया तथा उनके मन की चिंता दूर की। अब मेरी भी चिंता दूर हो गई।''

देवरात समझ नहीं पाए। भार्गव ने राज-प्रासाद में जो कुछ हुआ, उसका विवरण दिया। उनको भय तथा हर्ष दोनों एक साथ हुआ, यह सुनकर कि पुत्र ने महाराजा से बिना भयभीत हुए अपने विचार स्पष्ट कर दिए थे। पर फिर लगा कि अब महाराजा के द्वारा पुत्र का परामर्श स्वीकार कर लेने से एक नई समस्या तो खड़ी नहीं हुई? अब भार्गव जी से पूछा।

''अब आप क्या करनेवाले हैं।''

''करना क्या है। एक बार तीर्थ करने चला जाऊँगा। उसके उपरांत भगवान् के आश्रय में चला जाऊँगा।''

''अभी आपने जिस परिषद् के बारे में उल्लेख किया, वह तो होनी ही है। तदनंतर हम भी आपके संग तीर्थ पर चलेंगे।''

''न, उसकी प्रतीक्षा में क्यों बैठें! वह तो उनका काम है। वे कर लेंगे। हमें तो अपना सोचना होगा। अभी माघ का महीना लगनेवाला है। मैं पैदल ही हिमालय की यात्रा करूँगा। जब तक मैं वहाँ पहुँचूँ, माघ समाप्त हो जाएगा। मैं वसंत ऋतु वहीं बिताऊँगा। वर्षा ऋतु के आगमन पूर्व ही लौट पड़ूँगा।''

''आपका विचार तो सर्वोत्तम है। कौन-कौन चलेंगे ?''

''कोई नहीं, मैं अकेला चला जाऊँगा।''

''अकेले कैसे जाएँगे ? आप संन्यासी तो नहीं। आपने अपनी घरवाली से इसका उल्लेख किया है ?''

''वह तो आश्रम में ही आकर रहना नहीं चाहती। फिर हिमालय क्यों कर आएगी?''

''यहीं आप चूक करते हैं। आश्रम में जाने के नियमन अलग हैं, तीर्थयात्रा जाने के अलग। अतएव आप उससे भी परामर्श कर लें। उचित तिथि पर हम भी

चल पड़ेंगे। हम दोनों परिवारवाले साथ चलेंगे। आप हाँ कहें तो यह समाचार आलंबिनी को भी सुना दूँ ?''

भार्गव ने कहा–''स्त्रियों में रहस्य सुरक्षित नहीं रहेगा। अतएव आप संकेत भर दे दीजिए।''

''ऐसा नहीं होगा। बताना है तो सब कुछ बताना होगा। अन्यथा नहीं। हाँ, आपका यह कहना कि स्त्रियों के पास रहस्य सुरक्षित नहीं रहेगा – इसकी चिंता आप न करें। मैं इस पर आपको आश्वासन दे रहा हूँ।''

''तो ठीक है।''

देवरात ने पत्नी को बुलाया–''एक रहस्य है, किसी को बताना नहीं।'' उन्होंने राजमहल में जो कुछ हुआ, उसका पूरा ब्यौरा देकर कहा–''देखो, यह पहलवानों की कुश्ती नहीं, सांड़ों की भिड़ंत भी नहीं, ब्रह्मज्ञानियों की लड़ाई है। अब तुम्हारा पुत्र भी एक सांड़ बना है। आशा है कि वही जीतेगा। अब हम उसको देखने के बाद ही तीर्थयात्रा पर निकलें कि उससे पूर्व ही। भार्गव जी तो सिर पर पैर रखके खड़े हैं। मैंने उन्हें समझाया है कि आप गृहस्थ हैं। आप अर्धांग यात्रा न करें। आपका शेष अर्धांग भी आपके साथ चले। हाँ, तो अभी उनकी अर्ध सम्मति ही प्राप्त है।''

''हाँ, मेरी भी बड़े दिनों की साध है–तीर्थयात्रा पर जाने की। इनकी श्रीमती जी को भी जाने की ललक है। गत वर्ष ही जाने का उनका विचार था। इन्होंने ही मना किया था, अब जिस ज्ञान सत्र का उल्लेख आप कर रहे थे वह कब होगा ?''

''महाराज ने तो इसके आयोजन पर सम्मति दी है। किंतु कब एवं किस रूप में हो–ये सारी बातें अभी तय नहीं हैं।''

''तो ऐसा करें। आपने कहा कि आपका पुत्र भी उसमें एक प्रमुख भागी होगा। अभी यह किसी पर प्रकट नहीं हुआ है। हम अब यहाँ से उसके आश्रम में जाएँगे। उन दंपती को भी तीर्थयात्रा के लिए साथ ले लेंगे। हम वैशाख के अंत तक लौट आएँ। उसके बिना ज्ञानसत्र कहाँ होगा? उसके आने पर ही वह संपन्न होता हो तो अच्छा है। हमें तीर्थयात्रा का अवसर तो मिलेगा। साथ–साथ ज्ञानसत्र में उपस्थित रहने का भी।''

''देखो न भार्गव जी! स्त्री की सोच हमसे तेज है। कितना अच्छा उपाय सोच लिया। हाँ, यह भी सोचना होगा कि यदि वे याज्ञवल्क्य को छोड़कर ही ज्ञानसत्र कर दें तो ?'' देवरात ने अपने मन की शंका व्यक्त की।

''नहीं, मुझे तो लगता है कि सबके सम्मुख भगवान् को ही अपने गुरु के रूप में स्वीकार करने के लिए महाराजा का रचा हुआ खेल है। आजकल उन्हें विदग्ध शाकल्य पर आदर-भाव कुछ घट गया है। चूँकि वे प्रारंभ से उपाध्याय रहे, वे चुप हैं। किंतु महाराजा के मन में यही सोच रही है कि अपने ही देश के विद्वान् को राजगुरु के पद पर आसीन देखूँ। किंतु राजगुरु का पद राजाभिमान पर निर्भर न हो- यह धर्मज्ञान का विधान है। इसके अतिरिक्त इस पद को भूषित करनेवाले को चाहिए कि वह अन्य किसी विद्वान् से कम ज्ञाता न रहे। उस दिन जब वे आश्रम में आए थे तभी निर्णय हुआ था। किंतु जब भगवान् ने स्वयं परीक्षा की बात उठाई तब दूसरा कोई रास्ता नहीं रहा। इसीलिए यह मार्ग अपनाया जा रहा है। ऐसे में इसकी अनुपस्थिति में ज्ञानसत्र कैसे चलेगा ?''

आलंबिनी बीच में बोल उठीं-''यदि आपके मन में ऐसी शंका हो तो एक उपाय करें। गार्गी को भी साथ ले चलें। वह भी आना चाहती है। यदि हमारे साथ हैं तो वे भी चलेंगी।''

इसी वक़्त किसी ने द्वार पर आवाज़ दी। आलंबिनी ने बाहर जाकर देखा तो ये गार्गी थीं। उनका सहर्ष स्वागत करते हुए भीतर ले आई-''यह देखिए, गार्गी जी। अब ये सौ वर्ष जिएँगी। अभी हम आप ही के बारे में बात कर रहे थे। तभी आपका आना हुआ।'' भार्गव एवं देवरात ने भी उठकर उनका स्वागत किया और आसन दिया।

''आख़िरकार मैं तो स्त्री हूँ, मैं आपके बराबर बैठ नहीं सकती।''वे कुछ कहना चाहती थीं। पर बात बदलते हुए कहा-''वृद्धजनों की बात माननी चाहिए।'' यों कहकर उनके द्वारा निर्दिष्ट वेत्रासन पर उपविष्ट हुईं। उनके आग्रह पर आलंबिनी भी बैठ गई।

''मेरी बात क्यों हो रही थी ?''- गार्गी ने पूछा।

''कुछ विशेष नहीं। हमने विचार किया कि तीर्थयात्रा पर चलें। हम सोच रहे थे कि अपने साथ चलने का निमंत्रण और किसको दें। तभी आपकी बात उठी।''

''हम यानी कौन-कौन जा रहे हैं ?''

''हम यानी भार्गव दंपती, हम दंपती तथा याज्ञवल्क्य दंपती।''

''अच्छा? कितने मास तक होगी यह यात्रा?''

''यही दो-ढाई मास, माघ में चलेंगे। वैशाख तक हिमालय प्रदेश में संचार कर लौटेंगे।''

''योजना ठीक है। याज्ञवल्क्य अर्थात् भगवान् के संग इतने दिन रहना भी सौभाग्य होगा। उन्हें मना लिया है ?''

आलंबिनी ने कहा– ''वह काम मुझ पर छोड़ दें।''

''अच्छा, तो ठीक है, हो सकता है। हाँ, भार्गव जी मैंने सुना है कि आप राजपौरोहित्य छोड़ रहे हैं ?''

''आपको किसने बताया ?''

''आपके पुत्र ने आज प्रातःकाल मुझे यह समाचार सुनाया। मैं आपसे जानने के लिए आपके घर गई। आप वहाँ नहीं थे। सोचा कि शायद यहाँ हों? तो आगे की बात भी सही होगी।''

''वह क्या ?''

''सुनते हैं कि आप भगवान् के आश्रम में जाकर रहेंगे।''

''हाँ, यह भी सही है।''

''तो तीर्थयात्रा का प्रस्ताव देवरात जी से आया होगा!''

''वह भी सच है।''

''अस्तु, सुना था कि महाराजा का स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं था। अब कैसे हैं ?''

भार्गव ने हँसते हुए कहा–''महाराजा के अस्वास्थ्य का कारण भगवान् ही थे?''

''अर्थात् !''

''अर्थात् बात कुछ ऐसी थी.....'' अब भार्गव ने सारी बातें बताईं। गार्गी ने सुना तो कहा–''साधु साधु, क्या साहस था! इस देश के अधिपति राजा कहते हैं कि मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। गुरु कहता है कि अपने गुरु की परीक्षा कर बाद में चयन कर लें। इसके लिए बड़ा साहस चाहिए। यह तो लोकातीत आचरण है। यदि हम किसी गाय को खरीदना चाहते हैं तो उसके लक्षण देखते हैं, उसके दूध की मात्रा देखते हैं। ऐसे में बिना परीक्षा किए गुरु–शिष्य एक–दूसरे को मानें कैसे? भगवान् का कथन सत्य है। इसी पर महाराजा अस्वस्थ हो गए। हाँ, क्यों नहीं, यह तो किसी से कहते नहीं बनता था, मौन रहा भी नहीं जाता था। बड़ी दुविधा थी।''

अब गार्गी ने पुनः पूछा–''कब चलने का निश्चय हुआ है ?''

देवरात ने उत्तर दिया–''कल इसका निर्णय करेंगे।''

''मुझे कैसे मालूम होगा ?''

''भार्गव जी का पुत्र समाचार देगा।''

''तो, मैं चलूँ?''

गार्गी उठीं। नमस्कार प्रति–नमस्कार के बाद चली गईं। आलंबिनी ने उसे कुंकुम देकर विदा किया।

भार्गव जी देवरात दंपती के साथ कुछ समय तक रहे। भार्गव जी को घर जाने की जल्दी भी नहीं थी। अब यह तय हुआ कि वे अपनी पत्नी से बात कर उसकी स्वीकृति लेकर इन्हें बताएँ। उसके बाद आलंबिनी एवं देवरात आश्रम में जाकर पुत्र एवं बहू की सम्मति लें।

पूर्व तैयारी

माघ शुद्ध त्रयोदशी के दिन तीर्थ पर जाने का निश्चय हुआ। अभी पंद्रह दिनों की अवधि शेष थी। पुष्य कृष्ण द्वादशी के दिन आलंबिनी अपने पुत्र से मिलने गईं। संध्या तक गाड़ी आश्रम पहुँची। भगवान् स्नान के लिए निकलने वाले थे कि माता को आया जानकर उनके स्वागत के लिए निकले। कात्यायनी भी उनके साथ थी। मैत्रेयी को भी मालूम हुआ, वे भी अपनी सास को देखने के लिए आगे बढ़ीं।

आलंबिनी को पुत्र एवं पुत्रवधुओं को देखकर बड़ा हर्ष हुआ। पुत्र को भी माँ से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। सास को देखकर दोनों पुत्रवधुओं को माँ को देखने से बढ़कर प्रसन्नता हुई। थोड़ी देर तक कुशल प्रश्न हुए।

भगवान् ने कहा–''माँ, शेष बातें बाद में करेंगे। स्नान का समय हो गया।'' वे स्नान के लिए निकले, कात्यायनी भी उठी। भगवान् ने कहा–''तुम आज रुक जाओ। माँ के साथ बातें करो। मैत्रेयी मेरे स्नान की व्यवस्था करेगी।''

माँ के पास सरस संवाद में लग जानेवाली पुत्री समान कात्यायनी ने सास से कहा–''ऐसा कुछ नहीं होगा। दीदी को देखते ही यह अंतर्मुखी हो जाएँगे और ध्यानस्थ हो जाएँगे। और यह मेरी माँ उनको देखते ही स्वयं भी आँखें बंद कर लेंगी। दोनों यदि स्नान घर में ध्यानस्थ बैठ जाएँ तो मेरा क्या होगा? अतएव स्नान-भोजन आदि उनके बाह्य कर्म तो मेरे दायित्व पर हैं। क्यों माँ, आप कहिए ना, मैं ठीक कह रही हूँ न ?''

भगवान् ने हँसते हुए कहा–''देखा न माँ, कैसी बातूनी हो गई है तुम्हारी बहू। अब मेरा भी सुन लो। तुम जानती हो कि मैं बचपन से ही अंतर्मुखी हूँ। विवाह के दिन उद्दालक जी ने आदेश दिया था–'जब तुम उसके पास होगे तब बहिर्मुखी होकर ही रहना।' इसीलिए मैत्रेयी के साथ रहता हूँ, सहज ही अंतर्मुखी हो जाता हूँ और जब कात्यायनी के साथ रहता हूँ तो उद्दालक जी के आदेश का पालन करते हुए बहिर्मुखी हो जाता हूँ। इसमें मेरा क्या दोष है ?''

आलंबिनी को इन पति–पत्नियों का सरस संवाद बहुत भा गया। उन दोनों को अपने समीप खींचकर गोद में बिठा लेने की इच्छा हुई। पर दोनों बच्चे नहीं थे, इसलिए अपनी मनोकामना को आँखों के संकेत से व्यक्त करते हुए कहा–''हाँ, कात्यायनी की बात को मान लिया जाए। अब मैं मैत्रेयी के साथ बातें करूँगी। तुम स्नान के लिए चले जाना।''

कात्यायनी ने कहा–''दीदी, मैं अग्निहोत्र संपन्न होने तक नहीं आ पाऊँगी। अतएव हमारे स्नान के बाद माँ को स्नान कराकर तुम भी स्नान कर लेना। उन्हें धौतवस्त्र देना। उनके संध्याकर्म की व्यवस्था कर तुम भी स्वयं अनुष्ठान आदि कर लेना। जब तक तुम्हारे अनुष्ठान संपन्न होंगे तब तक मैं आ पहुँचूँगी।'' उसकी कार्य–तत्परता देखकर आलंबिनी ने अपने–आप कह लिया–''ऐसी भामा आश्रम की रानी बनी है तो इसमें आश्चर्य क्या ?''

मैत्रेयी भी स्त्री जो थी! सास के देखने की रीति से वह उनके मन का आशय समझ गई और स्वयं भी कात्यायनी की प्रशंसा के पुल बाँधने लगी– ''सासू माँ, आप जानती हैं कि यह सबके मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को सहज ही ताड़ लेती है। यही क्यों, जब कुछ आदेश भी देती है तो उसमें से निठुरता एवं कटुता को निकाल फेंक उस पर स्नेह एवं विनय का आवरण ओढ़ा देती है। इसीलिए आश्रमवासी क्या, मवेशी भी उसके आदेशों की अवहेलना नहीं करते। मैं तो उसकी बातों का बड़ा आदर करती हूँ। सासू माँ, मैं सच कहती हूँ, यह तो बड़ी बहन का आदर देती है। हमेशा सावधान रहती है कि उसकी किसी बात या आचरण से मुझे कोई ठेस न पहुँचे। ऐसे तो रिश्ते में मैं उसकी छोटी बहन लगती हूँ। पर मुझे बड़ी बहन–सा आदर देती है। उसकी इस भलमानसता की जितनी भी प्रशंसा करूँ, वह कम ही है।''

उसकी प्रशंसा से आलंबिनी को बड़ा आनंद आया। उसने पूछा–''तो तुम्हारा काम क्या होता है ? रसोई का सारा काम वही सँभालती होगी।''

''मेरा काम ! प्रातः काल स्नान कर अनुष्ठान के लिए बैठ जाती हूँ। फिर उसके साथ ही भोजन करती हूँ। उसके मासिक धर्म की अवधि में, उसके द्वारा किए जानेवाले सारे कार्य मुझे करने का अवसर मिलता है। उनके समय पर स्नान एवं भोजन की व्यवस्था, बस यही है मेरा काम।''

''अस्तु, तुम पति-पत्नी दोनों का आपसी संबंध ठीक है न ?''

''वे देवता पुरुष हैं। अपने प्रिय शिष्य-सा आचरण मुझसे किया करते हैं। किंतु मेरा मन कहता है कि उनसे बढ़कर कात्यायनी को ही मुझ पर अधिक स्नेह है।''

''यह बात तुमसे सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आप दोनों सौत न रहकर बहनें बनी हैं। यह तो हमारा सौभाग्य है। मेरा आशीर्वाद है कि तुम इसी प्रकार बने रहो। अस्तु, मैत्रेयी कात्यायनी ने कौन-कौन से अचार बनाए हैं। अभी पापड़, बड़े,और विशेषकर, आम की 'मिडी' (मिडी : दक्षिण कन्नड ज़िले में मिलनेवाली विशेष प्रकार की आम की कैरी है जिसका अचार बढ़िया समझा जाता है) अचार बनाया है कि नहीं।''

मैत्रेयी हँसकर बोली–''मैंने सोचा था कि आप भगवती कात्यायनी के बारे में पूछ रही हैं; पर आपने गृहणी कात्यायनी के बारे में पूछा है। अस्तु 'मिडी' अचार बन गया है। जब काम बढ़ जाता है तब मुझे बुलाती है। अन्यथा यदि मैं उसके काम में हाथ बँटाने के लिए स्वयं आगे बढ़ूँ तो टालते हुए कहती है– दीदी, यह सब मुझ पर छोड़ दो। तुम्हारा जन्म आँखें मूँदे ध्यान में बैठे रहने के लिए हुआ है। तुम जाओ। तुम अपना काम करो। मैं अपना करूँगी? लगता है कि मैंने पिछले जन्म में ईश्वर की आराधना बड़ी लगन से की है। उसी का फल है कि मैं इस घर की बहू बनी हूँ।''

तब तक कात्यायनी स्नान कर आ गई। उसने कहा–''उठो दीदी, अभी तुम्हें स्नान करना है। सासू माँ को स्नान कराना है।'' फिर सास से कहा-''क्यों माँ, आपने ऐसा क्यों किया! आने से पूर्व सूचना दे देतीं ? वह भी झुलसाती धूप में निकली हैं। न जाने रास्ते में आपको कितना कष्ट हुआ होगा?'' यों वह सासू माँ की परिचर्या एवं उपचार में लग गई।

रात को विलंब से माँ और पुत्र भोजन करने बैठे। कात्यायनी ने जैसे जादू की छड़ी घुमाई हो–सांबर, भात, चटनी बना ली थी। साथ में बड़े, संडिगे आदि तले थे। सज्जन हृदय-सा सुगंधित घी रख दिया था। अच्छी तरह जमा स्वादिष्ट दही भी था। मन को आनंद देनेवाला भोजन हो गया।

मैत्रेयी एवं कात्यायनी ने भोजन किया। वे सासू माँ के पास आईं तो वे पान खा रही थीं। उन्होंने अपने आने का आशय बताया। पुत्र ने पूछा कि कौन-कौन साथ चल रहे हैं ? उसने यात्रा पर चलनेवाले सभी का नाम बताया। पुत्र ने पूछा–''गार्गी भी हमारे साथ चल रही हैं। यह कैसे हुआ? उनका विद्या-प्रस्थान ही हमसे भिन्न हैं।''

माता ने राजप्रासाद में चली चर्चा के बारे में उसे अवगत कराया। ज्ञानसत्र की बात बताकर यह भी कहा कि इसी कारण से गार्गी आ रही हैं।

पुत्र ने कहा–''आप लोगों को इतनी दूर जाने की ज़रूरत नहीं थी। ज्ञानसत्र होगा भी तो वैशाख से पहले नहीं होगा। देश-विदेश के विद्वानों को निमंत्रण भेजना पड़ेगा। उसके लिए पर्याप्त पूर्व तैयारी चाहिए। वह तो इतना सरल नहीं, शीघ्र होनेवाला नहीं। हमारे आने से पूर्व यदि ज्ञानसत्र संपन्न हो जाए तो हमारी क्या हानि होगी ? अस्तु, वह सब छोड़ो। तुम कह रही हो कि मैं भी तुम लोगों के संग चलूँ। वह तो होगा, क्योंकि माता की आज्ञा को मान्य करना हमारा धर्म बनता है। मैं तो चल रहा हूँ। अब इन दोनों से पूछ लो। वे क्या करेंगी ?''

''हाँ, बैल के संग उसकी पूँछ तो चलेगी? क्यों दीदी।'' मैत्रेयी ने कहा- ''नहीं तो और क्या? हम चलेंगी ही।''

देवता का अनुग्रह

महाराजा ने मंत्री आदि राज्य के पदाधिकारियों के संग चर्चा कर निर्णय लिया कि ज्ञानसत्र ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी से पूर्णिमा तक चले। उनकी इच्छा थी कि इस ज्ञानसत्र में सुदूर मिस्र, फणि, हिमालय के उस पारवाले अक्षमाला एवं चीन देशों से; दक्षिण के नामी गुरुकुलों से, ब्रह्म, श्याम, मलय आदि देशों से विद्वान् आएँ तथा इस ज्ञानसत्र में भाग लें। सभी ने विचार कर इस तिथि पर स्वीकृति दी, क्योंकि हमारे निमंत्रण को उनके पास भिजवाने में एक महीने का समय लगेगा। वहाँ से हमारे पत्र वाहक के लौटने में और एक महीना लगेगा। सुदूर देशों के विद्वानों के यहाँ पहुँचने में एक डेढ़ महीने का समय लगेगा। तो यों तीन महीने की अवधि चाहिए ही। अतएव ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी को ही आरंभ करना सही होगा।'' उस दिन की मंत्रणा में भार्गवजी अनुपस्थित थे।

राजाज्ञा हुई तो उसी दिन से यज्ञमंडप,विद्वानों के ठहराने के लिए आवास, जलाशय आदि का निर्माण आरंभ हो गया। अगले दिन शुभमुहूर्त में राजा ने ज्ञाननगर की नींव रखी। नगर के उद्यानों में आवास, यत्र-तत्र अस्थाई जलाशय तथा उसकी दक्षिण दिशा के एक विशाल मैदान में यज्ञमंडप का निर्माण होने लगा।

यज्ञमंडप विद्वानों, महाराजाओं एवं दर्शकों को यथायोग्य आसीन होने के लिए विस्तृत आकार में बनाने का निश्चय हुआ।

गंगा-यमुना तटप्रदेशों में, सिंधु-सरस्वती नदियों के आसपास, दक्षिण की नर्मदा, ताप्ती,कृष्णा, गोदावरी, कावेरी एवं ताम्रपर्णी नदियों के देशों में, समुद्र तट पर जो गुरुकुल एवं आश्रम थे उनमें रह रहे समस्त विद्वज्जनों के पास निमंत्रण भेजे गए। इसके साथ-साथ दूर-दूर देशों के राजा-महाराजाओं के पास भी निमंत्रण भेजकर यह निवेदन किया गया कि अपने यहाँ के विद्वानों को साथ लेकर वे सब स्वयं पधारें।

ज्ञाननगर का निर्माण तेज़ी से होने लगा। कुएँ, ताल, आदि बन रहे थे। कृत्रिम गिरि, वन, चबूतरों, छायाच्छादित राजपथ-सभी का निर्माण हो रहा था। बड़ा विशाल भव्य मंडप बनकर खड़ा हो रहा था। वणिक लोग आने वालों को वणिक-जिंस उपलब्ध कराने के लिए राज-सहायता से उनका भंडारण करने लगे थे। राजाज्ञा से समस्त राजधानी सजकर तैयार हो रही थी। राजधानी के आसपास रह रहे ग्वाले आनेवालों के उपयोग के लिए दूध, घी, दही आदि के लिए आवश्यक पूर्व तैयारी में लगे थे। सारी क्रियाएँ नगर-निर्माण की ओर अग्रसर थीं। राजा अपने मित्र एवं परिजनों के संग घोड़े पर नगर परिभ्रमण कर स्वयं पर्यवेक्षण कर रहे थे।

सहसा महाराजा को एक दिन गंभीर विचार प्रताड़ित करने लगा-'मैं क्या चीज़ हूँ? इतने बड़े आयोजन से जुड़कर मैंने कोई अविवेक तो नहीं किया? कल को जग-हँसाई होगी तो क्या करूँ? इतने सारे राजे-महराजे एवं विद्वज्जनों को निमंत्रण भेजा जा चुका है। यदि वे सभी उपस्थित हो जाएँ तो क्या होगा?' फिर सांत्वना कर ली-'क्या हुआ, आ जाएँ तो आ जाएँ, हमारे राज्य में कुबेर सदृश वणिक जन हैं। यदि राजकोष से काम नहीं चलेगा तो उनसे ले लिया जाएगा।'

एक ओर से भगाने पर दूसरी ओर से आ बैठनेवाली गरमी के मौसम की मक्खी की तरह वही चिंता पुनः बाधित करने लगी : आनेवाले विद्वानों को मार्गव्यय के साथ-साथ सहस्र स्वर्ण तो देना पड़ेगा। अन्यथा इसको ज्ञानसत्र कैसे कहा जाए? ऐसे विद्वान् अकेले थोड़े ही आएँगे ? प्रत्येक के साथ उनके चार-पाँच

प्रमुख शिष्य भी आएँगे ? उन्हें रिक्त हस्त लौटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक को सौ स्वर्ण मुद्रा तो देने होंगे। इसके अतिरिक्त उनके भोजन एवं उपचार पर बहुत सारा धन व्यय होगा। ऐसे में कम से कम एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा तो चाहिए ही। इतना सब कहाँ से आए?'

महाराजा को रात का भोजन रुचा नहीं। सुकोमल शय्या पर लेटने पर भी आँखें नहीं लगीं। उन्होंने हिसाब लगाया–राज्य की आय कितनी है, पूर्व के राजाओं द्वारा संग्रहीत धनराशि क्या है, अब प्रयास करें तो कितना कुछ संग्रहीत किया जा सकता है ? सब कुछ मिलाने पर भी वह पचास लाख को पार नहीं कर रहा था। पर इस ज्ञानसत्र के लिए एक करोड़ तो चाहिए ही। महाराजा को चिंता प्रताड़ित कर रही थी। उनको ज्वर हो गया। उस निस्तब्ध रात्रि में अपने निश्वास की ध्वनि ही उनके कानों में बादल के गर्जन-सी सुनाई देती। महाराजा लेटे रह नहीं पाए, उठ बैठे।

तभी उन्हें एक अन्य विचार सताने लगा–'मैं यह सब कुछ क्यों कर रहा हूँ? ब्रह्मिष्ठ गुरु को पाने के लिए तो है। जहाँ तक मेरी समझ है, इसके लिए केवल भगवान् ही सर्वथा योग्य हैं। किंतु क्या विदेशों में विद्वान् नहीं होते? यदि उनमें से कोई इनसे श्रेष्ठ सिद्ध हो जाए तो क्या किया जाए ? ऐसी स्थिति में मैं ही भगवान् की अवमानना का कारण बनूँगा। तो क्या मैं स्वयं अपने अभिमान की तुष्टि के लिए ही यह सब कुछ कर रहा हूँ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, उस दिन मैं उनके आश्रम में गया, उनसे संहिता ब्राह्मणोपनिषद् सुनी, उससे उनके प्रति मेरे मन में आदरभाव जागा। वह दिनोंदिन बढ़ रहा है तथा उसने महावृक्ष का रूप धारण कर लिया है। मैं उनके प्रति आदराभिमान के वशीभूत होकर बहुत दूर आ गया हूँ। अब उससे प्रत्यावर्तन संभव नहीं। अब मुझे अपने वर्तमान एवं भविष्य की सारी जमा-पूँजी का विनियोग कर इस ज्ञानसत्र को सफल बनाना होगा। किंतु क्या यह संभव होगा?'

महाराजा भयभीत थे। चिंता खाए जा रही थी–'कैसा अविवेक हो गया? अब इसका परिमार्जन असंभव हो जाए तो क्या करूँ।' सहस्रों नहीं, लाख-लाख शत्रु सैनिकों के सागर को देखकर जो विचलित नहीं होता था आज वह भयभीत हो चुका है। छोटे बच्चों को रात के भूत का डर दिखाने पर जैसे वे काँप जाते हैं वैसे इस मध्यरात्रि में भी उनकी देह से पसीना छूट रहा है। बार-बार शरीर को पोंछ लेते हैं। पर पुनः वही सोच घेरती है और वही पसीने का स्नान। उस भीत अवस्था में

उन्हें अपने स्थान-मर्यादा का भी ध्यान नहीं रह गया। उन्हें यह भी नहीं सूझता कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए। उस अंधकार में वे दृष्टिहीन, श्रवण-शक्तिहीन से हो गए हैं। उठने की शक्ति नहीं, पड़े रहना भी दुष्कर हो गया है। आँखें खोलने से भी डर लगता है। अंततोगत्वा वे अपने अस्तित्व को भुला बैठे हैं। यह भी मालूम नहीं हो रहा है कि मन में भय किस कारण से समाया हुआ है। केवल भय ही भय वहाँ राज्य कर रहा है; उनकी देह भर में कँपकँपी की अनुभूति हो रही है।

यों कुछ समय तक वे छटपटाते रहे। सुस्ती सीमा पार कर गई। प्राण मानो कंठ में आ गया था। देह में अवस्थित सारी इंद्रियाँ मानो कह रही थीं–''अरे, इस भाँति भयभीत व्यक्ति की देह में हम अब नहीं रहेंगी।'' यों इंद्रियाँ भी चेष्टा-विहीन हो रही थीं। देह का छटपटाना भी अवरुद्ध हो चुका था। इस दशा में जीव स्वप्न देखता है:

-स्वप्न में वृक्षों का एक भारी झुरमुट दीख पड़ता है। वहाँ अँधेरा इतना गहरा है कि कोई चाहे तो उसे हाथों से बटोरकर बोरे में भर सकता है। जिस ओर दृष्टि करो एक सघन वृक्ष आड़े आता है। वृक्षों के बीच में से वह दृष्टि चीरकर निकला चाहती है, किंतु उसमें वह विफल हो रही है। कुछ-कुछ भय से आवृत है। अंधकार का आसरा पाए हुए द्विपादी एवं चतुष्पादी जीव उन पर धावा बोलने की ताक में हैं। वे स्वयं अकेले हैं। उनसे अपने को बचा लेने के लिए उनके हाथ में एक पतला-सा काष्ठ भी नहीं। उनकी संख्या सैकड़ों में है। तो क्या किया जाए?

-तभी कोई आवाज़ देते हुए प्रविष्ट होता है– ''जनक, यह क्या? यह भय क्यों? यह अंधकार, ये वृक्ष, आक्रमण के लिए बढ़ रहे ये प्राणी– यह सब केवल तुम्हारे मन की सृष्टि है। उसका निराकरण जानो। उन सबको तुम स्वयं को ही मानो। तुम उनसे भिन्न नहीं। ये सब एक में मिले हुए हैं और वह एक तुम्हीं हो।''

यद्यपि जनक की समझ में बात स्पष्ट नहीं आ रही थी, तथापि उनके आदेश का पालन करता है। अब उनके मन को ग्रस्त 'देहभाव' मिट जाता है। वे स्वयं चेतन-भाव में अपनी सर्वव्याप्ति को पहचान लेते हैं। अब उन्हें प्रतीत होता है कि डर किससे? चूँकि वे ही सब में व्याप्त हैं तो डरें किससे? अब आकाश, आसपास के सारे जड़-चेतन प्रसन्न हो जाते हैं। अब तक घेरा हुआ भय, कौतूहल सब तिरोहित हो जाता है। कोई कहता है–'अभयं वै प्राप्तोसि जनक:'; फिर आशीष के रूप में सब उनके सिर पर हाथ धरते हैं। अब जनक हर्ष से उनका पादाभिवंदन करते हैं। जब उठकर देखते हैं तो उन्हें लगता है कि वे जाने-पहचाने वृद्धजन हैं।

पर स्मरण नहीं होता। पुन: पैनी दृष्टि से देखकर प्रश्न करते हैं–''आप भगवान हो तो नहीं ?'' आगंतुक हँसता है।

अब हँसी दब जाती है, दृश्य परिवर्तित होता है। वे सुवर्णमय, कांतियुक्त अनजाने दिव्यलोक में हैं। वहाँ पर्वत सदृश विशाल भवन है। उसके सम्मुख स्वयं सर्वालंकार–भूषित हो खड़े हैं। गले के पुष्पहार अभी विकसित हो रहे हैं तथा सर्वत्र पसरी गंध को और गाढ़ा बना रहे हैं।

द्वार पर जो खड़े थे, वे आगे बढ़ते हैं तथा इनका स्वागत करते हुए कहते हैं–''पधारिए! देव गुरु आपकी प्रतीक्षा में हैं।'' भीतर एक कक्ष को पारकर दूसरे कक्ष में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ एक स्वर्ण मंडप है। वहाँ इधर–उधर सुवर्ण दीपस्तंभों में घी के दीप प्रज्वलित हैं। उस मंडप में रत्नपीठ पर एक व्यक्ति विराजे हैं। जो उनको भीतर तक लिवा लाया था वह उनकी ओर निर्देश कर कहता है–''आप ही देवगुरु हैं, अब पधारें।'' यों अपने ओठों पर हाथ धरे ही वह कह देता है तथा वहाँ से निष्क्रमित होता है।

जनक भय–भक्ति सहित उस पुरुष–मूर्ति के पास प्रसादाकांक्षी–सा हाथ जोड़े खडे हैं। देवगुरु युवा–सा दीख रहे वृद्ध लगते हैं। उनके हँसने से सारी दिशाएँ प्रकाशित होती हैं। लगता है कि वहाँ वे सर्वत्र विद्यमान हैं। वे स्वयं जनक से प्रश्न करते हैं–

''क्यों जनक, समस्त भय छँट गया न ?''

उस प्रश्न को सुनकर जागृत अवस्था में जो भय व्याप गया था मानो वह पुन: उन पर दबाव बढ़ा रहा है। मुख विवर्ण हो जाता है। देह–भर में ताप की प्रतीति होती है। देह से पसीना छूटता है। ''देव रक्षा करें। मेरे इस भय को नष्ट करें।'' अब राजा पुन: नमस्कार करते हैं।

देवगुरु हँसकर बोलते हैं–''भय तो गया, पर उसका स्मरण अभी शेष है। जो कार्य तुम करने जा रहे हो, वह तो देवताओं का है। अतएव इसका पूरा व्यय, वे ही भरेंगे। तुम्हारे राजप्रासाद के दक्षिण पार्श्व में केला लगा बग़ीचा है न, वहाँ एक फणस का वृक्ष है। उसके पार्श्व में कमर–भर खुदवाओ। वहाँ तुम्हें चार कड़ाहे भर स्वर्ण मिलेगा। इस ज्ञानसत्र के लिए उसका उपयोग करो। तुम्हारा दूसरा भय भी निष्कारण है। जो स्वयं सर्वज्ञ हैं, उनकी पराजय कभी नहीं होगी। अब से तुम धैर्य धारण करो कि तुम्हें देवताओं का अभय प्राप्त है। तुम निश्चय ही यशस्वी बनोगे।'' यों कहकर आशीर्वाद स्वरूप उन्होंने हाथ ऊपर किया। अब राजा के मन का बोझ जाता रहा। उन्होंने मन:पूर्वक देवगुरु को नमस्कार किया।

अब राजा स्वप्न से जागे। औंधे मुँह जो लेटे थे, उठ खड़े हुए। अब रातवाले बुरे संकेत नहीं रहे। देह हलकी थी, चित्तादि प्रसन्न थे। मंदवायु प्रातः के आगमन की सूचना दे रही थी। दूर होता अंधकार इसका साक्षी रहा। इधर-उधर कलरव करते पक्षी भी हाँ में हाँ मिला रहे थे।

पिछली रात जो कुछ घट चुका था राजा उसका स्मरण कर रहे हैं। उन्हें आश्चर्य हो रहा है कि कुछ भी विस्मृत नहीं हुआ है। स्वप्न का भी स्मरण हो आया। वह पूरा का पूरा आँखों के सामने दृष्ट-सा है। सारी जानकारी यथावत् ज्ञात है।

राजा को कभी नहीं लगा कि वह स्वप्न उनके मन की भ्रांति का परिणाम है। भगवान् स्वप्न में आए हुए थे। उन्होंने कहा था-''सब कुछ तुम ही हो। अभयं वै प्राप्तोसि जनक।'' उसके उपरांत देवगुरु ने दर्शन देकर निधि के बारे में जानकारी दी थी। यह भी कहा था। ''तुम्हें देवताओं का अभय प्राप्त है। तुम निश्चय ही यशस्वी बनोगे।'' राजा ने निश्चय किया कि प्रातःकर्म संपन्न कर उस स्थान पर खुदवाऊँगा; परखकर देखूँगा कि यह सच है कि नहीं। कुछ ही देर में मंगलवाद्य बज उठे। चारण-भाटों ने उनकी स्तुति गाई। वे आज उन्हें भविष्य के दूत के रूप में बहुत प्रिय लगे और उन्हें प्रोत्साहित किया।

राजा ने आदेश दिया-''मंत्री एवं कोषाध्यक्ष को तत्काल उपस्थित होने का आदेश भेजो। भूमि खोदने के लिए चार सेवक भी साथ लाओ।'' यों कहकर वे स्नान करने चले।

राजा प्रातःकर्म संपन्न कर प्रस्तुत हुए। तब तक मंत्री जी एवं कोषाध्यक्ष आए हुए थे। राजा ने उनका गौरव स्वीकार करते हुए रातवाले स्वप्न का वह अंश उन्हें बताया जिसे बताना उपयुक्त था। उनके साथ वे केलेवाले बग़ीचे में पहुँचे। साथ में सेवक भी थे।

केलेवाले बग़ीचे में फणस के चारों ओर के प्रदेश में केवल पूर्व की ओर खोदा जा सकता था। राजा ने वहीं खुदवाया। कमर तक खोदने पर सब्बल किसी धातु के पात्र से टकरा गया। रवण-रवण की आवाज़ हुई। सबका कौतूहल दुगना हो गया।

खोदना जारी रखा। अब एक कड़ाहा दीख पड़ा। उसे ऊपर की ओर खींचा गया। उसके ऊपर पहुँचने पर राजा ने भी हाथ देकर उसे ऊपर ले लिया। उसको मिट्टी से अलग किया गया। उसे गठे बदनवाले चार आदमी ही उठा सकते थे। उस कड़ाहे का मुँह एक पाषण फलक से ढँका हुआ था। कड़ाहे के दोनों ओर ऊपर

उठाने के काम आनेवाले दो मूठ थे। कड़ाहा पीतल का बना हुआ था। उसका बाहरी आवरण एकदम ठीक-ठाक स्थिति में था।

मंत्री एवं कोषाध्यक्ष ने सम्मिलित प्रयास से उसे ऊपर ले लिया। खोलकर देखा तो उसमें तीन उँगलियों जितनी चौड़ी स्वर्ण मुद्राएँ थीं। उसके एक भाग पर छत्राच्छादित सिंहासन पर आशीर्वाद मुद्रा में बैठे राजा की आकृति थी; दूसरे भाग पर किसी अज्ञात लिपि में एक श्लोक खुदा हुआ था। उसके मध्य भाग में एक वृक्ष था, उसके नीचे थी एक धेनु। एक कड़ाहे के नीचे दूसरा कड़ाहा, उसके नीचे और एक, उसके भी नीचे और एक। मंत्री, कोषाध्यक्ष एवं सेवकों की सहायता से वे चारों कड़ाहे राजप्रासाद में ले जाए गए। कोषाध्यक्ष ने कुछ गणकों की सहायता से गिनकर देखा तो प्रत्येक कड़ाहे में एक-एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ थीं। कोषाध्यक्ष ने कहा-''यहाँ के एक-एक सिक्के हमारे पच्चीस-पच्चीस सिक्कों के बराबर हैं। अर्थात् इस पूरी धनराशि का मूल्य एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ हुईं।''

राजा को स्मरण हो आया कि उन्होंने एक करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने आदेश दिया-''यह पूरी राशि ज्ञानसत्र के विनियोग के लिए सुरक्षित कर दी जाए।''

कोषाध्यक्ष ने कहा-''यदि आदेश हो तो इन सबको अपने राज्य के सिक्कों के रूप में ढलवाने की व्यवस्था कर दूँ।''

राजा ने कहा-''हाँ, किंतु दस हज़ार मुद्राएँ प्रत्येकित कर दें। शेष सब मुद्राएँ हमारे सिक्कों में परिवर्तित कर ली जाएँ।''

उस दिन संध्या तक राजधानी भर में यह समाचार फैल गया। सर्वत्र लोग छोटी-छोटी टोलियों में धीमी आवाज़ में इसी पर चर्चा करते पाए गए। जो समाचार राजवीथि में फैला, वह घरों तक भी पहुँच गया। गृहणियाँ अपना काम छोड़कर पास-पड़ोसियों के घरों का चक्कर लगाने लगीं। उनकी जिह्वा पर यही प्रश्न होता-''क्यों बहना, तुमने सुना ? क्या यह सच है ?'' प्रतिक्रिया में कोई कहती-''कैसे कहूँ बहना, हमने भी सुना तो है। राजा के बग़ीचे में से निकला है न? सुनते हैं-दिनभर गिनते रहे, गिनते रहे, गिनते ही रहे। सुनते हैं कि अभी गिनती जारी है।''

अन्यत्र कोई कह रहा था-''भई, आप लाख कहें, ऐसा निक्षिप्त धन देवकृपा से ही मिला करता है। हमारे महाराजा बड़े देवभक्त जो हैं ! वे तो देवांश संभूत हैं। अन्यथा इतनी बड़ी राशि कहाँ से मिले ?''

''किसने निक्षिप्त किया था ? कुछ समाचार इस संबंध में मिला क्या ?''

''अरे, एक और बात है। सिक्का माने सिक्का है। प्रत्येक सिक्का हथेली भर चौड़ा है। यदि उसको गलाकर हमारे सिक्कों के रूप में ढाला जाए तो एक का सौ बनेगा।''

''यह तो ठीक है? सुनते हैं कि हमारे महाराजा ने सारी की सारी राशि ज्ञानसत्र के लिए आरक्षित कर रखी है। यह तो सनक हो गई भई?''

''अरे, यह कौन बड़ी बात हो गई! आपको मानव स्वभाव का ज्ञान नहीं। अब ज्ञानसत्र करने चले हैं। निक्षिप्त धन जो है। फुकट का माल ! रेवड़ी बाँटो रेवड़ी ! यह कौन–सी बात हुई ?''

''आपने ठीक ही कहा। अन्यथा करोड़ों की राशि कहाँ से लाते ? तीन–चार पीढ़ियों से राजकोष में जो कुछ संग्रहीत था,वह सब उड़ जाता।''

''तो राजभंडार में कितना धन संग्रहीत रहता होगा ?''

''क्या होगा? होगा अधिक से अधिक एक करोड़। हमारे राजा ऐसे–वैसे नहीं। इन जैसा ज्ञानसत्र करनेवाला और कोई है ? ये प्रतिवर्ष विद्वत सभाएँ आयोजित कर विद्वानों को भरपूर दान–दक्षिणा देते आए हैं। यदि ये भी अन्य राजाओं जैसा कृपण होते तो आज राजभंडार में बहुत सारा धन होता।''

तब तक अन्य कोई इस टोली में आ मिला–''और एक बात का समाचार मिला है। सुनते हैं कि उन सिक्कों पर कुछ उत्कीर्ण पाया गया है। उसे पढ़ पानेवाला हमारे नगर में कोई है नहीं।''

''वह तो दोपहर तक का समाचार है। संध्या का समाचार शायद आप नहीं जानते। सुनते हैं कि किसी वृद्ध शिल्पी ने उसे पढ़ दिया है। उसे सौ स्वर्ण मुद्राएँ दी गईं।''

''क्या लिखा हुआ है ?''

''कहते हैं कि 'देवराज मनु' लिखा हुआ है। इनके नाम पर उसे ज्ञानसत्र के लिए रखा जा चुका है?''

''अच्छा, यह बात है! अन्यथा पूरी राशि ज्ञानसत्र के लिए थोड़े ही आरक्षित रखी जाती!''

इस प्रकार देर रात तक बातें होती रहीं। लोगों को बात करने के लिए कोई मुद्दा मिल गया तो और क्या चाहिए ! विशेषकर बात कामिनी या कांचन पर हो तो एक मुँह पर्याप्त नहीं होता। मिथिला नगर इसका अपवाद कैसे रह जाता!

विचार

निक्षिप्त निधि की प्राप्ति के उपरांत इधर राजभवन में राजा की मनोदशा कुछ विचित्र-सी हो गई है। उनके मन को एक ही विचार विक्षिप्त बना रहा है-''तो क्या इस संसार में हमारा जो 'स्व' पर केंद्रित उछल-कूद है वह सब अर्थहीन है? क्या सब कुछ पूर्व निर्णीत है तथा हम उसके निमित्त भर हैं ?''

उन्हें सिक्के पर उत्कीर्ण श्लोक का स्मरण हो आया।

देवराजानुग्रहेण ज्ञानसत्राय संभृतं।
मनुना मानवेन्द्रेण जनकाय निवेदितं॥

''कौन थे ये मनु ? यदि मेरे द्वारा ज्ञानसत्र संपन्न कराने के लिए ही उन्होंने ऐसी निक्षिप्त निधि छोड़ी तो उनका काल कौन-सा है ? अब जो समय चल रहा है वह कौन-सा है ? उन्हें कैसे ज्ञात था कि मैं जनक यहाँ जन्म लूँगा। सबसे बढ़कर यह देवराजानुग्रहेण क्या है ? क्या ये देवता-जन हम पर अनुग्रह करने के लिए ही तत्पर रहा करते हैं ? क्या उनके लिए यही एक काम होता है ? तो उनकी अनदेखी कर हम दुखी हो जाएँगे?

''ऐसा कहते भी नहीं बनता क्योंकि पश्चिम के देशों में हमारे देवताओं की पूजा नहीं होती। उनको किस प्रकार की कमी हुई है ? उन्हीं की बात क्यों? हमारे यहाँ भी ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो कहा करते हैं कि ये देवता आदि हमारे मनोराज्य के विभ्रम होते हैं। ऐसे बहुत सारे लोगों की संपदा आस्तिकों से उत्तम स्थिति में है। ऐसे में हमें इन देवताओं की इस प्रकार की महनीयता स्वीकृति क्यों ?

''अन्यथा यह कोई व्याधि तो नहीं? किसी एक परंपरा से बँधकर उसे त्यागने में असमर्थ लोगों की मनोव्याधि तो नहीं? परंतु यों निष्कर्ष निकाला भी नहीं जाता।

''जो इन देवताओं पर विश्वास रखते हैं,वे अन्यों द्वारा असंभव प्रतीत हो रहे कर्मों को क्रीडावत् बिना श्रम के कर दिखाते हैं। अन्यों की बात छोड़ दें। अपना ही दृष्टांत लें। मेरे मन में प्रेरणा जगी कि ज्ञानसत्र किया जाए? क्यों जगी ऐसी प्रेरणा? पुनः धन की चिंता क्यों प्रताड़ित करने लगी? उसकी परिणति स्वप्नावस्था में क्यों हुई? देवगुरु द्वारा निक्षिप्त निधि के विचार में निर्देश क्यों हुआ ? उनके कथन का यथार्थ बनना तथा निधि की प्राप्ति यह सब क्यों ? मनु द्वारा मेरे ज्ञानसत्र के लिए इसको आरक्षित रखा जाना, यह सब कैसा अद्भुत संयोग है ?

''क्या संसार की समस्याएँ इतनी जटिल हैं? क्या संसार का यह 'नानत्व' हमारी समझ के परे है ?

''क्या इसी 'नानत्व' से ही यह जटिलता है ? कहते हैं न, गाँठ खोलने का जितना प्रयास करो वह उतनी ही उलझेगी। तो क्या किसी समस्या का निदान ढूँढ़ने का जितना प्रयास हम किया करते हैं, वह उतनी ही गंभीर होती जाती है? क्या यही उसका स्वभाव होता है? तो इसको जानें कैसे ?

''हमसे पूर्व जो हो गए हैं, वे सब अंतर्मुखी हुआ करते थे। संसार के नानत्व को नकारकर वे सुखी बने रहे। तो क्या हमें भी उसी भाँति सबको भुला-भुलाकर जीवित रहना होगा? आँखें मूँदते ही कुछ दिखाई नहीं पड़ता।

''हाँ, यही सत्य है। निद्रा की अवस्था में हमें इस संसार के अस्तित्व का स्मरण ही नहीं रहता। तो इसका तात्पर्य है कि इसको भुला देने, इसको कुरेदे बिना रह जाने में ही सुख है ?

''किंतु मैं राजा जो हूँ, इस संसार के बारे में विचार किए बिना कैसे रहूँ ? जब सभी सुखी होते हैं तब मैं उनको भुला सकता हूँ। किंतु जब कोई विपदा आ घेरती है, मन में विक्षोभ होता है, तब उसे कैसे भुलाया जा सकता है ?

''तो सहज बने रहने की स्थिति क्या होती है? सबका विस्मरण या इसके विपरीत सजगता?''

यों विचार-रूपी घोड़े पर आरोहित हो, उसे स्वच्छंद चलने देकर पथराए हुए थे। तभी उनको गुरुदेव की बातों का स्मरण हो आया-''भविष्य में यह सोचकर धैर्य धारण करो कि तुम हमारे आश्रय में हो। तभी विजयी होओगे।''

चिंता में डूबा मन, पुन: भँवर में फँसे सूखे पत्ते की भाँति तिरने लगा-'' तो विजय-रूपी पुरस्कार पाना हो तो क्या हमें विश्वास-रूपी भेंट चढ़ानी होगी ? इस विश्वास के साथ आगे बढ़ना होगा कि देवता हमारे पीठ पीछे हमारी रक्षा में निरत हैं? अन्यथा विजय नहीं है क्या ? तो आज तक जितने भी विजयी हुए हैं, वे सब देवताओं के अनुग्रह से ही विजयी बने हैं? किंतु वे सब यों कहते तो नहीं।

''तो विजय का अर्थ क्या है?

''कोई व्यक्ति मन में कोई इच्छा धारण कर लेता है और उसे अपनी मनोकामना के अनुकूल प्राप्त कर लेता है, यही विजय कहलाती है। कृषक अपने भूक्षेत्र को जोतकर समतल बनाता है, उसमें बीज बोता है और उससे फ़सल पाता है। तब कहता है कि मैं विजयी हुआ। धनार्थी धोखा, प्रवंचना, चोरी, हत्या आदि

को बिना किसी भय के करता है तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कहता है कि लो, मैं सफल हो गया। क्षत्रिय लोगों की टोली बनाता है। अपने प्राणों को दाँव पर चढ़ाकर अन्यों पर आक्रमण करता है, हत्या करता है, लूट-पाट करता है, वैर-भाव पालता है, फिर वहाँ अपना स्वत्व स्थापित कर कहता है कि मैं विजयी हुआ। तो वास्तव में इनमें से जीता हुआ कौन होता है?

''भूक्षेत्र को किसी ने समतल बनाकर खेती की। वहाँ वर्षा से पुन: ऊबड़-खाबड़ असमत्व की स्थिति हो जाती है, तब उसकी जीत का क्या हुआ? बीज बोकर फ़सल उगाने पर यदि वर्षा नहीं हुई तो फ़सल कहाँ होगी? तब उसकी दशा को क्या कहा जाए? माने लें कि वर्षा भी हुई, पर उसने फ़सल को गोबर नहीं दिया, पानी से नहीं सींचा, गोड़ाई नहीं की, बोया नहीं, काटा नहीं अर्थात् पुरुषार्थ नहीं किया, तब उसकी विजय होगी या पराजय? तो मानव के प्रत्येक कार्य के लिए भाग्य का सहारा भी चाहिए न?अर्थात् क्या यही सही है न, पुरुष का स्वप्रयास तथा भाग्य की कृपा दोनों के मेल से ही विजय-प्राप्ति होगी?

''दूध दुहकर पात्र में भरकर ढक्कन से उसे सुरक्षित कर देते हैं। पर बिल्ली कहीं से आ जाती है। ढक्कन गिराकर दूध पी लेती है। रक्षक ग्वाले की उपस्थिति में ही चरती गाय को बाघ उठा लेता है। यहाँ दोनों जीत गए, दोनों का स्वार्थ सध गया। एक धोखे से, दूसरे ने बल से जय पाई। इसमें कौन-सा मार्ग ठीक था ? धोखे से काम बना लेना, या बल से ? या दोनों ग़लत हैं?

''अरे, अब तक मैं जो सोचता रहा, उसका आधार ही नहीं रहा? बिना कन्या के विवाह का आयोजन-सा हुआ। मन से ही मानव महादेव बन पाएगा। यदि मन ही न हो तो मानव क्या कर पाएगा ? अब तक जो भी विचार मैं करता रहा, वह तो मन के कारण ही था। किंतु यहाँ एक और प्रश्न उठता है—क्या मन मेरा वशवर्ती रहा है? या मैं मन के वश में हूँ? *केनोपनिषद्* कहता है, 'केनेषितं पतीत प्रेषितिं मन:' मन अपनी वांछित वस्तु के पास दौड़ पड़ता है न, उसको ऐसी प्रेरणा कौन देता है ? अब तक मैं विजय एवं पराजय के बारे में विचार कर रहा था न? उस तरह की प्रेरणा देनेवाला कौन होता होगा? 'इष्टं पतति मन:' अर्थात् केवल यह वस्तु मुझे प्रिय है, तो अन्य सब अप्रिय है क्या ?

''इससे एक निष्कर्ष निकलता है, मन इच्छा-अनिच्छा का अनुसरण कर व्यापार करता है। कल रातभर मैं चिंता व्याकुल था कि मेरा भविष्य क्या होगा? यहाँ तक कि शिरोवेदना हुई, ज्वर हो गया, विस्मृति थी। मुझे यह भी ध्यान न रहा

कि मैं हूँ कहाँ ? क्या यह सब मन की इच्छा के कारण हुआ? यदि वह सबकुछ नहीं घटता तो क्या निक्षिप्त निधि की प्राप्ति नहीं होती?

''अस्तु, तो कोई मन को प्रेरित कर रहा होगा न ? मन भी घोड़े की भाँति किसी और के कारण उछल-कूद रहा होगा? चूल्हे पर पात्र में धरा जल नीचे की अग्नि के ताप से अपनी इच्छा एवं अनिच्छा से परे होकर उबलता है, इसी तरह मन को भी किसी की प्रेरणा से चलना होगा? किंतु वह प्रेरणा देनेवाला कौन होता है? क्या वह आँखों से ओझल रहकर, छिपकर, हमारे मन को कलछी जैसा उपयोग में ला रहा है ?

''तो क्या देवगुरु के कथन का यही तात्पर्य है ? 'हम तुम्हारे पीछे रहते हैं, इस दृढ़ विश्वास से कार्य करो'–इस कथन की वही व्याख्या है तो उनके तथा हमारे बीच संबंध बनानेवाला मन ही तो होगा। मन के लिए इष्टानिष्ट का निर्धारण कर उसकी ओर प्रवृत्त होने या न होने का कारण ये देवता ही हैं?''

यहाँ आकर जनक का मन शांत हो गया। जँभाई आ गई। अब विचार कुंठित हुआ। तपती धरती पर छिड़के जल की भाँति उनके विचार समाप्त हो गए। आँखें झपकने लगीं। जहाँ उपविष्ट थे, वहीं निढाल होने की इच्छा हो रही थी।

द्वार पर खड़ा प्रहरी याम की समाप्ति पर अपना कार्यभार दूसरे को सौंपकर चला गया। आनेवाले ने भीतर झाँककर अपने स्वामी की उपस्थिति को देख लिया। जानेवाला पीछे मुड़ा और इससे कहा–''स्वामी बड़ी देर से ऐसे ही बैठे हुए हैं। यदि कोई मिलने के लिए आए तो आहट कर भीतर चले जाना।'' उसने सिर हिलाकर हामी भरी।

उसके जाने के थोड़ी देर बाद एक राजपुरुष आए। प्रहरी उन्हें रोक नहीं पाया। उसे मालूम नहीं कि राजा जागे हुए हैं कि नहीं। तो बलात् खाँस दिया। राजा जागे। राजपुरुष भीतर आए। अन्यमनस्क राजा ने उनका आदर स्वीकारते हुए प्रश्न किया–''क्या प्रश्न का समाधान मिल गया ?''

राजपुरुष को उनके इस प्रश्न का आशय स्पष्ट नहीं हुआ। तथापि उसने कुछ कहा–''हाँ। जहाँ निक्षेप था वहाँ शतमाप प्रमाण चावल को पकाकर बलि समर्पित की गई। राजभवन में सहस्त्र जनों को पंक्ति भोज, बाहर धर्मशाला में भी भूरि भोज, गजशाला, घुड़साल एवं गोशाला में भी सामूहिक भोज की व्यवस्था हुई है।''

राजा ने अपने प्रश्न पर स्वयं हँसते हुए कहा–''देवताओं की पूजा दो रीतियों से होती है– हुत एवं प्रहुत। होम करना हुत पूजा होती है। बलि समर्पण प्रहुत पूजा होती है। तो क्या आपने होम की बात को विस्मृत कर दिया?''

''उसका भार पुरोहितजी पर सौंपा जा चुका है। वे स्वयं ही उपस्थित होंगे तथा आपको इस बारे में अवगत कराएँगे।''

तत्काल राजपुरोहित अश्वल पधारे। उन्होंने राजगौरव एवं आशीर्वाद समर्पित कर निवेदन किया–''जैसा कि आदेश हुआ है कल एक हवन की व्यवस्था हुई है। किंतु *गृह्यसूत्र* में इस संबंध की व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिल रहा। अतएव *श्रीसूक्त* के होम के साथ-साथ देवराज इंद्र के लिए एक, देवगुरु वृहस्पति के लिए एक तथा अंत में सृष्टकृत के आचरण का निर्णय हुआ है।''

राजा ने कहा–''निधि प्राप्ति पर क्या करना होगा ? इस संबंध में 'ब्राह्मणों' में उल्लेख मिलता होगा। कल से एक मंडल का होम संपन्न हो। उसी प्रकार यह अलंकार-पंक्ति भोज, भूरि भोज भी संपन्न हो। अलंकार-पंक्ति (अलंकार-पंक्ति विशिष्ट ब्राह्मणों के लिए आयोजित भोज होती है। इसमें विद्वान् एवं निष्ठ पंडितों का ही समावेश होता है) में बैठनेवालों को राजभवन में होम में बैठे ऋत्विजों जितनी दक्षिणा ही दी जाए। 'वित्त शाठ्यं न कुर्यात' अर्थात् दक्षिणा देने में कृपणता न करें।''

राज-पुरुष एवं पुरोहित दोनों ने कहा–''यथाज्ञापयति भगवान्।''

सब तैयारियाँ हो गईं

ज्ञाननगर का निर्माण होने लगा। जल की समृद्ध व्यवस्था का विचार कर गंगा की उपनदी पर बाँध रचकर वहाँ से एक नहर खुदवाकर एक विशाल ताल बनाया गया। नहर के द्वारा ताल में जल प्रवाहित किया गया। ज्ञाननगर में यत्र-तत्र तुलसी वन, फुलवारी, नगर के उपवनों में कमल के ताल, आदि पर विशेष ध्यान देकर नगर की शोभा बढ़ाई गई। ग्रीष्म ऋतुवाली चमेली, इरवंती आदि पौधों को सींचने से उनमें फूल लद गए।

यागमंडप भी बनकर तैयार हो गया। कमर-भर ऊँचा मंच था। उसके दक्षिण एवं वाम भाग में विशिष्ट अतिथियों के लिए आसन बनेंगे। सम्मुख में विद्वान् बैठेंगे। पीछे की ओर राजस्त्रियाँ होंगी। चारों ओर सीढ़ियों पर दर्शक होंगे। यों एक निश्चित आकृति का विस्तृत, ऊँचा मंडप बनकर तैयार हो गया। वायु एवं वर्षा के झोंकों से सुरक्षा प्रदान करने के लिए ऊपर छत तथा चारों ओर दीवारें उठाई गईं।

वैशाख मास तक सत्र में भाग लेने के इच्छुक विद्वान् एवं राजाओं से स्वीकृति पत्र मिल गए। लगभग सात सौ विद्वान् आनेवाले थे। प्रत्येक के साथ दस दस शिष्य भी आनेवाले थे। उन सबके लिए आवासों की व्यवस्था कर दी गई। दस राजे-महाराजे भी आनेवाले थे। उनको नगर के अन्यान्य राजभवनों में ठहराने का निश्चय हुआ।

वणिकों ने राजधन की सहायता पाकर आवश्यक जिंसों का भंडारण किया। राजाज्ञा पाकर मिथिला के आस-पास के ग्वाले दूध, दही, घी आदि का प्रबंधन करने को तत्पर हो गए। राजाज्ञा हुई कि जिनको आवश्यकता हो, वे राज-पशुशाला से आवश्यक संख्या में गायें-भैंसें ले जाएँ।

पर एक राजाज्ञा जो निकली उसका आशय किसी की समझ में नहीं आया। कलश-भर दूध दे पानेवाली सुंदर सहस्र गाभिन गायों का चयन करने की आज्ञा हुई। किंतु किसी को मालूम नहीं था कि यह क्यों किया जा रहा है। सबने मंत्रियों से इस बारे में प्रश्न किया। उन्होंने राजा से पूछा। राजा ने केवल इतना ही कहा–''ऐसी गायें राजधानी से दो दिन के रास्ते पर, जहाँ जल और चारा समृद्ध रूप से उपलब्ध हो, एकत्र कर ली जाएँ। आदेश होने पर उन्हें राजधानी ले आया जाए। 'स्पष्ट मग्रे भविष्यति' अर्थात् क्यों अभी से जानना चाहते हो, समय पर सब कुछ मालूम होगा।'' इतना ही कहकर राजा चुप हो गए।

राजा ने राज-परिवार की दैनंदिन आवश्यकताओं को सँभालने वाले कर्मचारी को बुलाकर पूछा– ''क्यों जी, सहस्र गायों के समूह में कितने साँड़ होने चाहिए।''

उसने कहा–''पच्चीस।''

''हमारे यहाँ हाथी जैसे चुने हुए जो साँड़ हैं उनमें से पच्चीस को चुनकर प्रत्येकित कर देना। जब हम चाहें, तब दान के लिए प्रस्तुत किए जाए।''

''ठीक है, स्वामिन !''

''अच्छा सुनो, सहस्र गायें एवं पच्चीस साँड़, इनके लिए गोशाला बनानी हो तो कितनी भूमि चाहिए! हाँ, बीच में पर्याप्त स्थान खुला रहे। उनकी रक्षा के लिए नौकर, दूध के लिए पात्र, सबका सही हिसाब, आवश्यक मानचित्र, ईंट-पत्थर आदि सबका ब्यौरा तैयार किया जाए। उसको आठ दिनों में बनाकर पूरा करना होगा। उसके बनानेवाले भी तैयार रहें।''

''हाँ, एक सहस्र गायें, उनके बछड़े, साँड़, आवश्यक दाना-पानी तथा चारा रखने के लिए आवश्यक स्थान, उन्हें बाँधने के लिए खूँटे, उनकी देखरेख करनेवाले

गोपालक, उनके लिए आवास–इन सबकी व्यवस्था होनी चाहिए। यही तो श्रीमान जी का आशय है न ?''

''हाँ, तुमने ठीक कहा।''

''जैसी आज्ञा, सब तैयार हो जाएगा।'' उस कर्मचारी ने हाथ जोड़े, अनुज्ञा पाकर वहाँ से चला गया।

अपराह्न बीत चुका है। संध्या आसन्न है। राजा अपने आवास में विद्वज्जनों की गोष्ठी में बैठे, वेद व्याख्या तथा अणु–व्याख्याओं का अनुशीलन कर रहे हैं। द्वारपालक आकर झुककर प्रणाम करता है और बताता है–''भगवती गार्गी आई हुई हैं।'' राजा अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर पूछते हैं– ''क्या गार्गी जी आई हैं? उन्हें सादर लिवा लाओ।'' शेष सभी खड़े हो जाते हैं।

गार्गी जी आईं, उनके साथ दो और महिलाएँ थीं। एक के हाथ में गंगाजल से भरा बड़ा कलश था। दूसरी के हाथ में एक बड़ी थाली थी। उसमें विभिन्न तीर्थ क्षेत्रों से लाया हुआ 'प्रसाद' था। गार्गी ने सभी विद्वानों को दंडवत् प्रणाम किया। राजा को आशीर्वाद–पूर्वक राजगौरव समर्पित किया। साथ में भेंट की वस्तुएँ जो लाई थीं, वे भी दे दीं। वहीं एक पीढ़े पर गंगाजल भरा कलश एवं प्रसाद रख दिए और कहा– ''महाराजा, कृपया ये सब ग्रहण करें।''

राजा ने पूछा–''सभी सकुशल लौट गए न ? कब आना हुआ।''

गार्गी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया–''हम केवल कुछ ही लोग गए हुए थे। साथ में आश्रमवासी कुछ वृद्ध शिष्य भी थे। कुछ सेवक भी थे। महाराजा की कृपा है कि बिना किसी श्रम के लौट आए। भार्गव जी यात्रा से बहुत थके हुए हैं। कल आपके दर्शन के लिए पधारेंगे। देवरात दंपती एवं भगवान् स्वामिन की आज्ञा की प्रतीक्षा में हैं। तत्काल उपस्थित होंगे।''

''भार्गव जी तो हमारे अपने हैं। देवरात दंपती अपना अनुकूल समय देखकर आएँ। भगवान् के आगमन के बारे में आपसे जानकारी मिल गई। हम ही जाकर उनसे मिल लें ? क्यों, क्या विचार है आपका ?''

''आपकी बातें सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, जैसे गंगा नहा आए। भगवान् जी बहुत ही पहुँचे हुए महापुरुष हैं। अतएव उन्हें यहाँ बुला लेने के विपरीत उनके यहाँ जाकर दर्शन कर आने में ही कुशल है।''

राजा ने विद्वानों की ओर देखते हुए कहा–''देखा न, जब स्वयं भगवतीजी का ऐसा विचार है तब हम क्या कहें ! हाँ, आपमें से जिन्हें भी आवश्यक कार्य हो

तो जा सकते हैं। तीन महीने की इनकी अनुपस्थिति हमें व्याकुल किए हुए है। ये हमारी गुरुपुत्री हैं। इनसे आपसी सुख–दुख की बातें करनी हैं। अतएव हम कुछ अधिक समय के लिए इनके साथ बैठेंगे।''

राजा के आदेश से गार्गी ने आसन ग्रहण किया। राजा भी उपविष्ट हुए। शेष विद्वानों ने अपने ग्रंथ समेटे, पर वहीं बैठे रहे।

अब संवाद आरंभ हुआ। राजा के निवेदन से गार्गी ने अपने द्वारा दर्शित क्षेत्रों के बारे में कह सुनाया–''महाराज, एक बात है। साधारणतया लोग कहा करते हैं कि गंगा, भागीरथी का देवलोक से अवतरण हुआ है। शिव के जटाजूट से वे निकली हैं। किंतु हमें यह अवगत नहीं कि गंगा किस कारण से हमारे लिए तारिणी हैं। अब की बार की यात्रा में इस संबंध में मुझे इसका ज्ञान हुआ।''

''सुनकर हम भी तर जाएँगे। आप कृपाकर हमें भी अवगत करा दें।''

''सुनिए, इस ब्रह्मांड कटाह (ब्रह्मांड का आवरण) के चारों ओर दिव्योदक है। बहुत पूर्व में वामन जब त्रिविक्रम बने थे, तब उनके अँगूठे के घात से ब्रह्मांड में छेद हो गया। दिव्योदक भीतर की ओर प्रवहित हुआ। इतने में ब्रह्माजी वहाँ पधारे। उस दिव्योदक को उन्होंने अपने कमंडल में भर लिया और वहाँ बने छेद को पाट दिया। उन्होंने प्रभु की पूजा की तथा वहाँ से चल दिए। वही दिव्योदक गंगाजी हैं। यों वह विष्णु पादोद्भवा हैं। इधर सूर्यवंश के भगीरथ ने अपने पितरों को मुक्ति प्रदान कराने की कामना से ब्रह्माजी के कमंडल में सुरक्षित गंगाजी को पाने के लिए तपस्या की। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा–'अध:पात करनेवाली गंगा के वेग को धारण करने में केवल शंकर भगवान् समर्थ हैं। उनकी तपस्या कर उन्हें मनाओ। तभी मैं तुम्हें गंगा दे सकता हूँ।' उनके आदेश का अनुपालन करते हुए भगीरथ ने शंकर से निवेदन किया। शंकर भगवान् ने गंगा जी को अपने शीर्ष स्थान में धारण किया। उनकी जटा से निकली गंगा ने भगीरथ का अनुसरण करते हुए सागर को भर दिया। फिर पाताल में पहुँचकर पितरों द्वारा तजी राख को धो डाला, उनका उद्धार किया। उस कथा से अवगत हम भी यह विस्मृत कर गए कि गंगा का संबंध त्रिमूर्तियों से है। यह एक बात हुई न, अब दूसरी भी सुन लें।

''कहते हैं कि गंगास्नान करने से सारे पाप धुल जाते हैं। पर यह नहीं जानते कि वह कैसे संभव होगा। मैंने यह प्रश्न पूछा। भगवान् ने कृपा कर हमें बताया कि गंगास्नान का फल क्या होगा?''

जब सुना कि भगवान् ने इसके बारे में कहा है तो सभी चौकन्ने होकर सुनने लगे।

''हमारी देह में अन्नमयादि पंचकोश हैं। प्रत्येक कोश में एक न एक भाँति का पाप बसा हुआ है। गंगास्नान करने से इन पाँचों कोशों का पाप क्षीण हो जाता है। उन्हें परिपूर्णता की ओर जाना सुगम हो जाता है।

''हमारे विदग्ध कैसे पुण्य पुरुष हैं। उन्हें गंगास्नान का अवसर यदा-कदा मिल ही जाता है।''

''हाँ, सच है, किंतु शास्त्र कुछ और ही बात कहता है। विद्यासंपन्न जो कार्य करता है वह विद्याविहीनों द्वारा किए जानेवाले कार्य से श्रेष्ठ होता है। इस दृष्टि से यह कहना संभव नहीं होगा कि विदग्धों को गंगास्नान का कितना फल मिलेगा!''

''यह क्या ? यह बात आप कह रहे हैं ?''

''हाँ, महाराज, हम सब ब्रह्म की बात करते वाचा हो गए हैं तथा भीगे पत्थरों के समान बन चुके हैं । हम बात कहना जानते हैं, ब्रह्म को नहीं जानते। वर्षा में भीगा पत्थर ठंडा भी पड़ जाता है। किंतु पृथ्वी की भाँति जल सोख नहीं पाता। हमें भी वैसे ही बनना होगा। पत्थर को मिट्टी बनना होगा। मिट्टी बालू न बने, तरल मक्खन जैसी मिट्टी बने। तब आप उसमें कुछ भी बोएँ, अच्छी फ़सल होगी। किंतु मेरा अनुमान है कि हम अभी तक पत्थरवाली अवस्था भी पार न हो पाए हैं ।''

गार्गी की आँखें गीली हो गई थीं। सुननेवालों ने आपस में एक-दूसरे की ओर देखा। राजा ने पूछा—''तो क्या आपने अब की बार गंगास्नान किया? उससे फल की प्राप्ति हुई ?''

''मेरी धारणा है— हाँ। पूर्व में मुझमें यह अहंकार समाया हुआ था कि मैं ज्ञानी हूँ, मुझसे बढ़कर ज्ञानी कोई नहीं। किंतु जब भगवान् से उपनिषद् सुना, तब मन में संदेह पैदा हुआ। इस यात्रा के उपरांत मुझे अवगति हुई कि मुझे केवल शब्द एवं केवल वाक् की अवगति है, अर्थ की कदापि नहीं। इसको स्पष्ट रूप में कहने का साहस भी आ गया। बस, अब ये सारी बातें छोड़िए। ज्ञानसत्र के बारे में कहिए।''

राजा का ध्यान उचटा हुआ था। वे विचार कर रहे थे कि मुझे पूर्ण विद्या पाने से पूर्व गंगास्नान कर आना चाहिए। परिशुद्ध बनना चाहिए। गंगादेवी के दर्शनार्थ जाने से पूर्व भगवान् के दर्शन कर उनकी अनुज्ञा पाकर जाना होगा। तभी उनको लगा कि गार्गी जी कुछ पूछ रही हैं। तो उन्होंने कहा—''आपने कुछ कहा?''

गार्गी ने हँसते हुए कहा–''मैंने पूछा कि आपके ज्ञानसत्र का आयोजन कहाँ तक पहुँचा है ?''

राजा ने हँसकर कहा–''वह ऐसा है, सुनिए।'' उन्होंने उस दिन रात को जो कुछ हुआ, उसके बारे में बताया। फिर स्वप्न में देवगुरु द्वारा निक्षेप के बारे में रहस्योद्घाटन आदि के बारे में बताकर निधि की प्राप्ति की बात कह सुनाई। देश-विदेश से विद्वानों के आने के बारे में सूचना दी, फिर यहाँ के समस्त आयोजन आदि के ब्यौरे दिए। उनसे निवेदन किया–''कल आप हमारे साथ चलें। आप स्वयं देख लीजिएगा।''

''आप अश्व पर बैठकर निरीक्षण करेंगे न ?''

''न, कल अश्वरथ में जाया जा सकता है। अस्तु, हममें एक परिवर्तन आया हुआ है। जब से निक्षिप्त निधि मिली है तब से मुझे प्रतीत हो रहा है कि इस संसार का कर्त्ता और कोई है। हम तो केवल उनके द्वारा नियुक्त सर्वाधिकारी बन कार्य कर रहे हैं। अब तो मैं राजकार्य केवल प्रातः में करता हूँ। दुपहर को विश्रांति के समय में जप करने की इच्छा होती है। नींद को टालने की इच्छा होती है। किंतु अभी वह प्रयास सफल नहीं हुआ है। अपराह्न के समय इन सारे विद्वानों को बुलाकर वेद-शास्त्र आदि का पुनरीक्षण करता हूँ।''

''यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आप समय का सदुपयोग कर रहे हैं। मैंने आपसे अभी तक नहीं कहा। आपका मन परिपक्व हो रहा है। ज्ञानसत्र संपन्न करने पर आपको भी सर्वज्ञ दर्शन हो। देखें कि इसके बाद क्या होगा?''

''क्या आपको सर्वज्ञ दर्शन हो चुका है ?''

''हुआ, यही नहीं, उन्होंने कृपा कर यह भी कहा कि प्रत्येक व्यक्ति सर्वज्ञ बन सकता है। सर्वज्ञ बीज तो सबमें अवस्थित है। किंतु किसी को उसकी चाह नहीं रही।''

''कौन हैं ये सर्वज्ञ।''

''कौन क्या ? भगवान् तो हैं ?''

राजा ने सुना तो अवाक् रह गए।

गार्गी ने मानो प्रश्न का उत्तर दिया–''कोई किस प्रकार के शोध में लग जाता है–इसी पर सब कुछ निर्भर करता है। काल-देश की सीमा में परिमित किसी वस्तु की कामना कामवृत्ति बन जाती है। जब तक काम का मन पर आधिपत्य होता है,

तब तक सर्वज्ञ बीज अंकुरित नहीं होता। जब काल–देश की सीमा से परे अवस्थित पूर्ण को चाहने लगें तभी वह अंकुरित होता है। शेष सबसे बढ़कर उसी को महत्त्व देंगे तथा उस ओर आकृष्ट होंगे तो वह अंकुर पौधा बनेगा। जब वह बड़ा बनेगा, तब शेष सभी को खा जाएगा। जब वह इस दृश्य पर पूर्णरूप से हावी हो जाता है, तब मन सर्वज्ञ बन जाता है। जब वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब मन वाक् में और वाक् मन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तथा मानव मूक बन जाता है, अंतर्मुखी हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यदि दूसरों पर अनुग्रह करने के आशय से कुछ कहता है तो उसके मन से निकली वह वृत्ति सगर्भ होकर निकलती है। वही तत्वज्ञान बन जाता है। तब उसे अपने आगे ब्रह्म, पीछे ब्रह्म, नीचे ब्रह्म, ऊपर ब्रह्म, दाएँ ब्रह्म, बाएँ ब्रह्म, अर्थात् समुद्र में डूबे व्यक्ति को सर्वत्र जल ही जल दीखने जैसी स्थिति प्राप्त हो जाती है। सर्व ब्रह्ममय हो जाता है।''

''तो सर्वज्ञ संगत से आप भी सर्वज्ञ बन गईं।''

''मैं सर्वज्ञ बनी नहीं, हाँ यह अवश्य जान लिया कि सर्वज्ञ बन सकते हैं। अब यह बात यहीं समाप्त करें। यदि मैं उस भाव में आ जाऊँ तो मेरी प्रज्ञा लुप्त हो जाती है, घर जाना दुभर हो जाता है।''

''अच्छा, तो देवरातजी को कहिए, वे राजभवन में हमसे मिलने का कष्ट न करें, हम स्वयं परसों भगवान् के दर्शनार्थ चलेंगे। वे भी अपने पुत्र के संग हमें दर्शन देकर आशीर्वाद दें।''

''अस्तु।''

''हम सीमित परिवार के साथ उष्ट्र–रथ में आश्रम जाएँगे। भगवान् के दर्शन पाकर गंगास्नान के लिए चल पड़ेंगे। यदि हमारे साथ कोई आना चाहे तो उसका स्वागत है।''

राजा के साथ जो दस लोग थे उनमें से किसी ने आने की बात नहीं कही। राजा एवं गार्गी एक–दूसरे की ओर देखकर हँसे।

राजा ने पूछा–''हमने आपके मार्गव्यय के लिए जो धन दिया था, वह पूरा पड़ा कि नहीं।'' गार्गी ने पूरे विश्वास के साथ कहा–''पूरा पड़ा। यदि पूरा न पड़ता तो उस समूह में कोई हमसे माँग नहीं करता।''

शारदा मंडप

यज्ञमंडप को शारदामंडप अभिदान दिया गया। वहाँ मंच की दाईं ओर विशेष अतिथियों के बैठने की व्यवस्था की गई थी। वहीं दीवार पर शारदा देवी का चित्र अंकित था। एक पुरुष प्रमाणवाले चित्र में शारदादेवी वीणा-पाणि होकर आसीन थीं। ऊपर के हस्तों में से एक में अक्षमालिका थी, दूसरे में एक पुस्तिका। शीर्ष पर रत्नमुकुट विराजित था। माता का समस्त तेज उसी गोपुराकृति में मानो समाहित था। कानों में रत्न से बनी बालियाँ थीं। शायद प्रतिभा-स्वरूपा माता के प्रतीक के रूप में प्रकाशमान थीं। नासिका में शोभित नथ को देखने से लगता था कि स्वाति नक्षत्र का अपहरण कर यहाँ जड़ दिया गया है। उसकी कांति उसके सुंदर कपोलों पर गिरकर उन्हें लालिमा प्रदान किए हुई थी। उसके गले में धारण कराए गए भाँति-भाँति के हारों के बारे में क्या कहना! उनमें सबसे उभर कर दृष्ट बिल्वाहार के प्रत्येक दल में रत्न जड़े हुए थे। छोटे-छोटे आकार के दलों के मध्यभाग का दल सबसे बड़ा था। हार के दाएँ-बाएँ तेरह-तेरह दल थे। मध्य भाग में उन सबके प्रमुख के रूप में एक बड़ा दल था। यों कुल सत्ताइस दलों का बना वह हार उसके विशाल वक्ष पर विराजमान था। नवरत्न जटित मेखला कटिप्रदेश में थी। पाद प्रदेश में पैंजनी, कड़े एवं पाथलोवाला बिछुआ थे। भुजाओं में जोसन थे। कलाई में रत्न के बड़े कड़े थे। उँगलियों में अँगूठियाँ थीं, माता के दर्शन-मात्र से वीणावादन की मधुर ध्वनि सुनते रहने का भान हो जाता। उनके कंठ की पुष्प-मालाओं की सुगंधि से नासिकाएँ अघा जातीं। उनकी दृष्टि जिधर पड़ती; उधर का सारा वातावरण पवित्र हो जाता तथा वहाँ ज्ञान का राज्य स्थापित हो जाता।

उसके ठीक सामनेवाली दीवार पर उसी स्थान पर गायत्री का चित्र दृष्ट है। लघु लहरों से भरी मनुहारी नील जलराशि के मध्यभाग में समस्त जगत्-सौंदर्य को काढ़कर बनाया-सा बड़ा कमल है। उस पर आसीन हैं माता। एक पाद मुड़ा हुआ, दूसरा नीचे जल का स्पर्श कर रहा है। या यों कहना सटीक होगा कि वह जलराशि भय-भक्ति सहित अपनी करवीचियों से माता के पाद-प्रक्षालन कर धन्य हो रही है। उन पैरों में रत्न नूपुर शोभायमान हैं। पाँव की उँगलियों में धारण की हुई अँगुलीयकों को गिरने से बचानेवाली उनसे बँधी छोटी-छोटी शृंखलाएँ लटकी हुई हैं। उनके संधिस्थान पर रत्न-जटित एक पदक है। उस पदक से बँधी एक शृंखला का दूसरा छोर पैंजनी से बँधा हुआ है। उसके स्वर्णमय देह में स्वर्णहारों

का वर्ण एकाकार हो गया है, जिससे दोनों का अंतर दृष्ट नहीं होता। माता द्वारा धारण किए हुए रत्नाभरण को मानो चंद्रकांति के तानों–बानों से बुना गया है जिसमें अंबर के नक्षत्रों को बुट्टों के रूप में यत्र–तत्र काढ़ा गया है। उसकी मेखला मानो सूर्य–किरणों को इकट्ठा कर बनाई जा चुकी है। उसके प्रकाश के प्रतिफलन से आँखें चौंधिया रही हैं।

समस्त संसार को स्तन्यपान कराने की कांक्षा से भरे उन गुरतर घन उरोजों पर एकावली विराज रही है। पलाश–पत्र के आकार का एक रत्न–हार है। उस पर नैदिल पुष्पों की माला है। दीर्घ ग्रीवा में रत्नमय बड़ी हँसुली है। उस सुंदर ग्रीवा पर पंचमुखी आकृति है। प्रत्येक मुख का भिन्न वर्ण है। पाँचों मुखों पर धरा हुआ मात्र एक मुकुट है। उस पर बालचंद्र उत्कीर्ण है। माता दशभुजा हैं। वरद अभय मुद्रा के दो हाथ हैं। शंख–चक्र दो हस्तों में, लाल एवं श्वेत कमल दो हस्तों में, पाश, कपाल, पाशांकुश धारण किए हुए दो जोड़े हस्त अलग। प्रत्येक हस्त में माणिक बँधे हुए हैं। समस्त उँगलियों में अंगुलीयक हैं।

ऐसा लगता है कि जगन्माता किसी को दर्शन देने के लिए ही प्रस्तुत हुई है। किसी की दृष्टि उस पर पड़ती है तो उसको थोड़े समय के लिए वहीं आकृष्ट कर लेती है। उसको देखते रहने से विस्मृति आ घेरती है। लगता है कि किसी अलौकिक काल एवं देश के प्रवाह में फँसकर किसी अपरूप दृश्य को देखते बहे जा रहे हैं। हाँ, इस प्रकार के दर्शन से पलभर की समाधि–स्थिति प्राप्त हो जाती है।

मंडप के चार द्वार हैं। उन चार द्वारों पर चार चित्र टँगे हैं। एक चित्र में पूर्व महाराजा पूजा में रत चित्रित हैं। उसके ठीक सामने वैदिक परिधानों में विद्वज्जनों की संगत में बैठे वर्तमान महाराजा का चित्र है। और एक कोने में सिंहासन पर विराजमान महाराजा हैं। उनके सामने योद्धा के समवस्त्र में सैनिकों के दल के साथ महाराजा हैं। ये सभी चित्र पुरुष प्रमाणवाले हैं।

अन्य स्थानों पर एक ओर मंदिर का दृश्य चित्रित है। गोपुरवाले द्वार से देखने पर एक विशाल भवन दिखाई देता है। उसके भीतर नवरंग है। उससे आगे गर्भगृह है, जहाँ मूर्ति की आरती उतारी जा रही है। उसको देखते रहने पर मन को भ्रम हो जाता है कि अभी पुजारी जी ने आरती उतारी है तथा लोगों के सम्मुख ज्योति दर्शन प्रस्तुत करनेवाले हैं।

दूसरी ओर मंदिर के सामने यज्ञमंडप का दृश्य है। वेदी पर अहवनीय पवित्र ज्वालमाला है। एक ओर दक्षिणाग्नि धीमे जल रही है। दूसरी ओर गार्हपत्याग्नि

धीमे से श्वेत धूम पसार रही है। अहवनीय के पार्श्व में भव्य देही अध्वर्यु स्रुक्कुस्रुवों (दर्वी) को धारण किए होम करने के लिए तत्पर बैठे हुए हैं। उनके हाथ में पकड़े स्रुव से घृत अग्नि में गिर रहा है। उधरवाला स्तूप रक्षा में प्रस्तुत योद्धा के समान खड़ा है। इधर यजमान सपत्नीक आनंद का साकार रूप बने बैठे हैं। उनको देखने पर प्रतीत होता है कि हम उद्‌गार निकाल लें–''लीजिए, हम समय पर उपस्थित हो गए। वह देखिए, अभी होम संपन्न होगा।''

तीसरा है गुरुकुल का दृश्य। भगवान् मंच पर आसीन हैं। वे जिन मंत्रों का श्रवण कर रहे हैं उनके अधि–देवताओं का साक्षात्कार कर रहे हों– इस भाँति उनकी आँखें अधमुँदी हैं। वेत्रासन जिन पर वे उपविष्ट हैं, धौत वस्त्र जिन्हें वे धारण कर चुके हैं, अजिन जिन्हें वे ओढ़े हुए है, चारों ओर वातावरण को पवित्रता प्रदान कर रहे हैं। उनके पार्श्व में उपवेदी पर बैठे हुए अध्यापकगण उँगलियों पर कुछ गिनते हुए माणवकों (सोलह वर्षवाले विद्यार्थी) को अध्ययन करा रहे हैं। पास में जो झोपड़ियाँ बनी हुई हैं, वहाँ के गृहस्थ लगता है कि लक्ष्मी से बढ़कर लक्ष्मीपति की उपासना में निरत हैं। उनके सामने का प्रदेश लिप–पुतकर रंगवल्ली से अलंकृत होकर गृहवासियों के मन के संतोष को द्योतित कर रहा है। आश्रम के पास से प्रदक्षिणा में बहती नदी अपनी निर्मलता के द्वारा व्यक्त कर रही है कि इस आश्रम के पार्श्व में प्रवहित होने से वह कृतकृत्य हो गई है। चित्र के परिपार्श्व में दिख रहा टीला स्वयं के आश्रम रक्षक होने के परिचायक के रूप में वृक्ष–रूपी बाँहें फैलाकर अपने को सहस्रबाहु होने की चेतावनी दे रहा है।

चौथा चित्र जो है उसमें गायों के झुंड चित्रित हैं। वहाँ घुटनों तक बढ़ी घास का चरागाह है। वहाँ यत्र–तत्र उगे छायादार वृक्ष हैं। चित्र के बीचों–बीच हाथी सदृश साँड़ ने आक्रामक मुद्रा में पासवाली बाँबी को अपने सींगों से प्रताड़ित कर उसे ढहा दिया है। गायें उसके चारों ओर खड़ी देख रही हैं। उनकी आँखें खुली की खुली हैं, नथुने फूल हुए हैं; मानो वे भी साँड़ के आक्रामक तेवर से प्रसन्न एवं चकित हैं। प्रत्येक गाय अपने में अनूठी है। प्रत्येक का थन पृथ्वी पर उगे घास के अग्रभाग को छू रहा है। इनको देखने से मन में उत्साह एवं प्रसन्नता का भाव भर जाता है। समृद्धि की संकेत गायों को देख ऐसा कौन होगा जो प्रसन्न नहीं होता हो!

वैशाख मास की अमावस्या तक सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं। तय हुआ है कि ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया को मंडप प्रवेश का संस्कार निभाया जाए। उसके पिछले दिन से ही मंडप के सिंगार का कार्य आरंभ हो चुका है। प्रत्येक स्तंभ पर चित्रांकित वस्त्र

लपेटे गए हैं। प्रत्येक स्तंभ पर हरियाली एवं फूलों की सजावट भी हुई है। एक स्तंभ से दूसरे स्तंभ तक वंदनवार बाँधे गए हैं। दीवारों पर सघन चूना पोता गया है। भूभाग को लीप-पोतकर रंगवल्लियाँ सजाई गई हैं। मंडप तक आनेवाले पथों के कंकड़ पत्थरों को बीनकर उन्हें साफ़-सुथरा किया जा चुका है। पूरी स्वच्छता की व्यवस्था हो चुकी है। मंडप के सामने राज-परिवार एवं अतिथियों के शकटों को ठहराने के लिए आरक्षित खुले प्रदेश को भी साफ़ किया जा चुका है। अब क्या कहें, पूरा-का-पूरा मंडप स्नान कर पवित्रता का आच्छादन धारण कर चुका है। आम्रपत्रों के वंदनवारों की कोई गिनती नहीं। पूरे वातावरण को देखने से लगता है कि सुंदरता मूर्तरूप धारण कर अवतरित हुई है।

तृतीया के दिन राजपुरोहित अश्वल सुहागिनियों एवं ब्राह्मणों को संग लिए मंडप में प्रविष्ट हुए। उन्होंने प्रवेश-होम संपन्न किया तथा वहीं प्रतीक्षा करते रहे।

इधर राजप्रासाद में विद्वान्, राजकर्मचारी, नागरिक प्रमुख, सैनिक सभी समय पर उपस्थित हो गए।

महाराजा प्रातःकर्मों से निवृत्त होकर वहाँ आ गए। राज-परिवार मंडप की ओर चला। उत्सव के सामने राजध्वज को धारण किए राज-हस्ती चला। उसके पीछे पदातिक सैनिक चले। उसके पीछे मूल बल था। उसके पीछे वृषभ-रथ एवं अश्वरथों में बैठे राजपुरुष चले। उनके पीछे हाथी पर मंडित हौदे में महाराजा बैठे हुए थे। उनके पीछे अश्वरथों एवं गजरथों मैं बैठकर विद्वान् चल पड़े। उनका अनुसरण गजसेना ने किया। तुरही, गाजे-बाजे सैन्य के सामने आ रहे थे। राजा के सामनेवाले वृषभ-रथों पर बनाए गए मंचों पर नर्तकियाँ वीणा, वेणु एवं मृदंग की गति पर थिरक रही थीं। उनके पीछे नागस्वर मंगलवादन कर रहे थे। दाएँ-बाएँ राजदरबार के विद्वान्, भाट-चारण मंगल-श्लोकों का पाठ करते हुए चले आ रहे थे।

जुलूस धीरे-धीरे चलते हुए समय पर मंडप में पहुँच गया। सेना अपने-अपने लिए आरक्षित स्थानों पर जाकर खड़ी हो गई। उनके दोनों पार्श्वों में नर्तकियाँ एवं गायक खड़े हो गए। विद्वान् तथा राजपुरुष राजा के पीछे-पीछे आए। चारणवृंद राजा के यश का गान एवं उद्घोष करते चले आए।

पुरोहित सुहागिनियों एवं ब्राह्मणों को साथ लेकर राजा तथा उसके परिवार की अगवानी के लिए आगे बढ़े।

ब्राह्मणों ने वेदघोष कर आशीर्वाद दिया। सुहागिनियाँ मंगल–द्रव्यों के साथ आगे बढ़ीं, मंगल–गान किया तथा आरती उतारकर आशीर्वाद किया। पुरोहित राजा को होमकुंड के पास ले गए । राजा द्वारा एक आज्य होम करवाकर शेष होम कार्य स्वयं निर्वाहा। राजा ने यज्ञेश्वर की परिक्रमा कर नमस्कार समर्पित किया। पुरोहित ने कलशोदक राजा, प्रमुख कर्मचारियों एवं विद्वानों को देकर शेषोदक सभी पर अभिसिंचित किया। यज्ञेश्वर की रक्षा (यज्ञप्रसाद रूपी तिलक) को भी उसी भाँति वितरित किया।

जिस शिल्पी ने मंडप का विन्यास किया था, वह आगे बढ़ा। उसने निवेदन किया–''जिस प्रकार स्वामिन ने कृपा कर वेदी की परिक्रमा की उसी भाँति मंडप की भी परिक्रमा करें।'' राजा सपरिवार आगे बढ़े। राज–शिल्पी ने सब कुछ ब्यौरेवार राजा तथा उनके परिवारों के लिए अभिवर्णित किया। राजा ऐसे प्रश्न पूछे जा रहे थे मानो उन्होंने आज तक उसको देखा ही नहीं।

''महास्वामिन, इस ताल का वीक्षण करें। इसी प्रकार के चार ताल, जिनमें घुटने भर पानी है, इस मंडप के चारों कोनों में हैं। यहाँ तो लाल नैदिल पुष्प है। शेष तालों में क्रमशः श्वेत कमल, पीत कमल हैं। इस विविधता के दो कारण इसमें देखे जा सकते हैं। एक तो यह है कि मंडप में लाल रंग होना आवश्यक माना गया है। दूसरी यह भी प्रतीति है कि जहाँ कमल होते हैं वहाँ विष्णु का आवास होता है। इसका विष्णु–यज्ञ भी नाम है। इसका आशय है कि विष्णु यज्ञमंडप के चारों ओर रहकर इसकी रक्षा किया करें। इसके अतिरिक्त एक और लाभ भी होता है। जो भी यहाँ आते हैं, बिना पाद–प्रक्षालन के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। अतएव यहाँ उसकी व्यवस्था हुई है। यहाँ गारे का बना चबूतरा है। यहाँ हाथ–पाँव धोने पर जो जल संचित होता है उसको बहा देने के लिए गारे की बनी मोरियाँ हैं। इन तालों में पानी की आपूर्ति बनाए रखने के लिए भूमि के भीतर ही नहरों द्वारा जल–संपर्क व्यवस्था की गई है।

''अब कुछ आगे पधारें। इन तालों के बीच में तुलसी, अजजटी, देवकणिश आदि रोपे गए हैं। हमारी कामना है कि इस पर चली वायु इनकी सुगंध से मंडप को भर दे। आप जब मंडप में प्रविष्ट होंगे तब आपको एहसास होगा कि हमारा यह प्रयास रंग लाया है। यहाँ अतिथि अपना पादत्राण छोड़ सकते हैं। चूँकि मंडप बड़ा विशाल है, इसलिए हितकर वातावरण बना रहेगा। अब आपसे विनती है कि परिक्रमा कर मंडप में प्रविष्ट हों।''

राजा ने मुस्कुराते हुए शिल्पी की ओर देखा, शिल्पी के कथन पर अपना अनुमोदन अभिव्यक्त किया और सपरिवार प्रसन्नमना हो यज्ञेश्वर की दाईं ओर से प्रदक्षिणा में मंडप में प्रविष्ट हुए।

सब कुछ सन्नद्ध है

राजशिल्पी ने महाराजा की उनके परिवार के साथ मंडप के भीतर अगवानी की। राजा ने प्रवेश द्वार में बाईं ओर पिता के चित्र को देखकर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की, मानो वे आज ही उसे प्रथम बार देख रहे हों। देवपूजा जैसे सात्विक कर्म में निरत रहने पर भी उनकी क्षात्रसहज देह में पौरुष का बोलबाला प्रत्यक्ष था। परिवार के लोगों ने भी पूर्व महाराजा के चित्र को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। राजा के साथ सभी ने चित्रपट का अभिवादन किया तथा आगे बढ़े।

राजशिल्पी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया–''महाप्रभु इधर देखें! इस मंडप पर प्रकाश के लिए अनोखी व्यवस्था की गई है। धरती से एक हाथ ऊपर बनी खिड़कियों से ठंडी हवा भीतर प्रविष्ट होती है। सिर के ऊपर छह हाथ की ऊँचाई पर खुला भाग छोड़ा गया है। सभा के भरे होने पर जो ऊष्म वायु पैदा होगी वह इससे बाहर हो जाएगी। चूँकि दीवारों के बीचों–बीच वातायन नहीं है, सभा में उपस्थित दर्शकों का ध्यान बाहर की ओर नहीं जाएगा। बाहर का आकाश भी दृष्ट नहीं होगा। अतएव यहाँ शांति बनी रहेगी। यों यहाँ हवा, प्रकाश एवं शीत तीनों का सुंदर वातावरण सृष्ट होगा। ''

महाराजा ने प्रशंसा में सिर हिलाया, देवस्थान का चित्र देखकर हाथ जोड़े, आगे बढ़कर सरस्वती के सामने खड़े हो गए। देवी का चित्र देखकर राज–परिवारवालों ने हर्षित होकर नमस्कार किया और आगे की ओर चल पड़े।

मंडप के मध्यभाग में वक्ताओं के लिए वेदी बनी है। वहाँ राजयोग्य दो आसन रखे गए हैं। महाराजा ने शिल्पी की ओर संकेत किया तो उसने उनके बारे में बताया– ''महास्वामी, विद्वज्जन व्याख्यान दें या पेचीदा समस्याओं के बारे में चर्चा करें या शास्त्रार्थ करें, वे यहीं से करेंगे। इसीलिए यहाँ दो आसनों की व्यवस्था की गई है।''

राजा ने मुड़कर भंडारी की ओर देखा। वह आगे बढ़कर आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया। राजा ने पूछा–

''क्या मुकुट बनकर आ गया?''

''हाँ, देव।''

कुछ ही क्षणोपरांत एक छोटे से पीढ़े पर रखा हुआ मुकुट लाया गया। वह एक स्वर्णथाल में झीने से आवरण से ढँका हुआ था। जब आवरण को हटाया गया तब मुकुट ने सबकी दृष्टि आकर्षित की। पूर्ण मुकुट रत्नमय है। पंडितों द्वारा पहने जानेवाले टोपानुमा मुकुट था। उसके शीर्ष भाग में सोने का एक वृत्त बना था, जिस में रत्न जड़े हुए थे।

राज-परिवार ने उसको देखकर वाहवाही की। गार्गी ने प्रश्न किया–''यह क्या है? किसके लिए है ? यदि बता दिया जाए तो अच्छा हो।'' महाराजा ने भंडारी को दृष्टि से संकेत किया तो उसने कहा–''सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को महाराजा द्वारा भेंट किया जानेवाला पांडित्य-मुकुट है। इसे भेंट में देकर उनका सर्वज्ञ-तिलक किया जाएगा।''

भंडारी और कुछ कहना चाहता था कि महाराजा का संकेत पाकर चुप हो गया।

राज-परिवार आगे बढ़कर यज्ञमंडप के पास आया, वहाँ चित्रित दृश्यों को देखकर कहा–''यह ठीक है, शारदामंदिर तो इसी भाँति का होना चाहिए। व्यशेम देवहितं यदायुः अर्थात् जीवित रहते तक ऐसा जीना चाहिए कि उससे देवताओं का हित होता रहे।'' वहाँ पूजा में निरत महाराजा का चित्र है। उससे आगे देव-मंदिर था, उसके सामने सरस्वती माता का चित्र था। उसके सामने यज्ञमंडप था। किसी ने अपनी प्रशंसा अभिव्यक्त करते हुए 'साधु, साधु' कहा। सभी ने यज्ञेश्वर को प्रणाम किया, फिर आगे बढ़ गए। वहाँ देखते हैं–सिंहासन पर बैठे राज-सभा को चला रहे महाराजा का चित्र है।

राजा ने मुड़कर एक चित्र की ओर संकेत करते हुए कहा–''इसके बारे में कहिए न?'' किसी ने समझाया–''यह तो यज्ञादि से संतुष्ट देवताओं द्वारा प्रदत्त सुखी-राज्य को दर्शानेवाला चित्र है।'' इसको देखकर सभी प्रसन्न हुए।

वहाँ से सभी दाएँ मुड़े। वहाँ मंडप के महाद्वार के जोड़े के रूप में और एक द्वार था। उसके सामने भी छप्पर था। उसको पारकर आगे बढ़े तो वहाँ दीवार पर एक चित्र था जिसमें सैन्य सहित महाराजा योद्धा के वेष में थे, जो चेतावनी देता था

कि यदि कोई उद्दंड हो जाए तो उसके दर्प को मिट्टी में मिलाकर ही चैन की साँस लूँगा। यों वीरोद्धत राजा और उसके पीछे स्वर्ग पर विजय पाने को सन्नद्ध उनकी दर्पित सेना थी।

उससे आगे गुरुकुल का प्रदेश था, गुरुकुलाध्यक्ष जी के सम्मुख अध्यापन में निरत उपाध्याय दो शिष्यों के साथ उपविष्ट थे। ध्यान से देखने पर लगता था कि वे स्वयं भगवान् याज्ञवल्क्य जी ही हैं।

उस चित्र के सम्मुख जो जा खड़े हुए, उन सबने बिना किसी के आदेश या संकेत के नमस्कार किया। गार्गी वहाँ पलभर रुकी रहीं। फिर आगे बढ़ीं।

अब आगे बढ़ने पर गायत्री देवी का चित्र दीखा। राज-परिवारवाले उस चित्र को देखते ही रह गए। बार-बार हाथ जोड़ने पर भी उनका संतोष पूरा नहीं पड़ा। आपस में फुसफुसाते हुए कहने लगे-''अब तक हमने ऐसा चित्र देखा नहीं था।''

गार्गी ने महाराजा के सामने खड़े हो हाथ जोड़कर पूछा-''ज्ञानसत्र के पूर्ण हो जाने पर इस मंडप का क्या होगा ?'' सहसा उठे इस प्रश्न से राजा सँभलते हुए बोले-''अभी कुछ सोचा नहीं है ? क्यों?''

''यदि देव को उचित लगे तो सभी चित्र न सही, कम से कम देवियों के दोनों चित्रों को राजमहल में धरवा दें।''

राजा ने शिल्पी की ओर देखकर कहा-''आपने सुना न ? इसका स्मरण रहे।''

अब राज-परिवार गायों के झुंड की ओर मुडा। उस चित्र को समृद्धि का चित्र मानकर उसकी प्रशंसा की। साँड़ के नख़रे बड़े लुभावने थे। क्या कुछ सौंदर्य भरा था इस चित्र में!

राज-परिवार अब अंतिम चित्र के सम्मुख आ खड़ा हुआ। उस चित्र में महाराजा वैदिकों जैसे विद्वानों के साथ खड़े थे। पहलेवाले चित्र में वे लोकरक्षणार्थ जन्मे साकार पौरुष की तरह मूर्तिवत् खड़े थे; यहाँ वे सौम्य होकर ब्रह्मतेज से विराजे हुए थे। यह चित्र यही बता रहा था कि जब तक पौरुष एवं तेज एक-दूसरे से अभिन्न-रूपा नहीं होते तब तक संसार सुखी नहीं रह पाएगा।

राज-परिवारवाले इन चित्रों को देखकर परम हर्षित हुए। सबने चित्र-कलाकारों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

मंडप से बाहर आते ही महाराजा ने शिल्पी को बुलाकर कहा-''सारी व्यवस्था आपने कर दी है। हम प्रसन्न हैं। क्या ये पंद्रह दिनों तक ताजा रह सकेंगे।''

शिल्पी ने सविनय निवेदन किया–''ये वंदनवार दिन-प्रतिदिन नए-नए बनते जाएँगे। कपड़े से बने ये छोटे ध्वज वैसे ही रहेंगे। सत्र की समाप्ति तक इनको सँभालकर रखा जाएगा।''

अब राजा ने प्रश्न किया–''मवेशियों के लिए स्थान कहाँ बनाया गया है?'' शिल्पी ने मंडप के उस पार वाम पार्श्व में वृक्षों के विशाल झुरमुट में बने स्थान की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट किया।

राजा ने परिवार के साथ आए गृहाध्यक्ष को बुलाकर आदेश दिया–''गायें षष्ठी के दिन प्रातः तक यहाँ आ जाएँ। उन्हें उस दिन मंगल-स्नान कराकर हल्दी कुंकुम से अलंकृत कर पूजा की जाए। उसके बाद हमें समाचार दिया जाए। आगे क्या करना होगा, इसके बारे में हम आदेश देंगे।''

गृहाध्यक्ष ने हाथ जोड़कर आदेश माना।

वहाँ उपस्थित कई लोगों ने गार्गी के पास आकर पूछा–''ये मवेशी काहे के लिए हैं ?'' गृहाध्यक्ष को भी इसकी जानकारी नहीं थी। उसने कहा–''राजा का आदेश आपने सुना नहीं, आगे की बात वे ही बताएँगे।''

राजा ने देखा कि लोग इस प्रश्न को लेकर गार्गी के चारों ओर इकट्ठे हो रहे हैं। इसलिए उन्होंने कहा–''आप जानना चाहेंगे कि इतने सारे मवेशी क्यों ? सब पर विजयी होनेवाले सर्वज्ञ को ये गायें भेंट के रूप में दी जाएँगी।''

गार्गी राजा के इस स्पष्टीकरण को सुनकर कुछ-कुछ अप्रसन्न-सी हो गईं। राजा को इसका भान हो गया। पर वहाँ दोनों ने इसके बारे में कोई चर्चा नहीं की।

इसके बाद महाराजा वृक्षों की झुरमट की ओर गए। वहाँ धेनुओं को ठहराने की व्यवस्था से संतुष्ट होकर राजभवन की ओर चले। राज-परिवार भी पूर्ववत् जुलूस में उनके संग ही चला।

उसी दिन दुपहर को राजाज्ञा के अनुसार गार्गी ने राजा से भेंट की। उन्होंने बड़े आदर के साथ उनका स्वागत किया। उन्होंने स्वयं बात आरंभ की–''जब मैंने कहा कि ये गायें सर्वज्ञ को भेंट में देंगे तब मुझे लगा कि आप कुछ खिन्न हुईं। मैंने सोचा कि कारण जान लूँ। इसीलिए आपको कष्ट दिया।''

''देव, मैं तो स्त्री हूँ न ? इसीलिए मैंने चुप्पी साधी; मुझे लगा कि प्रत्येक विचार में हस्तक्षेप उचित नहीं। तथापि महाराजा के श्रेयोकांक्षी होकर यदि हम कहने योग्य बात भी न कहें तो ठीक नहीं होगा। अतएव कुछ खिन्न तो हुई। क्या

करूँ, यद्यपि मैंने बात दबा ली, तथापि मेरे मुख ने मेरे मन की खिन्नता को अभिव्यक्त कर दिया।''

''मेरी समझ में नहीं आ रहा कि भेंट देने में हमारा अश्रेय कैसे होगा?''

''यहीं हम दोनों में विचार-भेद है। आपने जिन्हें आमंत्रित किया है, वे कोरे विद्वान् ही नहीं, अपितु ब्रह्मविद्या-संपन्न विद्वान् हैं। यदि अनुभवहीन होने पर भी शास्त्राध्ययन के बल से आपस में साँड़ों की तरह भिड़ पड़नेवाले विद्वान् होते तो बात अलग होती। शास्त्रों से उद्धरण देते हुए एक-दूसरे को काटते हुए सबकी बोलती बंद करानेवाले विद्वान् होते तब उनको पंडितराज, पंडितप्रवर आदि अलंकरण प्रदान कर सकते थे। किंतु आप जिन-जिन को बुला रहे हैं, वे उस कोटि में नहीं आते। यहाँ एकत्र होनेवाले सभी अनुभव-सिद्ध हैं। ऐसे में एक व्यक्ति के अनुभव की तुलना दूसरे के साथ किया नहीं जाता। यदि दो अनुभवी मिलते हैं तो उनके अनुभवों का विनिमय होकर उनमें समन्वय एवं अविरोधभाव पर ही संवाद होता है न कि वाद-विवाद। इसीलिए आपने जब कहा कि सब पर 'विजयी होनेवाले' को भेंट दी जाएगी, तब मैं थोड़ा हतप्रभ हुई।''

राजा को गार्गी के मन की बात भा गई। उन्हें लगा कि स्वयं जिस रास्ते पर चल रहे हैं, वह सही नहीं है। पल-भर के लिए विचार में पड़े। पुन: उन्हीं से पूछा-''आपका विचार सर्वथा सही है। परंतु सर्वज्ञत्व के बारे में निर्णय कैसे होगा?''

''वाद-विवाद तो वहाँ होगा जहाँ ज्ञान अपूर्ण होता है। परंतु जहाँ सर्वज्ञत्व है, वहाँ संघर्ष या वाद-विवाद कहाँ ! आप ऐसा कर सकते हैं-विद्वत सभा को प्रणाम कीजिए। पुन: कहिए कि आपमें जो सर्वज्ञ हैं उनको मेरा नमन है। तब सभा में सर्वज्ञत्व के लिए स्पर्धा होगी। जो अपने को सर्वज्ञ घोषित करेगा, उसकी परीक्षा सभा में उपस्थित सभी विद्वानों द्वारा होगी। यदि इस परीक्षा में वे विद्वान् टिक पाएँगे तो वह सच्चा सर्वज्ञ होगा। अन्यथा वह विनष्ट हो जाएगा।''

''यह स्पर्धा भी वाद-विवादों का रूप धाण कर ले तो ?

''नहीं, ऐसा नहीं होगा। वाद-विवाद तो बुद्धि की चातुरी पर निर्भर करता है। किंतु सर्वज्ञ परीक्षा की बात कुछ भिन्न है। वहाँ उपस्थित प्रत्येक विद्वान् भिन्न-भिन्न कोटि की कसौटी पर अनुभव-रूपी स्वर्ण को घिसकर परखेगा कि यह सोना सोलहों आने खरा है कि नहीं। यदि कसौटी पर खरा उतरे तो सुनार बिना हील-हौल के मान लेगा। यहाँ वाद नहीं होता, क्योंकि वाद करते समय

प्रतिवादी की ओर उँगली दिखाकर कहते हैं कि तुम्हारी बात में यह दोष है, यह अपूर्णता है, यह लोप है, किंतु जानने की प्रक्रिया, जिज्ञासा जो है उसमें ऐसा नहीं होता।''

राजा को उनकी बात सही लगी। उन्होंने कहा–''अस्तु, इसको बदल देंगे। ऐसा करें, सहस्र धेनुओं को, उनके लिए आवश्यक वस्तुओं के साथ, तैयार रखें। उनके सींगों में कुछ धन भी बाँध दें। हाथ जोड़कर सभा में घोषणा करें कि जो कोई ब्रह्मिष्ठ है इनको ले जाए। तब आपके कहे अनुसार प्रत्येक पंडित ऐसे व्यक्ति की कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास करेगा।''

''यही क्रम सही लगता है।''

''आप तो गंगा–यमुना के प्रदेशों के सभी विद्वानों के बारे में जानकारी रखती हैं। इनमें से सर्वज्ञ स्थान पर कौन खरा उतर पाएँगा ?''

''भगवान् सब दृष्टियों से इस पद के योग्य हैं। पर प्रश्न है कि वे ज्ञानसत्र में आएँगे कि नहीं।''

राजा को लगा कि गले में कोई वस्तु अटक गई। साथ–साथ आतंक भी हुआ। ''क्यों? उसका मायने क्या है ? मैंने राजपुरुष को निमंत्रण पत्र के साथ भेजा था। कहा था कि उनसे विनय करें कि वे अवश्य पधारें।''

''यहीं आप ठोकर खा रहे हैं। आपके निमंत्रण–पत्र को महत्त्व कौन देगा? वे ही जिन्हें आपसे कुछ पाने की आशा है तथा जिनका अत:करण लोकवासना दूषित है। इसके विपरीत जो वासनातीत हैं तथा जिन्हें किसी प्रकार का लोभ नहीं, उनके लिए आपके निमंत्रण को स्वीकारने की अनिवार्यता नहीं है न ?''

अब राजा दुविधा में पड़े–''हाँ, गार्गी का कथन सही है। जो ब्रह्मविद्या संपन्न होता है उसे किसी का ध्यान नहीं रहता। ब्रह्मविद्या–लक्ष्य से परे अगर कोई लक्ष्य भी उसका होता है तो वे ब्रह्मविद्या–संपन्न नहीं होते। अब उन्हें तो ब्रह्मविद्या–संपन्नता की अहमियत है। उनको सपने में देवगुरु ने कहा था कि सर्वज्ञ विजयी होंगे। अब गार्गी ने जिस समस्या के बारे में कहा उसको सुलझा लेना होगा, अन्यथा अनर्थ होगा। पंचमी तक प्रतीक्षा करेंगे। यदि वे तब तक नहीं आएँगे तो मैं स्वयं जाकर उनको लिवा लाऊँगा।''

राजा ने पुन: पूछा–''हम हर तरह से प्रयास कर उन्हें लिवा लाएँगे। यदि वे नहीं आते तो सर्वज्ञ पीठ के लिए कौन अधिकारी होगा!''

गार्गी ने कहा–''हम सबकी इच्छा है कि भगवान् अवश्य पधारें। यदि ऐसा नहीं हुआ तो विदग्ध जी उस स्थान के लिए योग्य हैं। हाँ, यह तो है कि विदग्धजी का ब्रह्मानुभव अभी परिपक्व नहीं हुआ है। पर व्याख्यान में परिणत, शास्त्रार्थ को सहज रूप में विश्लेषित करने की उनकी विलक्षण प्रतिभा पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता।''

अब राजा संतुष्ट हुए तो कुछ असंतोष भी बना रहा। विदग्धजी अभी राजगुरु हैं। इसलिए संतोष था। किंतु वे कुरु–पांचाल देश के हैं। इसके अतिरिक्त वे हृदय को ही ब्रह्म मानकर उपासना करने के पक्षधर हैं। भगवान् इसे एकदेशी कहते हैं। इसीलिए असंतोष है। तो इस प्रकार संतोष एवं असंतोष के द्वंद्व में फँसकर राजा ने कहा–''अस्तु, अभी पाँच दिन शेष हैं, देखें, क्या होता है?''

''आपने इतना धन इस आयोजन पर व्यय कर दिया है। अतएव मेरी सम्मति मानें तो आप स्वयं जाकर भगवान् को निमंत्रण दें। हाँ, इस पर विचार करें तथा जो उचित लगे वही करें।''

''आपका प्रस्ताव अर्थगर्भित है। ध्यान देने योग्य है। देखूँ।''

इस शब्द 'देखूँ' में वैसा ही करें, वाली ध्वनि थी। यह कोई पारखी ही बता सकता था।

ज्ञानसत्र के लिए निमंत्रण

कात्यायनी मैत्रेयी को खोजते हुए आई। मैत्रेयी अंतर्मुखी होकर ध्यानस्थ होने के लिए तत्पर थी। जब कात्यायनी 'दीदी' पुकारते हुए आई, तब मैत्रेयी ने बड़े स्नेह से उसका स्वागत कर पार्श्व में बैठा लिया और सादर कहा– ''क्यों बहन, अभी तो तुम्हें चूल्हा–चौका करते हुए रसोई–घर में होना चाहिए। इस असमय में यहाँ कैसे?''

कात्यायनी ने पूछा–''भगवान् ने ज्ञानसत्र में सम्मिलित होने के संबंध में तुमसे कोई बात की?''

मैत्रेयी हँसी–''ऐसा कोई विचार है तो भगवती से कहेंगे। आप दोनों जहाँ जाने को कहेंगे, वहाँ जाना मेरा काम है। उन सबसे जब अवसर मिलता है, तब एकांत में आँखें बंदकर बैठ जाती हूँ। बस।''

''अरतु, दीदी, बहुत दिनों से तुमसे एक बात पूछने का विचार है। आज समय मिला है, पूछ लूँ ?''

''वाह, यह भी भला हुआ। जो भी आज मेरा है, वह तुम्हारा दिया हुआ है। इसमें मुझसे कुछ पूछना है तो क्या तुम्हें मेरा आदेश चाहिए? पूछो, जो चाहे पूछो, वह बड़ा रहस्य भी हो, मैं बताऊँगी।''

''तुम हमेशा आँखें बंद किए बैठ जाती हो न। तब क्या करती हो ?''

''बस इतनी-सी बात है ? मैंने सोचा था कि कोई बड़ा रहस्य जानना चाहती हो। जब हम आँखें खोले होते हैं तब आँखें, कान, नाक चुप नहीं रहते। कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। हमारा मन करेगा तो एक प्रकार से आचरण करता है, मन न करे तो और कुछ प्रकार से करने लगता है। और मन की क्या कहें! वह पल-भर चुप नहीं रहता। कुछ न कुछ सोचता रहता है। यही नहीं, हमें खींचकर ले जाता है और देह को ही तुम कहने का बोध कराता है। इससे बचने के लिए ही मैं आँखें बंद कर लेती हूँ। उस अवस्था में बिना किसी काम के निश्चल बैठी रहती हूँ।

''क्या ऐसा करना संभव होता है।''

''हाँ, बहन, तुम प्रतिदिन सोती हो न ? तब क्या होता है ?''

''कौन जाने क्या होता है! हाँ, इतना मालूम है कि एक काष्ठ खंड-सा पड़े रहते हैं। जब उठते हैं तब देह में थकान एवं दर्द नहीं रह जाता। कुछ ताज़ापन आया होता है।''

''यहाँ भी वही होता है। नींद की दशा में मैं वाली 'धारण' नहीं रहती। यहाँ भी वही बात होती है। एक अंतर है—नींद से जो जागते हैं उन्हें 'मैं अमुक हूँ, यह देह मैं हूँ' वाला नामरूप का चोला रहता है। किंतु यहाँ नींद जैसी विस्मृति नहीं होती। हमेशा जागृति रहती है। किंतु यह जागृति इंद्रिय मनोव्यापारपूर्वक नहीं होती। यद्यपि इंद्रिय एवं मन व्यापार नहीं करते, तथापि उनमें जागृति होती है।''

''दीदी, इस भाँति समझाओ कि बात मेरी समझ में आ जाए।''

''ठीक है, वह भी हो। आँखें बंद करो और मेरा स्पर्श करो।'' कात्यायनी ने वही किया।

''बताओ, अब क्या हो रहा है ?''

''यह क्या है ? लगता है कि सब कुछ भरा-भरा-सा है।''

''अभी देखते रहना।''

कात्यायनी गंभीर हो गई। उसने कोई बात नहीं की। पलभर बाद मैत्रेयी ने धीरे से कहा–''जागो, जाग जाओ।'' कात्यायनी ने आँखें खोलीं।

''कात्यायनी, अब कहो, क्या हुआ था ?''

'''मैं' वाला भाव घुल गया था। अब लगता है कि गहरा कोहरा छाया हुआ है। सबेरा होने पर यद्यपि सूर्य–दर्शन तत्काल नहीं हो पाया, लगता है कि प्रकाश धीरे–धीरे फैल रहा है। यहाँ भी वही हुआ। थोड़ा वेलानंतर लगा कि वह कोहरा हट चुका है, सर्वत्र धूप का राज्य है।''

''हाँ, इसी को समाधि कहते हैं, किंतु क्या वह निद्रा थी ?''

''नहीं, वह निद्रा नहीं थी।''

''तो ?''

''मैं व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। हमने अब तक जो भी देखा है, उनमें से वह तो नहीं है। हम जब कोई काम करते हैं तब एहसास होता है कि हमने वही किया, उसके सिवाय और कुछ नहीं किया। किंतु आज उस प्रकार के अभाव का एहसास नहीं था।''

''बहन, तुमने सच कहा। यदि मैं तुम्हारे शब्दों में ही उसको स्पष्ट करूँ तो उस अभाव को दूर करने के लिए ही हम आँखें बंद करते हैं। जानते हो कि और भी क्या कुछ होता है ? यदि तीलियों को आग में झोंक देंगे तो वे सब आग बनेंगी। जब वे जलकर राख हो जाती हैं, तब राख के होने पर भी तीलियाँ नहीं होतीं; तो बहन 'मैं' वाला भाव भी जली तीली–सा हो जाएगा। तुमने वह प्रकाश तो देखा न ? जब वह प्रकाश दीखता है तो उसी का राज्य हो जाता है। जानती हो कि तब क्या होता है ? तब और किसी वस्तु की इच्छा ही समाप्त हो जाती है।''

''मैं जब कभी भगवान् के पास होती हूँ तब तुझे भी यही अनुभव होता है। किंतु सच्चाई यह है कि मैं वह भूल नहीं पाती कि मैं कात्यायनी हूँ और भगवान् की सेवा के लिए आरक्षित हूँ। किंतु वहाँ रहने पर वही भुलावा आ जाता है। किंतु ऐसा विस्मरण मुझे नहीं चाहिए। अस्तु, क्या भगवान् को भी अपने अस्तित्व का विस्मरण हो जाता है।''

''हाँ बहन, उसे विस्मरण न कहें, खंड भाव का पतन हो जाना ही इस समाधि की विशेषता है। यदि मैं इस बात को तुम्हारी शब्दावली में ढालूँ तो कहना पड़ेगा कि तब हमें उस प्रकार के अभाव का एहसास शेष नहीं रह जाता।''

''तब ऐसी स्थिति बनेगी कि जो किया जा चुका है तथा जिसका किया जाना शेष रह गया है दोनों एक समान हो जाते हैं।''

''सच, किंतु दोनों स्थितियों का उदाहरण देती हूँ–विवाह होने से पूर्व उत्सव–सी स्थिति नहीं होती। विवाहोपरांत भी उत्सव–सी स्थिति नहीं होती। परंतु दोनों स्थितियाँ एक समान होती हैं क्या ?''

''वह कैसे होगा ? अब संतान न होने की स्थिति को परख लें। संतान-रहित लोग इसलिए चिंतित हैं कि उनके कोई संतान नहीं, किंतु मुझे लो, संतान-रहित होने के कारण मैं निश्चिंत हूँ। तो पहली स्थिति में उत्सव की दशा न होने पर भी चिंता व्याप्त है। दूसरे में न उत्सव की दशा है और न कोई चिंता।''

''अच्छा, अब तुम कौन–सी स्थिति को उचित ठहराती हो?''

''दूसरी स्थिति उचित है, क्योंकि उसमें चिंता नहीं।''

''हाँ, समाधि भी इसी प्रकार की होती है।''

''लगता है कि इसी कारण से भगवान् ने ज्ञानसत्र की बात का उल्लेख भी नहीं किया। भूल तो नहीं गए?''

''यह कहना कि भूल गए, संगत नहीं। कहना होगा कि उस ओर उनका मन नहीं है ?''

''हाँ, तुम्हारा कहना सही है। जब तीर्थ–यात्रा पर चले, तब भी यही बात थी। माँ ने कहा था, इसलिए चल पड़े। उनको न उसकी चाह थी, न अनिच्छा।''

''तुम ठीक कह रही हो। भगवान् को न चाह है, न अनिच्छा। यदि किसी ने आग्रह किया तो काम बनेगा, अन्यथा नहीं। उनके लिए होना या न होना, दोनों स्थितियाँ स्वीकार्य हैं।''

''तुम कुछ भी कह लो। मैं तो इस संसार की हूँ। दूसरे लोक में अर्थात् तुम्हारे लोक की स्थिति से मैं अवगत नहीं हूँ। किंतु जब तक हम इस संसार में रहेंगे, तब तक यहाँ के लोगों जैसे हमें भी आचरण करना पड़ेगा न? मैं तो आज मध्याह्न की वेला में भगवान् से ज्ञानसत्र के बारे में बात करूँगी।''

''हाँ, हाँ, क्यों नहीं ? यदि तुम चाहो तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।''

''तुम्हारा तो क्या ? यदि सारा संसार आग लगकर भस्म हो जाए तब भी आँखें मूँदे बैठी रहोगी। क्या मैं भी तुम जैसी हो जाऊँ ? पूरे आश्रम का दायित्व मुझ पर है। अब देखो। तुमसे बतियाने बैठ गई। न जाने वहाँ रसोई का क्या हुआ है! चूल्हे पर दाल चढ़ाकर चली आई थी।''

''सोचो मत । वहाँ भात बन चुका है, दाल भी गली है।''

''तुम्हें कैसे मालूम है?''

''तुमने जो वरदान दिया है न ? अब तुम्हारा सोचना है कि जहाँ यह देह हो, वहीं तुम्हारी उपस्थिति है। किंतु हमारे पथ में तो ऐसा है कि तुम या मैं जहाँ न हों,वह स्थान है ही नहीं अर्थात् हमारी उपस्थिति सर्वत्र होती है।''

''तो क्या यहीं बैठकर रसोई-घर की बातें देखा-जाना जा सकता है?''

''इसमें कौन-सी कठिनाई है ? यही नहीं; माने लो कि तुमने रसोई के काम के लिए किसी को नियुक्त कर लिया है तो तुम्हारी देखरेख के बिना भी वह रसोई का काम पूरा करेगी न? उसी भाँति रसोई को ही आदेश दे दो कि वही वह दायित्व सँभाल लें। तो हो गया; पर जो इस विद्या से अवगत हैं, वे ही उस ओर ध्यान नहीं देते ?''

''पता नहीं कि तुम क्या-क्या कहती हो ? किंतु तुम्हारे कहने तथा भगवान् के कहने में कोई अंतर नहीं। इसलिए वह असत्य नहीं हो सकता। हाँ, एक बात अवश्य है, न जाने हमें अज्ञात और भी क्या-क्या रह गया है? अस्तु, मैं अब चली।''

''हाँ, तुम गृहस्वामिनी हो। पूर्ण गृहस्थी का भार तुम पर है। ऐसे में हम जैसे दायित्व-मुक्तों-ज्यों कैसे बैठे रहा जाए? नहीं न? तुम जाओ। पर एक बात है। जब तुम निद्रावस्था में होती हो तब यह सारा भार किस पर छोड़ती हो।''

''हाँ, हाँ, किसी की बोलती बंद कराने की कला तुम दोनों को एक समान प्राप्त है।''

कात्यायनी ने निश्चय किया कि भगवान् से मिलकर ज्ञानसत्र के बारे में बात करनी होगी। अब वह रसोई-घर की ओर चली। कुछ ही देर में भात बनकर तैयार हो गया, दाल भी गली। उसमें इमली का रस छोड़कर खौला लिया। नमक डाल रही थी कि भगवान् वहाँ आ पहुँचे।

''क्यों कात्यायनी, तुमने पुकारा ?''

''कात्यायनी आवाज़ सुनकर मुड़ी,उन्हें देखा। उनको देखने से मन में उठी प्रसन्नता को प्रकट करते हुए कहा-''पुकारा तो नहीं; पर ध्यान कर रही थी।''

भगवान् ने अनजाने से पूछा-''क्यों, कोई बात है ?''

''चाहती थी कि आपसे बहुत सारी बातें करूँ। पर अब सब कुछ विस्मृत हो गया है।''

''हाँ, कभी-कभी यों हो जाता है। मैं भी माध्याह्निक आदि कार्य कुछ समय पूर्व ही निबटाकर तुमसे बात करने के विचार से आ गया। कोई बात नहीं, बाद में ही कहो।''

''अब देखिए, याद हो आया। किंतु क्या रसोई-घर में ही बात कर लें।''

''हाँ, हाँ, बातें तो हम दोनों ही में होंगी। रसोई-घर हुआ तो क्या हो गया! और तो और, यह तो तुम्हारा क्षेत्र है। प्रायः तुम्हारी कोई बात मानने के लिए मैं यहाँ आ गया हूँ। हाँ, तुम सब्ज़ी काटते-काटते ही बातें करो। तुम्हें उस रूप में देखकर बहुत दिन बीत गए। हाँ, हाँ, पधारो न, सब्ज़ी काटने का तुम्हारा यह औज़ार है न उसके सम्मुख आसीन हो जाओ।''

''छोड़िए, आप भी मुझे बनाने लगे!''

''न, बनाना नहीं। सच कह रहा हूँ। तुम सब्ज़ी काटो। मैं वेत्रासन पर बैठता हूँ। बातें भी करेंगे।''

कात्यायनी को संकोच हो रहा था। भगवान् ने उसे साग्रह वहाँ बिठाया। बातें आरंभ हो गईं।

''ज्ञानसत्र के बारे में आपने क्या विचार किया ?''

''मुझे क्या करना है ? राजा तो दोनों हाथों से धन उलीच रहे हैं। देश-विदेश से विद्वान् आएँगे। सत्र चलेगा। मेरे लिए करणीय क्या है ?''

''आपको निमंत्रण आया है कि नहीं ?''

''आया है।''

''आप उसमें जाएँगे नहीं ?''

''मैंने इस संबंध में कोई विचार नहीं किया है। वहाँ जाकर मैं क्या करूँगा?''

''वाह, आप तो मुझे बना रहे हैं। सभी कहते हैं कि यह सारा आयोजन आप के लिए ही हो रहा है। बड़े-बड़े विद्वानों की उपस्थिति में आपको सर्वज्ञ उपाधि से विभूषित किया जाएगा।''

''सुनो कात्यायनी, कहा जाता है कि यदि ब्रह्मिष्ठ ब्रह्म-लोक में प्रविष्ट हो जाए तो स्वयं चतुर्मुख ब्रह्म उसका स्वागत कर आसन देकर अर्घ्य-पाद्यादि से सम्मानित करते हैं। पर ऐसी स्थिति में उसके प्रति भी निर्मोही होकर आगे बढ़ जाना होगा। इसी को वैराग्य कहते हैं। ऐसे में एक राजा के ज्ञानसत्र में सर्वज्ञ की उपाधि पाकर मुझे क्या मिलेगा! किं तेन कर्म? कहो न?''

''तो क्या आप उसमें भागीदार नहीं होंगे?''

''वैसा प्रण भी नहीं किया है। तुम पूछोगी कि यदि मैं नहीं जाऊँ तो सर्वज्ञ उपाधि अन्य किसी की हो जाएगी न? किंतु एक बात जानो, इस विश्व के समस्त

चराचरों में मेरी ही अवस्थिति है तो सर्वज्ञत्व जिस किसी को भी मिले वह मेरी ही होगी न ?''

कात्यायनी इस पर क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करती ? उसके मन का वह भाव दर्पण की परछाई ज्यों उसके मुख पर दृष्ट था। उसने प्रश्न किया–''कहते हैं कि न जाने का प्रण नहीं। पर यह भी नहीं कहते कि जाने का भी निर्णय नहीं लिया। ऐसे में मैं क्या कहूँ ?''

भगवान् उसकी ओर देखकर हँसे और कहा–''देखें, यदि हमारा जाना अनिवार्य हो तो यज्ञेश्वर आदेश देंगे। तब अवश्य जाएँगे।''

कात्यायनी ने कहा–''यदि स्वयं राजा ने आकर आपको निमंत्रण दिया तो?''

भगवान् उठते हुए बोले–''तब तो हम पर दोनों ओर से दबाव होगा। एक तुम्हारी ओर से, दूसरा राजा के द्वारा। किंतु जब तक यज्ञेश्वर का आदेश न हो तब तक नहीं जाएँगे।''

''वह कब मालूम होगा?''

''देवता तो सर्वत्र विद्यमान होते है, वे जब चाहें तब आदेश देंगे।''

''तो पूछ लीजिए ना''

''यों पूछना ठीक नहीं होगा। किंतु तुम मेरी गृहिणी जो हो, तुम्हारी संतृप्ति के लिए पूछ लेता हूँ।''

भगवान् शुद्धाचमन कर बैठ गए। ध्यानस्थ हुए। कात्यायनी के मन में परिणाम के बारे में आतुरता थी। भगवान् ने आँखें खोलीं और कहा–''जाने का आदेश हुआ है। अब उसका जो शुभाशुभ होगा, वह तो उसी का है। तो अवश्य चलें। कल षष्ठी का दिन है। यात्रा के लिए इतना शुभ नहीं माना जाता तो आज ही भोजनोपरांत निकल पड़ें। मैत्रेयी यहीं रहें।''

'' न, वह भी आएगी।''

''ठीक है, तो तैयारी कर लें।''

तभी अतिथिगृह से एक वटु भागा–भागा आया।

भगवान् ने पूछा–''क्या बात है ?'' वटु ने कहा–''महाराजा गजारूढ़ होकर आए हुए हैं।''

भगवान् ने कात्यायनी की ओर देखा। हँसकर कहा–''चलो चलें।'' यों कह वे वटु के पीछे-पीछे चल पड़े।''

ज्ञानसत्र

ज्येष्ठ शुक्ल सप्तमी का दिन आ गया। उससे पूर्व के आठ दिनों में राजधानी भर में भीड़-भाड़ हो गई। दस देशों के राजा आए हैं। स्वयं महाराजा मंगलवाद्यों के साथ जाकर उनका स्वागत कर चुके हैं। उनको अलग-अलग राजप्रासादों में ठहराया गया है। विद्वान् तो अपने शिष्यों के साथ पालकियों में बैठ पधारे हैं। राजपुरुषों ने उन सभी का स्वागत कर उनके लिए नियत स्थानों में ठहराया है।

ज्ञानसत्र तो एक यात्रा बन चुका है। उसको देखने के लिए लोग-बाग सभी स्थानों से आए हुए हैं। कुछ लोग तो कह रहे हैं–''हमारे जीवन में हमें इतने विद्वानों को एक साथ देखने का अवसर अब कभी नहीं मिलेगा।'' कुछ लोगों का विचार है–''ज्ञानसत्र क्या होता है ? यह तो देखें।'' सबसे अधिक लोग इसे एक मनोरंजक उत्सव मानकर देखने के लिए आए हुए हैं। इस प्रकार राजधानी में घरों, सड़कों, पेड़ों के नीचे, मैदानों में सर्वत्र लोगों की भीड़ हो गई है।

उत्सव से पहले दिन राजा विद्वानों में जो सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे उनसे मिल आए। ब्रह्मवादिनी गार्गी और श्रौत में प्रसिद्ध अश्वल भी राजा के साथ गए हुए थे। वे श्रौत में नामी विद्वान् आर्तभाग भुज्य, ब्रह्मवादी उषस्थ, कहोब, उद्दालक एवं विदग्ध से मिल आए। विदग्ध ने राजा से पूछा–''यह क्या बात है ? लगता है कि आपने अभी से अपने सर्वज्ञ का चयन कर लिया है ?''

राजा ने विनीत रहकर उत्तर दिया–''ऐसी बात नहीं। हमारे राज्य में याज्ञवल्क्य कर्म एवं ब्रह्म दोनों में ख्याति-प्राप्त विद्वान् हैं। इसके अतिरिक्त उनको विद्वत्ता वंशानुगति से मिली हुई है। अतएव मैं स्वयं उनके पास जाकर उन्हें निमंत्रण दे आया।'' यह सुनकर विदग्ध विस्मित हुए–''उसमें कोई दोष नहीं, कानों ने जो सुना था उसे मैंने वाणी दी। बस और कुछ नहीं। विद्वानों की ओर से गार्गी तो हैं। आप ही के अश्वलजी भी हैं। यदि आप निर्णय लें कि अमुक व्यक्ति का ही सर्वज्ञाभिषेक हो तो उसका विरोध वे भी नहीं करते।''

गार्गी ने कहा–''यह बात नहीं, गुरुजी। हमारा विचार है कि यह सर्वज्ञत्व आप दोनों में, अर्थात् आप या याज्ञवल्क्य किसी एक के लिए सर्वथा निश्चित है।''

''यह तो आप हमारे प्रति अपने स्नेह के कारण कह रही हैं। उनको तो देवताओं की कृपा प्राप्त है ही। अतएव यदि वे ही सर्वज्ञ बनते हैं तो इसमें आश्चर्य

है नहीं। उस कारण हमें दुखी होने की आवश्यकता भी नहीं। एक संहिता, एक ब्राह्मण एवं एक उपनिषद् को अर्जित करना कोई साधारण-सी बात नहीं। इस पर भी उसका सामना करने में हमें किसी प्रकार की अधीरता भी नहीं? क्यों गार्गी, आप क्या कहती हैं ? आप तो उनके साथ तीर्थ करने भी गई थीं। उनके विद्या-वैभव से आप अभिभूत हो गई है ?''

''जो भी हो, मैं आपकी शिष्या हूँ। यद्यपि मैं मानती हूँ कि उनपर विद्या का यथेच्छ अनुग्रह हुआ है तथापि समय पाकर मैं भी उनसे उलझने को सन्नद्ध हूँ।''

''साधु, साधु, देखो ना। कुछ भी कहे रजोगुण का मातृस्थान मानव में ही होता है। समय पाकर विस्फोटित होना उसका स्वभाव होता है। वशवर्तिनी पत्नी भी क्या कभी-कभार प्रतिरोध नहीं करती ? ऐसे में हम विद्वानों में अपनी विद्वत्ता का अहंकार अवस्थित रहता है। यदि हम विरोध नहीं करें तो हमारी हेठी होगी। साथ-साथ यह शंका भी होगी कि यदि ऐसा नहीं करें तो वह विद्या-देवी का अपमान होगा। कुल मिलाकर यह स्थिति हमें विरोध करने पर बाध्य करती है। किंतु हमारा यह अहं यदि रागद्वेषों के वशीभूत होकर दुरभिमान को उजागर करे तो अनर्थ होगा। अस्तु, क्या सभी ने सर्वज्ञ मुकुट को देखा है ?''

राजा ने कहा–''सर्वज्ञ मुकुट शारदा-मंडप में सभी के दर्शन के लिए रखा गया है। यह तो कोई महत्त्व का आकर्षण नहीं। पर यदि वह जो गोधन इसके लिए आरक्षित रखा गया है, उसे देखकर अपरिग्रही भी मन पर अंकुश खो बैठता है। सब कुछ मैं ही बता दूँ, यह उचित नहीं। यदि आप की अनुज्ञा होगी तो अश्वल इस संबंध में आपको कह सुनाएँगे।''

''सुनाइए न, अश्वल जी। बहुत दिन हो गए, हमने आपको नहीं सुना है। आप भी तो बड़े पहुँचे हुए हैं। आप ऐसे बड़े विद्वान् हैं कि हाँ कहें तो वह वरदान होगा, न कहें तो श्राप। पर क्या करें! हमारा दुर्भाग्य है। आपने ब्रह्मविद्या की ओर ध्यान नहीं दिया। आपने अपना सर्वस्व श्रौत के लिए समर्पित कर दिया। अस्तु, आपके पुरोहित भार्गवजी कहाँ हैं ?''

''वे राजपुरोहिताई तजकर याज्ञवल्क्य के आश्रम में तपस्या में निरत है। यही नहीं, याज्ञवल्क्य की अग्नियों की रक्षा में अपने को तैनात कर मैत्रेयी को भी जाने दिया है।''

''वे तो याज्ञवल्क्य की मोक्ष-पत्नी हैं न ?''

''हाँ।''

''प्रसन्नता है, यदि उन जैसी ब्रह्मवादिनी नहीं होती तो आपकी सभा की शोभा कैसे बढ़ती। क्यों गार्गी? ठीक है न? अस्तु, अश्वल जी कुछ कहने जा रहे हैं।''

अश्वल ने कहा–''एक सहस्र सवत्स गायें, उनके संग राजभवन से पच्चीस छोड़ भी हैं। ज्ञान–मंडप के दुगने विस्तार वाले आम्रवृक्षों की झुरमुट में इनको ठहराया गया है। गायों की टोली को देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं। अब तो सब को स्नान कराकर हल्दी–कुंकुम से अलंकृत किया गया है । प्रत्येक गाय के लिए एक ओढ़नी है, पाँवों में तथा सीगों में चाँदी के पाँव टोपे और सींग टोपे पहनाए गए हैं। गले में पीतल का सांकल है, मुख पर मुखौटा। इन सबके सिर मौर के रूप में प्रत्येक गाय की प्रत्येक सींग पर मनु के समय की पाँच स्वर्ण मुद्राएँ। दोहन के लिए एक छोटा–सा पात्र और कलश–भर दूध समा सके–ऐसा बड़ा पात्र। सेवक, घास, खली–सब मिल मिलाकर वही दस सहस्र स्वर्ण–मुद्रा समान होगा।

''यह मनुवाली स्वर्ण मुद्रा क्या है ?''

अश्वल ने राजा की ओर देख उनकी अनुज्ञा पाकर निक्षिप्त निधि की प्राप्ति के बारे में ब्यौरेवार कह सुनाया–''प्रत्येक मुद्रा तीन उँगली जितनी बड़ी है। प्रत्येक ऐसी मुद्रा से हमारी पच्चीस मुद्राएँ बनेंगी।''

''इतना सारा धन ?''

''कल आप स्वयं देखेंगे न ? एक और बात है। जो गायें ले जाते हैं, उन्हें आश्वासन है कि गायों को रंचभर भी दुख नहीं पहुँचेगा। उनके लिए आवश्यक गोशाला, उनकी देख–रेख करनेवाले ग्वालों के लिए घर, उनके लिए एक वर्ष तक पर्याप्त अनाज, आदि तथा उसके भंडारण की व्यवस्था–ये सब महाराजा के दिए धन से आयोजित होगा।''

''ऐसा ही होना चाहिए। महाराजा ने यह जो किया, ठीक ही किया। इसके साथ सर्वज्ञोपाधि प्रदान करने के दिन अन्य देशों से आए राजा–महाराजाओं द्वारा चढ़ाई जानेवाली भेंट आदि से भी पर्याप्त धन मिलेगा। कुल मिलाकर पाँच लाख तक होगा।''

विदग्ध ने परम हर्षित होकर सिर हिलाते हुए कहा–''इस ज्ञानसत्र अर्थात् ज्ञानपण–द्यूत में जो विजयी होगा वह और उसकी संतान तीन पीढ़ियों तक सुखपूर्वक जीवनयापन कर पाएँगे। इसी क्रम से विद्योन्नति होगी। बहुत ठीक हो रहा है।''

सप्तमी के दिन विद्वान्, देशाधिप, नगर-प्रमुख, अतिथि, आगत, राजकर्मचारी आदि अपने-अपने वाहनों में बैठकर पधारे। सब के बाद भगवान् जी अपने माता-पिता को पालकी में बैठाकर उसे स्वयं उठाए पधारे। वे अपने प्रधान शिष्य काण्व के साथ पालकी के अग्रभाग की डांडी उठाए हुए थे। मैत्रेयी एवं कात्यायनी पीछे की डांडी पकड़े हुई थीं। उनका दूसरा प्रधान शिष्य मध्यंदिन बेंत पकड़े हुए आगे-आगे चल रहा था। वे सब ज्ञान-मंडप में प्रविष्ट हुए। यद्यपि आचार्य जी का तेज पसरा हुआ था, तथापि प्रतीत हो रहा था कि उसके मूल में भगवान् जी का ही तेज था।

भगवान् की प्रतीक्षा में रत महाराजा को मालूम हुआ तो वे घबराकर स्वयं आगे बढ़े तथा भगवान् के बदले में पालकी की डांडी को स्वयं कंधा दिया। उनके साथ भागे मंत्री, सेनापति, भंडारी आदि ने डांडी का शेषभाग सँभाला। अब आचार्य जी ने सोचा कि अब पालकी में बैठे रहना उचित नहीं है। अतएव अन्यों के आग्रह करते रहने पर भी वे उतर गए। भगवान् सपत्नीक सशिष्य माता-पिता को आगे किए चलने लगे। राजा, मंत्री, सेनापति, भंडारी आगे बेंत सँभाले पथ दर्शा रहे, जब गृहाध्यक्ष चले।

मंडप में समाविष्ट सारा जनसमूह यह देखने के लिए उठ खड़ा हुआ कि वे महान् व्यक्ति कौन हैं जिनकी अगवानी के लिए स्वयं महाराजा धाए हुए हैं। राजा ने विदग्ध एवं शाकल्य के चरण धोए थे। अब आचार्य दंपति, भगवान् एवं उनकी पत्नियों के चरण धोए। वे सभी विद्वत् सभा में अपने लिए नियत स्थानों पर बैठ गए। भगवान् ने अपने पिता की पंक्ति में न बैठकर अपने आसन को थोड़ा तिरछा मोड़ लिया। सभा ने उन्हें पहचाना और उनके उपशांत तेजस् को देखकर बहुत प्रसन्न हुई।

सभी के यथावत् उपविष्ट होने पर कर्णमधुर स्वागत संगीत हुआ। राजा ने मंच पर उपस्थित होकर सभा-पूजा संपन्न की। भय और भक्ति सहित सभा को उद्देश्य कर निवेदन किया-''समस्त सम्मान्य विद्वज्जनों को प्रणाम करता हूँ। ज्ञानसत्र के श्रीगणेशार्थ आप लोगों की अनुज्ञा का प्रार्थी हूँ। न जाने मेरे कितने जन्मों के पुण्य-फल का परिमार्जन है कि आप जैसे विद्वज्जनों एवं आपके आश्रयदाता देशाधिपों के दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। आज मैं आप लोगों के सम्मुख दो विज्ञप्तियाँ करना चाहता हूँ। प्रथम है, यह महासभा जिस महात्मा को सर्वज्ञ के रूप में मान्यता देगी, उसके शीर्ष पर यह सर्वज्ञ मुकुट धारण कराकर उन्हें सर्वज्ञाभिधान से भूषित कर उनका तिलक करेगी। दूसरा, आप सबने देखा होगा

कि इस मंडप के उस पार आम्रवृक्षों की छाया में सहस्र गायें ठहराई गई हैं। वे सब सालंकृत है, सोपस्कर एवं सपरिवार हैं। आपमें से जो ब्रह्मिष्ठ होंगे वे उन्हें स्वीकार करें।''

वहाँ उपविष्ट बहुतेरे विद्वान् बहुत सारी सभाओं में अपनी कीर्ति-पताका फहरा चुके थे। वे सब विद्यावैभवयुक्त थे। किन्तु उस सभा में खड़े होकर अपने को ब्रह्मिष्ठ घोषित करने का साहस किसी में न था। यद्यपि सभी को गायों का लोभ था तथापि उसे लेने का साहस उनमें नहीं था। न जाने क्यों सबका मन भयावृत था। विद्या एवं कीर्ति में अग्रसर माने जानेवाले कुरु-पांचाल थे। उनमें परम श्रेष्ठ थे विदग्ध शाकल्य। उन्होंने भी उठकर अपना अधिकार जताने का मन नहीं किया।

राजा ने वेदी पर खड़े होकर पुनः वही घोषणा दुहराई। थोड़े समय प्रतीक्षा की। किंतु वहाँ केवल मौन व्यापा हुआ था। अब प्रतीक्षा ने घनीभूत होकर मौन को अधिक अर्थपूर्ण बनाया।

राजा ने तीसरी बार वही बात कही। सभा में ऐसी निस्तब्धता छाई थी कि उसकी घोषणा की प्रतिध्वनि-सी होने लगी—यदि यह कहें कि कोई ज़ोर से साँस भी नहीं ले रहा था, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

विरोध

अंत में विद्वत् समूह में बैठे एक व्यक्ति उठ खड़े हुए। सभी की आँखें उनपर केंद्रीकृत हुईं। उनके द्वारा धारण किए हुए धौत-वस्त्र मानो उनके हृदय की पवित्रता का प्रतिफलन कर रहे थे। उँगली में धारण की हुई पवित्री, ओढ़ा हुआ अजिनोत्तरीय उसके लक्ष्य को उद्घोषित कर रहे थे। उसके मुख का तेज यही आभास दे रहा था कि स्वयं यज्ञेश्वर उनके रूप में प्रकट हुए हैं। लोगों ने देखा, ये तो भगवान् थे, भगवान् याज्ञवल्क्य प्रवर !

सभा में व्याप्त मौन को भेद कर, मेघजाल के बीच से निकलती कड़क-सी, ध्वनि गूँज उठी। दूर बैठे शिष्य को बुलाकर आदेश दिया—''इस गोगण को हमारे आश्रम में ले जाना।'' उनकी ध्वनि में गांभीर्य था। यह अहंकार नहीं था कि मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। ध्वनि में होनी के बारे में आशंका भी नहीं थी। मुख पर शांति थी।

एकांत में रहकर जिसने अग्निहोत्र संपन्न किया हो,उसके मन में विश्वास घर करता है कि मेरा कर्म सतगुण-पूर्ण है। आज याज्ञवल्क्य के चेहरे पर उसी भाव का लास्य था।

सभा ने भगवान् की चर्या का निर्विरोध समर्थन किया। यद्यपि बहुतों ने आज तक उन्हें नहीं देखा था, तथापि आज वे भी उनके तेज को देख अभिभूत हो गए। सभी को अहसास हो गया था कि भगवान् ही सर्वज्ञ स्थान के लिए सर्वथा योग्य हैं। सभी ने हर्षाभिव्यक्ति में करतल ध्वनि की।

सहसा विद्वत–सभा से एक घोष सुनाई पड़ा। सभी की दृष्टियाँ उधर को मुड़ीं। राज–पुरोहित अश्वल खड़ा हुआ। उसका मुख तमतमाया हुआ था। उसे जो निराशा हुई थी उसका परिणाम था कि वह रुष्ट था। उसके साथ यह अहंकार समाया हुआ था कि मैं राजपुरोहित हूँ।

उसने भगवान् से संवाद प्रारंभ किया। उसकी बातों से उसके मन की स्थिति अभिव्यक्त हो रही थी।

''याज्ञवल्क्य जी, आपके कथन का आशय आपकी समझ में आया? इस गोग्रहण द्वारा आपने हम सभी की अवहेलना की है। आप अपने कथन से कहना चाहते हैं कि हम सभी विद्वज्जनों में आप ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मिष्ठ हैं।''

भगवान् के चहरे पर जो गांभीर्य था उसमें से मंदस्मित खिल गया। थोड़ा मुस्काते हुए कहा–''ब्रह्मिष्ठतम को हमारा प्रणाम भी स्वीकार हो। प्रस्तुत हम गोकाम हैं।''

अश्वल ने पूछा–''तो आपके इस कार्य ने हममें से किसी को भी यह अधिकार दिया है कि हम जो भी चाहें आपसे पूछें।''

''ब्रह्मविषयक प्रश्न पूछ सकते हैं। आज के हमारे इस आचरण से ही नहीं, जब भी चाहें पूछ सकते हैं।''

''तो प्रश्न करूँ ?''

''इसमें संदेह क्यों?''

''स्पष्ट कीजिए, आपके अनुसार आपका ब्रह्म सब कुछ है। तो हमसे वह किस प्रकार भिन्न हुआ ?''

''आपका कथन सही है। लेकिन हमारा ब्रह्म एवं तुम्हारा ब्रह्म जैसा कुछ नहीं। ब्रह्म तो ब्रह्म होता है। अब रह जाता है कि उसमें और हममें क्या अंतर है वाला विचार। वह अंतर अविद्या–कामकर्मों के कारण हुआ है। अतएव जो यह

समझता है कि वह स्वयं भिन्न है, वह सर्वस्व मृत्युवश में हो जाता है। जो इस मृत्यु के पार हो चुका है वह ब्रह्म होता है। ऐसी संभावना ही मुक्ति है।''

''आपके कथनानुसार यह सब कुछ मृत्य के अधीन है।''

''हाँ।''

''तो यज्ञकर्ता यजमान मुक्ति कैसे प्राप्त करेगा ? वह भी मुक्त किस प्रकार से हो पाएगा ?''

''यजमान तो कर्मफल की कांक्षा करते हुए मृत्यु वश होता है। उसके विपरीत जो प्राण अध्यात्म बन जाता है वही अधिभूत होता है। वही आदिदैव अग्नि बनकर किया हुआ कर्म अधियज्ञ हो जाता है। तब परिच्छिन्न साधना अपरिच्छिन्न होकर मुक्ति प्रदान करती है। यही तो अतिमुक्ति होती है।''

''अस्तु, अभी आपने कर्मरूपी मृत्यु के अतिक्रमण की विधि बताई। अब स्पष्ट कीजिए कि कालरूपी मृत्यु को पार कैसे करूँ ?''

''काल के दो रूप होते हैं–नियत एवं अनियत। अनियत–काल जो होता है वह अहोरात्र स्वरूपवाला होता है। नियत–काल तो तिथि एवं पक्ष रूपी होता है। आप किस प्रकार के काल के बारे में प्रश्न कर रहे हैं ? ''

''दोनों के बारे में कहिए।''

''अस्तु, यजमान की जो आँख होती है वह अनियत–काल को दर्शाती है। अध्यात्म से अदिभूत बना अध्वर्यु उस अनियत काल को आदि–दैव आदित्य स्वरूप में परिभावित करने पर जो कर्म किया जाता है वह अदियज्ञ बन जाता है तथा कालरूपी मृत्यु का अतिक्रमण कर देता है। अब यजमान का जो प्राण है, उसे अध्यात्म से अदिभूत,फिर पुन: उसे उद्‌गातृ वहाँ से अदिदैव बना लेता है तथा वायु द्वारा दृष्ट कर्म अदियज्ञ बन जाता है और काल के नियत स्वरूप तिथि पक्षादियों का अतिक्रमण कर मृत्यु को पार कर जाता है।''

''अस्तु, यह तो हुआ उनका विचार जो कर्मफल की अपेक्षा नहीं करते। इसके विपरीत जो कर्मफल की कांक्षा करता है, वह स्वर्ग को कैसे प्राप्त कर सकता है ?''

''अंतरिक्ष द्वारा फल की कांक्षा करना या न करना मन से होता है। यदि मन को ही यज्ञरक्षक ब्रह्म बनाकर चंद्र का अनुसंधान किया जाए तो अंतरिक्ष पथ प्रशस्त कर देता है तथा स्वर्ग को दर्शाता है। '' अश्वल हक्का–बक्का हो गया। बंधक बनानेवाला तथा मृत्यु रूपी कर्म एवं काल के अतिक्रमण का रहस्य भगवान्

को ज्ञात है। साथ-साथ यह भी जानते हैं कि कर्मफल किस प्रकार से प्राप्त होता है, तो इसका तात्पर्य हुआ कि ये श्रेय और प्रेय दोनों को जानते हैं। ऐसे विद्वान के पास मैं क्या चर्चा करूँ ? जिसका ज्ञान अधूरा होता है, उसके साथ चर्चा कर विजय प्राप्त कर सकते हैं ? किंतु जो सर्वज्ञ हैं, उसके साथ तर्क करना बाघ के साथ की क्रीड़ा-सी होगी। बस, अब इनसे बच निकलूँ कैसे ? प्रश्न किए बिना नहीं रहा जाता। पर क्या प्रश्न करूँ ? यह तो नहीं जानता। ऐसी विभ्रांति की अवस्था में वह न जाने क्या कह बैठे—

''यज्ञ में ऋत्विक क्या कुछ करते हैं, बताइए। यह भी बताइए कि उन-उन कर्मों से यजमान को किस प्रकार के फल की प्राप्ति होगी?''

इस प्रश्न को सुनते ही सभी को प्रतीत हो गया कि अश्वल विभ्रांत होकर कुछ बड़बड़ा रहा है, भगवान् ने हँसते हुए कहा—

''होतृ तीन प्रकार के मंत्रों का उपयोग करता है— पुरोनुवाक्य, यज्या तथा शस्या। यज्ञ से पूर्व जिन मंत्रों का पाठ होता है वे सब पुरोनुवाक्य होते हैं। यज्ञकाल में उच्चरित मंत्र यज्या होते हैं। यज्ञ संपन्न होने पर जिन मंत्रों का पाठ होता है वे शस्या हैं। इससे जिन-जिन लोकों में प्राण अवस्थित होता है, उन पर यजमान विजय प्राप्त करता है।''

''अध्वर्यु तीन वर्ग की आहुतियाँ देता है। वे आग की लपटों की भाँति ऊपर को उठती हैं। वे बहुत बड़ी ध्वनि उत्पन्न करती हैं; नीचे गिरती हैं। ज्वलित आहुतियों द्वारा यजमान देवलोकों पर विजय प्राप्त करता है। वह सशब्द आहुतियों द्वारा सशब्द पितृलोकों पर तथा नीचे गिरनेवाली आहुतियों से अधोभाग के मनुष्य-लोकों पर विजय प्राप्त करता है।

''उद्गातृ तीन भाँति के सामों का गायन करता है—यज्ञारंभ से पूर्ववाले, यज्ञ के समयवाले तथा यज्ञानंतरवाले। उन्हीं को अद्यामरूप में दूसरे स्तर पर देखा जाए तो वे ही प्राणापानव्यान बनेंगे। उनसे मनुष्यलोक, अंतरिक्ष लोक एवं द्योलोक पर विजय प्राप्त करेगा।

''ब्रह्म जो है वह यज्ञ की रक्षा मन द्वारा करता है। मन अनंत होता है, अनंत विश्वदेवताओं को सूचित करता है। अतएव विश्वदेवताओं के समान ही अनंत लोकों पर विजय प्राप्त करता है।''

अश्वल को अब कुछ भी सूझ नहीं रहा था, इसलिए हाथ जोड़कर उपविष्ट हुआ। सभा आज के लिए समाप्त हो गई।

अतिप्रश्न का परिणाम

अगले दिन आचार्य देवरात के घर पर राजभवन से दो पालकियाँ आईं। एक आचार्य दंपति के लिए थी, दूसरी भगवान् दंपति के लिए। उनके साथ आए राजपुरुषों ने भगवान् से निवेदन किया—''सभी मवेशी कल ही आश्रम पर भेजे गए। आज से गोशाला, अनाज के भंडारण की व्यवस्था, गोपालकों के लिए आवास, गायों को पानी के लिए कुएँ आदि की व्यवस्था के प्रयास आरंभ हो जाएँगे।''

भगवान् ने कात्यायनी को बुलाकर कहा—''सुनो, तुम्हारी इच्छा के अनुसार देवताओं ने सहस्र गायें दीं। अब तुम्हें जो करना हो कर लेना।''

वह हँसते हुए बोली—''हाँ, हम तो दैवदत्त धन से जीनेवाले हैं। यदि देवता कृपानुग्रह करेंगे तो हमें वह मिलें, अन्यथा नहीं। अब आपका आशय है कि मैं वहाँ जाकर उनकी देखभाल करूँ ?''

भगवान् ने उसके प्रश्न का आशय ताड़ लिया और उलाहना देते हुए कहा—''अब तुम्हें जाने को कौन कहे ? इस विद्वत्–सभा में जो कुछ होनेवाला है, उसको तुम देखे बिना कैसे रहोगी ? किंतु यह भी बात है कि यदि तुम आश्रम में नहीं जाओगी तो इन गायों के कुशल–क्षेम का दायित्व कौन लेगा? यह कैसी दुविधा आन पड़ी है ?''

''दुविधा कुछ नहीं, देवताओं के इस वरदान से मुझे किसी प्रकार का आतंक न हो– ऐसी व्यवस्था कभी की हो चुकी है। अतएव हम ऐसी व्यवस्था कर दें कि सभा के समापन तक ये राजकर्मचारी ही इसका दायित्व निभाएँ।''

''ऐसी बात है? ठहरो, राजकर्मचारियों से इस संबंध में बात कर लें।''

राजकर्मचारी ने निवेदन किया—''गोशालाएँ बनकर उनमें पशुओं को ठहराने तक का दायित्व हमीं पर है। उनको सही स्थिति में अवस्थित कराने के बाद ही आप पर उसकी देखभाल का भार पड़ेगा। हमें इस बारे में आदेश मिल चुका है।''

कात्यायनी ने संतोष जताते हुए भगवान् की ओर देखा। उन्होंने कहा—''तुम तो बड़ी चतुर निकली। देवता–जन तुम्हारे स्वभाव से अवगत जो हैं! इसीलिए उन्होंने सबकुछ तुम्हारी इच्छा के अनुकूल ही कर दिया है।''

''वह भी आपकी कृपा थी, अब जो हो रहा है यह भी आपकी कृपा ही है।''

सभी समय पर ज्ञान-मंडप में उपस्थित हुए। राजा ने प्रणाम कर निवेदन किया-''आपसे विनती है कि आप आज संवाद बैठकर ही करें। प्रश्नकर्ता आपके सम्मुख ही बैठेंगे।''

भगवान् ने कहा-''यह विचार कल ही मेरे मन में उठा था। जब शास्त्रार्थ करते हैं तब खड़े होकर बात करना श्रेयस्कर नहीं होता। कल मैं स्वयं यह बात उठाना नहीं चाहता था। आज आपने जो नियम बनाया है, वह सर्वथा सही है। वही होगा।''

सभा आरंभ हुई तो भगवान् वेदी पर चले आए एवं आसन ग्रहण किया। सभा से आर्तभाग उठे, वे दूसरे आसन पर बैठे। प्रश्नोत्तर कार्यक्रम आरंभ हो गया। आर्तभाग ने प्रश्न किया।

''याज्ञवल्क्य, क्या मैं प्रश्न पूछूँ?''

''हाँ, आप तो नामी जरत्कारु वंशज हैं। ऋतुभाग के सुपुत्र हैं, आप जैसे विद्वान् मुझसे प्रश्न पूछेंगे तो मेरे लिए गौरव की बात होगी, मैं प्रस्तुत हूँ।''

''मृत्यु क्या होती है ? उस पर विजय पाने का तात्पर्य क्या होता है?''

''मृत्यु प्रवृत्ति-कारण होती है। प्रवृत्ति में आसक्त न होकर निवृत्ति में मन लगाने से मृत्यु पर विजय की प्राप्ति होती है।''

''जब समस्त विश्व ब्रह्म ही है, तब विश्व में रहनेवाले प्रवृत्ति में क्यों आसक्त हो जाते हैं?''

''क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ग्रहातिग्रहों द्वारा नियम्य होता है।''

''तो प्रवृत्तिकारक वे ग्रहातिग्रह कितने हैं? वे कौन-कौन हैं ?''

''आर्तभाग प्रवर, ग्रहों की संख्या आठ है । उन पर नियंत्रण रखनेवाले अतिग्रह भी आठ होते हैं। ये आठ ग्रह हैं-घ्राण , जिह्वा, चक्षु, श्रोतृ, हस्त,त्वक्, वाक् एवं मन। ये सब बहिर्मुखी हैं। इसीलिए ये ग्रह होते हैं। ये हमेशा व्यक्ति को आकर्षित कर बहिर्मुखी बनाते हैं और प्रवृत्ति के कारण बनते हैं। उनको इस दिशा में नियमित करनेवाले अतिग्रह होते है। इनमें रूप चक्षु को, शब्द श्रोतृ को, कर्म हस्त को, स्पर्श त्वक् को, नाद वाक् को, काम मन को आकर्षित करते हैं। इसीलिए गंधादि को घ्राण से ही ग्रहण किया जाता है। ये सब शरीर में ही अवस्थित हो, शरीर को प्रवृत्तिपरक बनाकर अंत में स्वयं मृत्यु के वश में हो जाते हैं।''

''यदि ये सब मृत्यु के वश में हो जाते हैं, तो बताइए कि मृत्यु क्या है? वह किसकी वशवर्ती होती है ?''

''आर्तभाग, संपूर्ण लोक अन्न-अन्नाद के रूप में दो भागों में विभक्त है। मैंने कहा था कि ये सब मृत्यु के वश में हो जाते हैं; अग्नि ही मृत्यु बनी है। वे सब अग्नि के लिए अन्न बन जाते हैं। यों जो अन्न और अन्नाद का अंतर जानता है वह मृत्यु पर विजयी होगा।''

''याज्ञवल्क्य, जब शरीर मृत्यु के वश में जाता है तब शरीरी का क्या होता है? कौन-कौन उसको छोड़ जाते हैं ? उनका क्या होता है ?''

''आपका प्रश्न बड़े महत्त्व का है आर्तभाग, ध्यान देकर सुनें। शरीर जब मृत्यु का वशवर्ती हो जाता है तब शरीरी पृथक् हो जाते हैं। केवल नाम को छोड़कर शेष सब वहीं जा मिलते हैं जहाँ से वे आए थे। यों वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, श्रोतृ दिशा में, शरीर पृथ्वी में, ज्ञातृ आकाश में, रोम एवं केश औषधि एवं वनस्पतियों में, रक्त एवं तेज जल में समा जाते हैं।''

''उस स्थिति में उस शरीरी को स्थान कहाँ ? वह रहता कहाँ है?''

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े-''आर्तभाग, प्रश्न सटीक है। आप जो भी पूछेंगे उसका उत्तर देने के लिए मैं यहाँ प्रस्तुत हूँ। किंतु यदि मैं इस प्रश्न का उत्तर दूँ तो इस सभा में उपस्थित लोगों में से किसी एक को अपना शरीर छोड़ना पड़ेगा। इसके लिए कौन सन्नद्ध होगा ? उनको आप किस प्रकार का संरक्षण प्रदान कर पाएँगे? बताइए न? यद्यपि प्रश्न विघटनात्मक है, तथापि हम तो उत्तर देने के लिए तत्पर हैं।''

आर्तभाग की आँखें पथरा गई। यह सोचकर कि मैंने ऐसा प्रश्न क्यों किया, उसकी आँखों में आँसू आ गए। भगवान् ने यह देखा तो करुणार्द्र हुए-''आर्तभाग,जो हुआ सो हुआ। अस्तु, जब हम स्वयं आवश्यक संरक्षण प्रदान करने को सन्नद्ध हैं तब आप भयभीत क्यों ?'' भगवान् ने उसे धीरज बँधाया।

''सर्वप्रथम रक्षा प्रदान करेंगे। देवता अग्नि में श्रद्धा का होम करते हैं। उससे सोम जन्म लेता है। यदि सोम को पर्जन्य-नाम्नी अग्नि में होम करते हैं तो वर्षा जन्म लेगी। उस वर्षा को पृथ्वी-नाम्नी अग्नि में होम करेंगे तो अन्न निकलता है। उस अन्न को पुरुष-नाम्नी अग्नि में होम करें तो वह रेतस् बनता है। उस रेतस् को योषिदग्नि में होम करें तो गर्भधारण होगा, वह शिशु बनेगा। अब यह सब अपने मन में धारण कर आप अपने प्रश्न का उत्तर सुनिए। जब सब लौट रहे होते हैं तब शरीर केवल अपने कर्म को लेकर चंद्रमसि के पास जाएगा। यदि तब उसके पास पुण्य का अधिक संग्रह है तो पुण्य शरीरी होगा। पाप अधिक है तो पाप शरीरी बन जाएगा।''

आर्तभाग ने सर्वप्रथम अपनी देह का पर्यवेक्षण कर देखा कि कुछ अवयव तो नहीं घटा। जब पाया कि देह के सभी अंग अपने-अपने स्थानों पर सुरक्षित हैं तब वह संतृप्त होकर, बाघ के चंगुल से छूटे हिरण की तरह वहाँ से उठकर भागा। दो पग जाने पर उसे स्मरण हुआ कि उसने भगवान् को प्रणाम नहीं किया। वह मुड़ा, वहीं से दंडवत् किया। दुर्दान (वह वस्तु जिसे दान में ग्रहण करना वर्जित है) ग्रहण किया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार पीछे मुड़कर देखे बिना चला जाता है, उसी प्रकार आर्तभाग वहाँ से खिसक गया।

कर्म-ब्रह्मवादी

आर्तभाग के यों चले जाने पर सभा में क्रोध का वातावरण छा गया। एकत्रित विद्वान् आपस में चर्चा करने लगे-''वाह रे पंडित, उठा तो कैसी ऐंठ थी उसकी चाल-ढाल में ? कैसा अट्टहास था ? जो पूछना नहीं चाहिए था वही पूछ बैठा। जिसको छेड़ने गया था उसी से संरक्षित होने की दुर्दशा का भागी हुआ। ऐसा अपमान करवाने गया ही क्यों?'' भगवान् ऐसे निर्विकार बैठे रहे, मानो कुछ भी घटा नहीं।

काशी के विद्वान् जहाँ एकत्र थे वहाँ उनमें आपसी बातचीत हुई। उनमें से एक ने कहा-''भुज्यु, तुमने गंधर्वों से विद्या प्राप्त की हुई है। जाओ, किंतु ध्यान रहे कि ऐसा कुछ न पूछो जो पूछना व्यर्थ है। यदि इसमें पराजित भी हो गए तो भी तुम्हारा नाम रहेगा। उठो, आगे बढ़ो।''

भुज्यु ने उनके परामर्श को मान्य किया। उठकर वेदी की ओर चला।

''कौन हैं ये?''

''इन्हें नहीं जानते? भुज्यु तो परम श्रेष्ठ विद्वान् लह्यजी के प्रपौत्र हैं।''

भुज्यु वेदी पर चढ़कर भगवान् के सामने बैठ गए। प्रश्नोत्तर प्रारंभ हुआ।

''याज्ञवल्क्य, जब हम छात्र रहे तब मद्रदेशवासी काश्यप गोत्रवाले पंकजल के घर गए हुए थे। वहाँ उनकी पुत्री पर गंधर्व आवाहित था। हमने उनसे बात की और प्रश्न किया कि पारीक्षित (परीक्षित की संतति) कहाँ जाएँगे? हम आज वही प्रश्न आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। पारीक्षित कहाँ जाएँगे?''

''पारीक्षित वहाँ जाएँगे जहाँ अश्वमेधयाजि रहा करते हैं ?''

''तो अश्वमेधयाजी कहाँ रहते हैं ?''

''भुज्यु, सुनो, सूर्य का रथ दिन में जितनी दूर जाता है, उसका बत्तीस गुना विस्तृत है यह लोक। इस लोक को इसकी दुगनी पृथ्वी ने घेरा हुआ है, पुन: उसे उसके दुगने प्रमाणवाले समुद्र ने आवृत किया हुआ है। वहीं ब्रह्मांड का अंत होता है। वहाँ खड्ग की धार-सा एक छेद है। उसके बाहर वायु का आवरण है। अश्वमेधवाला अग्नि पुरुष सूपर्ण होकर अश्वमेधयाजी को तथा आपके द्वारा उल्लिखित पारीक्षित को अपने में धारण कर उसे वायु के वश में कर देता है। वह उसे ले जाकर अपने में अवस्थित कर लेता है । पुन: उसे ले जाकर पूर्व में अश्वमेधयाजी जिस लोक में रहा करते थे उस ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है।''

भुज्यु अचंभे में पड़ गए-''हाँ, आपने जो कहा वही सत्य है। गंधर्व ने भी यही कहा था।'' यों कहते हुए उठे, हाथ जोड़े, वेदी से नीचे उतरकर सभा में जा बैठे।

इधर कात्यायनी ने मैत्रेयी से कहा-''दीदी, भुज्यु को एक बात का विस्मरण हो गया। वे गंधर्व से अनुगृहीत हुए थे, तो इन्होंने आदित्य का अनुग्रह पाया है।'' मैत्रेयी ने कहा-''हाँ, तुम यदि उनके स्थान पर होती तो विरोधियों का कुशल न रहता।'' उसकी पीठ थपथपाकर वे हँसीं।

इतने में पुन: कोलाहल हुआ। उषस्थ उठे। उन्होंने सभा की ओर देखकर प्रणाम किया। वेदी की ओर बढ़े। भगवान् के सामने आसीन हुए। उनकी भंगिमा आकर्षक थी। उनमें न तो भगवान् को पराजित करने का हठ था, न उनसे पराजित होने का भय । एक ही स्तरवाले लोगों के बीच जिस प्रकार का समभाव होता है वही वहाँ दृष्ट था।

उन्होंने सविनय पूछा-''याज्ञवल्क्य प्रवर, क्या मैं आपसे प्रश्न पूछ सकता हूँ?''

भगवान् ने उनके मुख को निहारा और कहा-''आप चक्रायण के सुपुत्र उषस्थ हैं न? आप तो ब्रह्मविद्या-संपदा के लिए प्रसिद्ध वंश से हैं। अपने अनुष्ठान के लिए सुविख्यात भी हैं। आप अवश्य प्रश्न करें।''

''आनंद हुआ, जो प्रत्यक्ष होने पर भी अपरोक्ष-सा है उस सर्वांतरस्य ब्रह्म के बारे में मुझे समझाइए।''

''आपने हमारे अत्यंत प्रिय विषय के बारे में प्रश्न किया। तदर्थ मैं आपकी अभिवंदना करता हूँ। उषस्थ प्रवर, दिखने वाली हमारी इंद्रियाँ बहिर्मुखी हैं। इंद्रिय

एवं 'दृश्य' में जो संबंध बना होता है यदि वह भंग हो जाए तो आत्मा का साक्षात्कार होगा। हम जिसे सुख समझकर उसके पीछे संसार भर का चक्कर काटते हैं उन सुखों की अपेक्षा बड़ा सुख भी है, वही सबका कारण बनता है, तथा ज्ञात होता है कि वही सबसे बड़ा, उसकी अपनी आत्मा ही सबसे अहम है। अतएव सभी के भीतर अवस्थित वह आत्मा और कोई नहीं, प्रश्नक आप ही हैं।''

उषस्थ गंभीर हो गए। उन्हें खेद हुआ कि उन्होंने जो कुछ जानना चाहा उसका सही उत्तर नहीं मिला। उनके चेहरे पर अप्रसन्नता की रेखाएँ उभरीं। उन्होंने वही प्रश्न दुहराया–''सभी के भीतर अवस्थित आत्मा कौन है?'' भगवान् ने उत्तर देना आरंभ किया।

भगवान् ने विरोधी के मन की धारणा को सहज ही भाँप लिया। सिर हिलाते हुए कहा–''ऐसा है, तो सुनिए। आत्मा के मायने है शरीर, आत्मा का तात्पर्य कारणसंघात लिंग होता है, आत्मा के मायने इन दोनों के बीच में अवस्थित अन्य एक होता है। शरीर तो सर्वांतर नहीं होता, अतएव वह आत्मा नहीं है। शरीर कार्यकारणसंघात प्राण से चयनित होता है। लिंग भी आत्मा नहीं, क्योंकि वह भी करण होता है। पंचात्मक भूतसंघात से बनी इस देह का संचालक, उन पंचप्राणों की क्रिया को करानेवाला वही होता है। अतएव इन सभी कार्यों के लिए कारण बने, इन सब करणों को संचलित करनेवाला, जो चेतनाचेतन है वही सभी के भीतर रहता है।''

उषस्थ की भौंहें तन गईं। उनकी अप्रसन्नता बढ़ गई। वे चिल्ला उठे–''याज्ञवल्क्य, यह प्रवंचना है। जो सींग पकड़ाकर कहता है कि यह बैल है। पुनः कहे कि चलनेवाला बैल होता है, दौड़नेवाला घोड़ा है तो क्या यह असंबद्धता नहीं है। आपकी व्याख्या भी कुछ इसी भाँति की है। आपने जो गो–धन वश में किया है वह ब्रह्मिष्ठों के लिए आरक्षित था। अब जब ब्रह्म के बारे में प्रश्न करता हूँ तो प्रत्यक्ष उसे दिखाने के बदले आप भाँति–भाँति की अभिज्ञानों का उल्लेख किया करते हैं ?'' भगवान् के ओठों पर खिला मंद हास फीका न पड़ा। उन्होंने कहा–''ब्रह्मज्ञ को इस प्रकार का विक्षोभ उचित नहीं। ब्रह्म तो अमूर्त होता है, इंद्रियों द्वारा उसको देखा नहीं जाता। ऐसी स्थिति में उसको इंद्रिय दृष्ट कैसे कराएँ? यदि कोई कहे कि यह दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ हैं तो उसको जाना जा सकता है। यदि वह संख्या अर्बुद तक बढ़ा दें तब भी उसकी कल्पना कर मूर्त कर लिया जा सकता है। पर जब असंख्य कह दें तो इंद्रियों द्वारा उसका साक्षात्कार

कैसे किया जा सकता है? दृष्टि की सीमा में रहकर भी जो दृष्टिगत नहीं होता, उसे कैसे देखा जाए? हमारी व्याख्या में प्रतिज्ञाहानि नहीं। पर प्रतिज्ञाहानि है आपके आग्रह में जो असंभव को संभव बनाकर दिखा देने की माँग करता है। उसको न वाक् स्पर्श कर पाता है न मन। जिसको केवल अनुभूति द्वारा जाना जा सकता है उसको वाक् से कैसे जाना जाए? वाक् से परे जो है उसको वाक् द्वारा वर्णन करने का प्रयास करेंगे तो वाक् ही समाप्त हो जाता है। मन से परे जो है उसके मनन का प्रयास करें तो मन अमनस्क हो जाता है। क्यों, यही है न?''

उषस्थ ने कुछ कहना चाहा, पर बात नहीं बनी। वे भयभीत हुए। उठकर नमस्कार किया। उनकी जिह्वा खुली–''अपराध हुआ, क्षमा हो। मैंने जो खंडन किया उसको क्षम्य समझें, आपने जो कहा वही सही है।'' किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की अपेक्षा किए बिना वे वेदी से उतरकर चले गए।

अब कौषीतकेय कहोल सभा से उठकर मंच पर आसीन हुए। उनके चेहरे की रेखाएँ बता रही थीं कि केवल स्वयं वे और भगवान् ही इस मंडप में हैं। उनके लिए गो-धन, ब्रह्मिष्ठतम आदि महत्त्व के नहीं थे। अपने जीवनकाल में वे ऐसे महनीय अवसर की प्रतीक्षा में थे। यदि यह अवसर चूक गया तो पुनः कभी प्राप्त नहीं होगा-यही आशंका थी। तथापि वहाँ गुरु-शिष्य भाव नहीं था। लगता था कि वे वहाँ बैठे कुछ ऐसी बातों को स्मरण में लाने की चेष्टा कर रहे हैं जिन्हें वे भूले हों। या यह भी संभव था कि दसों विषयों को सामने रखकर उनमें से सही वस्तु का चयन कर रहे हों। वह अब सिर झुकाए फ़र्श की ओर देखने लगे। इधर सभा नीरव हो उनके मुँह से निकलनेवाले वक्तव्य की प्रतीक्षा कर रही थी।

कात्यायनी को अब थोड़ा अवकाश मिल गया। उसने कुहनी से मैत्रेयी को दबाते हुए संकेत किया–''उधर देखो।'' मैत्रेयी की आँखें जिधर को मुड़ीं उधर उसने गार्गी को अपना आँचल एवं उत्तरीय सहेजते हुए उठने की मुद्रा में देखा। वे भगवान् की ओर टकटकी लगाए देखी जा रही थीं। उसकी उस मुद्रा से प्रतीत होता था कि वे भगवान् से चर्चा के लिए सन्नद्ध हो रही हैं।

उसे देखकर मैत्रेयी ने धीमी ध्वनि में कात्यायनी से कहा–''बहन, ये सब केवल बदलियाँ हैं। वे तो पर्वत सदृश हैं। वायु की चपेट में आनेवाली बदली छितर जाएगी, वह पर्वत का क्या बिगाड़ सकती है?''

कात्यायनी को उसका वह स्नेह-भरा विश्वास प्रिय लगा। वह कुछ कहना चाहती थी कि कहोल ने अपना संवाद आरंभ किया।

''याज्ञवल्क्य, कृपा कर उसी प्रश्न का उत्तर पुनः देने की कृपा करें।''

''अर्थात्।''

''ब्रह्म साक्षात् होकर अपरोक्ष रूप में जो सर्वांतर हुआ है उसी के विचार में व्याख्या करें।''

''अस्तु, कहेंगे। उस आत्मा को न शरीरधर्म स्पर्श कर सकता है, न प्राणधर्म, न मनोधर्म। वह तो इन सबसे परे है। शरीर का धर्म होता है जरा-मरण। आत्मा अजर है, अमर है। जरा-मरण तो केवल शरीर को अर्थात् जो किसी दूसरे का कार्य बनकर, किसी तीसरे का करण बनकर अस्तित्व में होता है, उसे ही पकड़ सकता है, न कि अशरीरी आत्मा को। अब रही क्षुधा एवं पिपासा की बात-जो शरीर में अवस्थित होकर स्वेच्छा से उस पर नियंत्रण करती हैं, वे भी आत्मा को स्पर्श कर नहीं पातीं। प्राण तो आत्मा की छाया है। प्राण कार्य भी है, करण भी है। जो आत्मा ये दोनों नहीं, वह प्राण के धर्मों को, जो वे दोनों हैं, कैसे स्पर्श कर पाएँगे? प्राण जैसे शरीर में अवस्थित हो इंद्रियों की क्रियाओं को प्रेरणा देनेवाले मन के धर्म होते हैं शोक और मोह। शोक ही काम होता है, मोह ही अज्ञान है। घास अग्नि का स्पर्श करने पर जिस प्रकार अपने अस्तित्व को बचा नहीं पाती उसी प्रकार काम अकाम आत्मा का स्पर्श कर कैसे बच निकलेगा ? उसी प्रकार अज्ञान ज्ञानरूपी आत्मा तक कैसे पहुँच पाएगा ?- क्यों आपकी समझ में बात आई?''

''हाँ, शरीरधर्म, प्राणधर्म एवं आत्मधर्म से जो परे होता है वही आत्मा है।''

''वह आत्मा ही आप द्वारा प्रश्नित सर्वांतर है। क्योंकि वह नित्य है, सर्वत्र निवसित है। एक बार उसे जो देख लेता है, वह उसको विस्मृत किए बिना सर्वदा सर्वत्र देखता रहता है। वह साक्षात् होकर अणु से अणु,महतीय से महतीय होता है; वह अपरोक्ष है। सबमें अवस्थित हो,सबका नियंत्रण करता रहता है, इसीलिए वह सर्वांतर है। जानते हैं कि उसके इस स्वरूप दर्शन का फल क्या होता है ?''

''आदेश हो।''

''जिसको उसकी अवगति हो जाती है वह उस अवगति को ही बल मानकर निश्चिंत हो जाता है। उसको उसके सिवाय किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। पुत्रादि की ओर भी उसका मन आकृष्ट नहीं होता। आकर्षण की ईषणा उसे नहीं होती। वह अपनी अवगति तथा उससे उद्भूत शक्तियों से मौनी बन जाता है। जो मौनी होता है वह मौनी बने रहने तक अनुभव करता है कि वह 'वही' हो चुका है, ब्राह्मण बनकर कृतार्थ हो जाता है। उसके लिए सिवाय उस महादर्शन के, शेष सब विनाशी ही हो जाते हैं।''

''आपने महान् उपकार किया।''

इतना ही कहकर कहोल वहाँ से उठे। भगवान् को नमस्कार किया और चले गए।

अब गार्गी उठीं। सभी ने आग्रह किया कि वे वेदी पर जाएँ। पर उन्हें वह मान्य नहीं था। वहीं से उन्होंने निवेदन किया–''भगवान् प्रसन्न होकर मेरे प्रश्न का उत्तर दें।''

भगवान् ने सस्मित होकर कहा–''अवश्य, भगवती के प्रश्न उस योग्य होंगे। उसके लिए संरक्षण चाहिए ही। अतएव पूर्व–योजना कर व्यूह–रचना कर ली है। रक्षक भी नियुक्त कर आगे बढ़ी हैं। आदेश हो!''

गार्गी ने पूछा–''इस पृथ्वी का सर्वस्व जल में ताना–बाना बन समाया हुआ है। आप समझाएँ कि इस जल का ताना–बाना कहाँ बुना हुआ है?''

''साधु, साधु, भगवती जी का प्रश्न बहुत उत्तम कोटि का है। इसमें परंपरा से वृद्धि संभव है। किंतु भगवती, जिसे निष्ठा से अवगत करा लेना पड़ता है, उसे युक्ति द्वारा, अनुमान द्वारा जान लेने पर संतोष तो रहेगा कि हमें अवगति हो गई। किंतु वह केवल चित्र–स्थित अग्नि रहेगी। चित्र में दीखनेवाली अग्नि–ज्वाला अग्नि की उपस्थिति का बोध करा सकती है, किंतु उससे अग्नि के ताप आदि गुणों की अनुभूति तो असंभव है। इसका स्मरण रहे। अब आपके द्वारा पूछे गए प्रश्न पर विचार करें। पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु—ये सब आपस में मिलकर लोक–लोकांतरों की संरचना करते हैं। जल वायु में, वायु अंतरिक्ष में, अंतरिक्ष गंधर्व लोक में, वह आदित्य लोक में, फिर वह चंद्रलोक में, वह नक्षत्र लोक में, वह देवलोक में, पुनः वह इंद्र लोक में, यह प्रजापति लोक में, वे ब्रह्मलोक में ओतप्रोत हो जाते हैं। क्या समाधान मिल गया?''

''तो वह ब्रह्मलोक अब किसमें ओतप्रोत होता है?

''गार्गी, उससे आगे की बात करना नहीं। उस ब्रह्मलोक में ब्रह्मांड की रचना करनेवाले भूत होते हैं। जब तक भूतों की उपस्थिति होती है तब तक ज्ञान बाह्य होता है। जब ज्ञान भूतों की सीमा से परे हो जाता है तब वही सर्वत्र व्याप जाता है। तब विषय का ज्ञान आगम से होता है, अनुमान से नहीं। अतएव आगम को छोड़कर अनुमान को प्रमुखता देकर आगे बढ़ेंगे तो परिणाम विष को अन्न समझकर खाने के समान होगा। अतएव इससे आगे नहीं।''

गार्गी ने सुना तो आज्ञाकारी सदृश हाथ जोड़कर अपने स्थान पर आसीन हो गई।

पुनश्च संवाद

विदग्ध शाकल्य ने गार्गी को बुलाया–''आपका जो आचरण रहा, वह मुझे जँचा नहीं। एक अश्वल के सिवाय अन्य किसी ने मन से प्रश्न नहीं किया। कहोल का आचरण तो समाश्रित करनेवाला ही रहा। आप तो भगवान् के सम्मुख शिशु-सा व्यवहार करती हैं। किसी से स्पर्धा करने की रीति क्या इस प्रकार से संभव है? उसने अपने को ब्रह्मष्ठ उद्‌घोषित तो नहीं किया, परंतु उसने आचरण द्वारा यह दर्शा दिया है। उसपर आक्रमण करते समय भी क्या आप लोगों का आचरण मस्त हाथी से उलझनेवाले मशक के समान होना चाहिए?''

गार्गी को मानो गहरी चोट लगी। हाथी पर अंकुश के वार-सा आचरण था। मंत्र द्वारा अवरुद्ध किए हुए सर्प पर मानो किसी ने बेंत की मार कर दी हो। तथापि अपने को संयत कर एक लंबी उसाँस ली।

इतने में वेदी की ओर कोई बढ़ा। उसकी चाल से प्रतीत होता था कि वह अन्यों की भाँति साधारण कोटि का नहीं। उसके मुख के भाव को पढ़ने से लगता था कि वह किसी की परवाह नहीं करता। वे थे उद्दालक। ये उद्दालक याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक नहीं, ये भिन्न हैं। नाम के साम्य के कारण किसी प्रकार का विभ्रम न हो। ये उद्दालक नामी विद्वान् अरुण के पुत्र थे। वे बड़े घमंडी के रूप में जाने जाते थे। ब्रह्मवाद में तो उनकी टक्कर का प्रायः ही कोई था।

उद्दालक सीधे वेदी पर गए, वहाँ आसीन होने से पूर्व आसन पर की धूल झाड़कर उस पर कृष्णाजिन बिछाकर बैठ गए। उनकी इस क्रिया से लगता था कि वे अब तक वहाँ बैठे हुए सभी की पराजय का प्रभाव मिटा रहे हैं। बैठते ही पलभर का विलंब किए बिना प्रश्न दाग दिया।

''याज्ञवल्क्य जी, मेरी ओर ध्यान दें और सावधान होकर सुनें। जब हम श्रौत की शिक्षा पा रहे थे तब मद्रदेशवासी कपि-गोत्रोद्‌भव पतंजल के पास थे। उनकी पत्नी पर गंधर्व आविष्ट होते। कदंब नामक उस गंधर्व ने हम सब के सम्मुख काव्य लिखकर पूछा था– लोक, परलोक एवं सर्वभूतों को बाँधनेवाले सूत्र को जानते हो? इन सबमें अवस्थित होकर उन सबको उसी भाँति बने रहने पर बाध्य करनेवाले उस अंतर्यामी को जानते हो? उसने हमें ज्ञान का उपदेश देते हुए कहा था कि उस अंतर्यामी को जाननेवाला लोक, वेद, भूत, आत्मा सबका जानकार होता है। याज्ञवल्क्य, आपको उस सूत्र एवं उस अंतर्यामी का ज्ञान है? यदि

आपको ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं है तो आपको अपने सिर की बलि चढ़ानी होगी, क्योंकि आपने उस ज्ञान के अधिकार के बिना गो-धन ग्रहण किया है।''

उस प्रश्न को सुनकर सभी लोग चकित हो गए। किसी ने कहा- ''साधु, अब तो हुई ब्रह्मवाद की बात।'' विदग्ध ने भी प्रशंसा में सिर हिलाया। राजा लोग भी प्रसन्न हुए। प्रश्न इतना महत्त्व का था कि सभी की आँखें खुली की खुली रह गईं, भौहों में बल आया।

भगवान् अचल शिलाखंड की भाँति बैठे रहे। आँखें बंद कीं, फिर उन्मीलित कर उद्दालक को देखा, चेहरे पर हल्की-सी मुस्कुराहट थी। सभा में गंभीर मौन व्यापा हुआ था। उद्दालक को उसके गोत्र नाम से संबोधित करते हुए कहा-''गौतम, मैं वह सब जानता हूँ।''

भगवान् ने शांतचित्त हो उत्तर दिया। इसलिए उद्दालक को क्रोध हो आया। तथापि जो स्वभाव से संयमी होता है वह अपने चेहरे पर अभिव्यंजित निराशा एवं क्रोध का दमन कर लेता है। उद्दालक ने वही किया और कहा-''याज्ञवल्क्य, कोई भी कह देगा कि मैं जानता हूँ। किंतु आप जो जानते हैं उसे स्पष्ट करते हुए कहिए।''

भगवान् जो अबतक तकिये से लगकर बैठे थे, उसे छोड़कर आगे को सरककर पद्मासन को ठीक किया। हथेलियाँ एक-दूसरे पर रखकर गंभीर हो बोले- ''मैंने सुना था कि उद्दालक जी अंतस की बात को मुख की मुद्राओं से जान लेंगे। वाक् से अर्थ महत्त्व रखता है। जो अर्थ वाक् से अवशिष्ट होता है उसको पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने में वाक् असफल हो जाता है। हाँ तो हे वाणी,अब तुम विजृंभित हो जाओ। वेद-सम्मत तथा अनुभव-जन्य जो भी है उसका जितना अंश प्रकट करना उचित हो उतना अभिव्यक्त करो तथा कृतकृत्य बनो। हम भी सुनकर कृतार्थ होंगे। उद्दालक जी आप सुनें।''

मेघविहीन आकाश में गर्जन सुनने के कारण जिस प्रकार संसार भयभीत हो जाता है, उसी भाँति उद्दालक जी भी काँप गए। उन्हें अब लगा कि मैंने निठुर वाक्य क्यों कहे ? उन्हीं बातों को कटुता-मुक्त एवं कोमल बनाकर कहा जा सकता था।''

भगवान् की मेघगर्जन-सी ध्वनि गूँज उठी, ''गौतम, वह सूत्र ही वायु है। केवल यह संसार एवं परलोक ही नहीं, सर्वस्व उसी वायु से नियंत्रित है। जब वायु शरीर से निष्क्रमित हो जाती है तब शरीर शिथिल पड़ जाता है। अतएव गौतम, वायु ही वह सूत्र है।''

उद्दालक जी को अनुभूत हो रहा था कि भगवान् द्वारा उच्चरित प्रत्येक शब्द फन फैलाए सर्प के फन पर हो रही मार है। अनिच्छा से ही उनके मुँह से निकला–''हाँ, सही है, अब अंतर्यामी की बात ?''

भगवान् ने कहा–''जो पृथ्वी आदि पंच भूतों में, उनसे निर्मित अंतरिक्ष द्योलोकों में तथा अंतरांतर में अवस्थित है, जिसका ये सब शरीर हैं, जिसको ये सब जान नहीं पाते, जिसके नियमन द्वारा ये सब संचालित हैं, वही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, केवल वही अमृत है।

''चंद्र नक्षत्रादि तेजोमंडल में अवस्थित आदित्य जो नियमन किया करता है, ये सब जिसके शरीर होने पर भी इसको जान नहीं पाते, वही आत्मा है; वही अंतर्यामी है, केवल एक वही अमृत है।

''तम, तेज एवं सर्वभूतों में अवस्थित हो नियमन करते रहने पर भी, ये सब उसके शरीर होने पर भी जिसको ये समझ नहीं पाते, वही आपकी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वही अमृत है।

''वह जिस प्रकार शरीर में अवस्थित होता है उसी भाँति आपके शरीर में स्थित इंद्रिय, मन, प्राण, विज्ञान, रेतस् में भी अवस्थित होकर उनका नियमन करता है। वे सब उसके शरीर होते हैं। किंतु उनमें से कोई उसको नहीं जानता। बिना किसी को दीखे वह सब कुछ देखता है। बिना किसी को सुनाई दिए वह सब कुछ सुनता है। उसके सिवाय अन्य कोई नहीं। वह आपकी आत्मा है, अंतर्यामी है। केवल वह एक अमृत है, शेष सभी मृत्यु है।''

उद्दालक ने बिना प्रयत्न के कह दिया 'सत्य है'। हाथ जोड़कर वे वहाँ से प्रत्यावर्तित हुए।

गार्गी पुनश्च उठीं। सभा को प्रणाम किया। भगवान् को भी हाथ जोड़कर कहा–''आर्य, मैं और दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ। अनुज्ञा हो।'' विदग्ध ने सोचा–गार्गी रुष्ट हुई हैं। अब याज्ञवल्क्य का बचना कठिन लगता है। पुन: अपने आपसे प्रश्न किया–''यदि याज्ञवल्क्य इसके प्रश्न से भी विचलित नहीं होगा तो?'' अब विदग्ध ने पूरी सभा को अपनी आँखों में बाँधने का प्रयास किया। वहाँ कहीं भी प्रश्नकर्ता दृग्गोचर नहीं हो रहे थे। अब उनके मन में विक्षोभ हुआ–यदि कोई नहीं उठा, तो मैं स्वयं ललकारूँगा। किंतु कुरु–पांचालों में जिसकी ख्याति विद्वद्रत्न के रूप में है वह स्वयं प्रेरित हो शास्त्रार्थ के लिए कैसे आगे बढ़े ? अस्तु,देखें, दैव की इच्छा क्या है ?

सभासदों ने गार्गी जी के विनय को देखा। वे सब प्रसन्न हुए। एक बार प्रश्न करने का अधिकार सभा में उपस्थित सभी को प्राप्त है। दूसरी बार पूछना हो तो सभा की अनुमति चाहिए। वह तो है, किंतु अब अन्य सभासद भी एक के बाद एक दुबारा प्रश्न करने की अनुज्ञा चाहेंगे तो क्या होगा ? आपसी चर्चा के उपरांत सभा ने अनुज्ञा दी।

गार्गी अब वेदी के पास गईं। अबकी बार उद्देश्यपूर्वक भगवान् शब्द का उपयोग किए बिना आरंभ किया–''आर्य याज्ञवल्क्य, मैं पुनः यहाँ हूँ। कहते हैं कि शूर उपाधि से विभूषित काशी के युवराज या विदेह राजपुत्र ने जिस धनुष की प्रत्यंचा खोल दी थी, पुनः प्रत्यंचा चढ़ाकर विरोधी को घायल बनाने के आशय से ही बाण प्रयोग किया करते थे। उसी तरह आपसे मैं ऐसे दो प्रश्न करूँगी जिसका उत्तर आप दे नहीं पाएँगे ? क्या आप सन्नद्ध हैं ?''

गार्गी द्वारा बाँधी गई इस भूमिका से भगवान् में कोई अंतर नहीं आया– ''भगवती जो चाहें पूछ सकती हैं।''

''मानीजन कहा करते हैं कि ब्रह्मांड दो भागों में विभक्त होकर द्यावा–पृथ्वी बन गया। यह भी कहा जाता है कि द्यावा–पृथ्वी के आभ्यंतर में तथा भीतर कोई कुछ अवस्थित है। यही भूत, भविष्यत एवं वर्तमान तीनों कालों के लिए कारण बना हुआ है। किंतु जो काल देश–विभाजन के अंतर्गत नहीं पड़ता उसी को सूत्र कहते हैं। वह सूत्र किसमें ओतप्रोत हुआ है।''

भगवान् उस स्त्री बुद्धि वैभव को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। ''साधु गार्गी, मैंने इससे पूर्व आदेश दिया था कि जिसे आगम एवं उपदेश से प्राप्त किया जाना चाहिए उसे अनुमान द्वारा ऊहापोह कर लेना निषिद्ध होता है। अब आपने आगम को सामने कर पुनः अनुमान को ही प्रस्तुत किया है। भगवती ने जिस सूत्र का उल्लेख किया वह काल–देश से परे है। यों व्याकृत जो हुआ वह सूत्र वायु है। वह वायु काल–देश की सीमा को लाँघकर अव्याकृत आकार–विहीन आकाश में ओतप्रोत होती है। आपको संतोष हुआ न?''

भगवान् ने प्रश्नों का सही उत्तर दिया, इस पर गार्गी प्रसन्न हुईं। साथ–साथ उन्हें दुख भी हुआ कि उन्होंने जिस सावधानी से प्रश्न तैयार किया था, वह इच्छित फल न देकर विफल हो गया। किंतु उनकी प्रसन्नता दुख पर हावी हो गई तो उन्होंने मुक्त कंठ से भगवान् की प्रशंसा की–

''भगवान् को प्रणाम; ऐसे दुस्साध्य प्रश्न का इतनी सरलता से उत्तर देने पर आपको पुनः नमस्कार। पर इससे भी कठिन प्रश्न के लिए भगवान् को सन्नद्ध होना होगा।''

भगवान् ने उनके नमस्कार को यथोचित रीति से सहज रूप में स्वीकार किया और कहा–''हम सदा तत्पर हैं।''

गार्गी ने प्रश्न किया–''आपने कहा कि जो वायु सूत्र बन जाती है वह आकाश में ओतप्रोत हुआ होता है। यह आकाश जो है वह किसमें ओतप्रोत हुआ है?''

भगवान् ने यह प्रश्न सुना तो हर्षित हुए–''इस प्रश्न से यह प्रकट हो जाता है कि भगवती जी असाधारण लौकिक हैं। हमें या तो इस प्रश्न को अवाच्य कहकर मौन धारण करना होगा या उत्तररूप में कुछ न कुछ कहना होगा। यदि उत्तर दिए बिना मौन धारण करेंगे तो वह निग्रह होगा। यदि कहने का प्रयास करें तो अवाच्य को वाक् द्वारा अभिव्यक्त करने का निग्रह होगा। यों दोनों रीतियों से हमें पराजित करने के लिए भगवती जी ने यह प्रश्न किया है, पर इन दोनों दोषों से मुक्त रहकर ही आपको उत्तर मिलेगा। सुनने के लिए तत्पर हो जाइए।''

सभा में उपस्थित सभी वह प्रश्न तथा उसका निर्वचन दोनों को सुनकर आश्चर्यचकित एवं अवाक् हो गए। यद्यपि किसी ने मुँह से कुछ नहीं कहा, तथापि सभी मन ही मन प्रशंसा करने लगे–''साधु, प्रश्न हो तो ऐसा हो।'' इससे बढ़कर उसमें निहित गांभीर्य एवं उभयतः व्याघात को समझकर, उसका भी उत्तर देने के लिए सन्नद्ध भगवान् को देखकर सभी मन ही मन कहने लगे–''ये तो अतिमानव हैं।'' विद्या-संपन्नता के लिए सुख्यात कुरु-पांचाल देश के विद्वान् चौंक पड़े। विदग्ध के मन में भी शंका पैदा हो गई –''क्या यह हमारी पीठ चढ़ जाएगा।'' सभी उत्तर सुनने के लिए सावधान हो, सुव्यवस्थित हो, उत्सुक हो बैठ गए। कात्यायनी ने मैत्रेयी से कहा–''दीदी देखो, गार्गीजी का चेहरा किस भाँति तमतमाया हुआ है।'' उसकी ओर ध्यान दिए बिना वह भगवान् के मुख को निहारने लगी।

भगवान् ने सभा के घनीभूत मौन को काटते हुए कहा–''भगवती, आकाश जिसमें ओतप्रोत है उसे ब्रह्मज्ञानी-ब्राह्मण अक्षर कहते हैं। इस मूर्त संसार में जिन्हें गुण कहते हैं उनमें से कोई इन पर अन्वित नहीं होता। इसीलिए इसे निर्गुण कहते हैं। न वह अन्न है, न अन्नाद। किंतु उसके अस्तित्व को नकारा भी नहीं जाता क्योंकि गार्गी, उसके प्रशासन में सूर्य-चंद्र एवं द्यावा-पृथ्वी भी निमिष से लेकर संवत्सरांत तक काल-निर्भर होता रहा है। प्रवाही नदी तटों के बीच में ही प्रवहित

जो होती रहती है, वह तो उसके प्रशासन के द्वारा ही है। यही क्यों? सब कुछ अपने-अपने स्थान पर जो स्थित है यह भी इसी के बल से है। गार्गी, इसको जाने बिना जो भी कर्म किया जाता है वह सब सांत (अंत होनेवाला) होता है। इसको जो जान नहीं पाता वह तो कृपण होता है। जो इसको जान पाया है वह ब्राह्मण होता है। इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं होता। जो कुछ है,वह बस यही है। ऐसे अक्षर में आकाश ओतप्रोत होता है।''

गार्गी यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुई, उन्होंने कहा-''भगवान् को नमस्कार, भगवत्‌रूपी ब्राह्मण, इन्होंने आपके नमस्कारों को स्वीकार कर आप लोगों को छोड़ दिया, यह आपका सौभाग्य रहा है, ब्रह्मवाद में इस पर विजय पाना सपना देखना होगा।'' यों कहकर भगवान् को नमस्कार कर वे अपने स्थान पर जा बैठीं।

सर्वज्ञाभिषेक

गार्गी के लौटने पर जहाँ कुरु-पांचाल विद्वान् बैठे हुए थे वहाँ हलचल मच गई। सारे प्रमुखों ने विदग्ध को आ घेरा। ''विदग्ध जी, आज तक कुरु-पांचाल देश तो सरस्वती का आवास एवं ब्रह्मलोक सदृश ख्यातनाम रहे। आज उसकी वह गरिमा समाप्त होने को है। एक वैदेह सबको पराजित कर साधारण कोटि के हाथियों को खदेड़नेवाले मदगज के समान इतरा रहा है। अभी समय शेष है। पलभर की प्रतीक्षोपरांत यदि अन्य कोई उसे ललकारे नहीं तो राजा जनक याज्ञवल्क्य का सर्वज्ञाभिषेक कर देंगे। उठिए, हमारे गौरव की रक्षा कीजिए। अपने देश की पराजय को रोकिए।''

विदग्ध ने विचार किया-'याज्ञवल्क्य अन्यों जैसा नहीं है। ऐंद्रजालिक की भाँति न जाने क्या कर सामनेवाले को फँसा देता है। गार्गी ने दुबारा जो प्रश्न पूछा उनको भी ठीक से ग्रहण कर बड़ी आसानी से उत्तर दिया।'

गार्गी ने कहा-''तुममें से कोई उसे पराजित नहीं कर पाएगा।'' गार्गी कभी झूठ बोलनेवाली नहीं है।

विदग्ध को दुविधा में पड़े देख विद्वत् प्रमुखों ने पुनः उन्हें छेड़ा-''हमारे संपूर्ण विद्वत् परिवार के लिए अवहेलनकारी ऐसी पराजय को स्वीकार कर हमें शेष

जीवन व्यतीत करना होगा, विदग्ध! आप विचार करें कि आपके पूज्य पिताजी कितने बड़े विद्वान् थे। उनके समान विद्वान् कोई नहीं रहा। उन जैसे विद्वदोत्तम की संतान होकर भी आप इस स्पर्धा से क्यों कतराते हैं ?''

विदग्ध ने पुनः विचार किया—'हाँ, यह तो है, शकल के पुत्र को शास्त्रार्थ से डरना तो नहीं। किंतु याज्ञवल्क्य के तर्क की रीति अन्यों जैसी नहीं। परंतु हमारे विद्वान् मित्रों के कथन में सत्य है। क्या होगा यहाँ ? इसके साथ के संवाद में यदि मैं पराजित हो जाऊँ तो कैसे जी पाऊँगा? सिर उठाकर कैसे चलूँ ? परंतु यहाँ अपने प्राणों को दाँव पर चढ़ाना भी उचित नहीं। इधर सर्वज्ञाभिषेक का प्रश्न भी है। क्या मैं इस वाद–विवाद में पराजित होकर सर्वज्ञ पीठ की सीढ़ियों की सबसे अंतिम सीढ़ी बनूँ ?'

विदग्ध की इस प्रकार के अनिश्चय की दशा को देख अंत में एक विद्वान् उबल पड़ा—''विदग्ध, तुम उठोगे कि मैं आगे बढ़ूँ ? मैं तुम्हारे स्तर का तो नहीं। तुम हम सब में श्रेष्ठ हो। मैं तो द्वितीय श्रेणी में माना जाता हूँ। इतने सारे कुरु–पांचालों की उपस्थिति में किसी ने चुन्नौती नहीं दी न?— मेरे जाने से वह अपयश तो न रहेगा।''

विदग्ध को उसकी इस अवहेलना ने छेड़ दिया—''अस्तु, तुम सबके निवेदन को मानकर उसके साथ वाद करूँगा। किंतु याज्ञवल्क्य मेरे सामने बच्चा है। मुझे यही शंका कष्ट दे रही है कि ऐसे के साथ मैं विवाद करूँ ?''

''हाँ, हाँ, तुम शंका–विशंकाओं में उलझे रहो। अब पलभर में उसका सर्वज्ञाभिषेक संपन्न हो जाएगा। उसके बाद तुम यह कहते हुए भटका करो कि मुझे वाद में भाग लेना चाहिए था; क्योंकि मेरा ही अभिषेक होता। सुनो, इस सर्वज्ञपीठ के लिए केवल तुम ही अधिकारी हो। अन्य किसी में ऐसी योग्यता कहाँ! यह तो तुम्हें छोड़कर किसी अन्य को मिलना नहीं चाहिए। किसी भी परिस्थिति में ऐसी स्थिति बननी नहीं। यह तो हमारा स्वत्व है। कुरु–पांचालों को छोड़कर अन्य देशों में विद्वान् हैं कहाँ ! अतएव उठो; प्राणों को दाँव पर चढ़ाकर भी येनकेन–प्रकारेण इसे प्राप्त करो। यह मत भूलो कि राजा जनक भी तुम्हारा ही शिष्य है।''

विदग्ध ने अब ठान लिया। वह उठ खड़े हुए। उनके गांभीर्य तथा उस गांभीर्य की भंगिमा से बहुत सारे अभिभूत हुए। उनकी भंगिमा ही उनके विद्वान् होने की घोषणा कर रही थी। कुछ लोगों के मन में शंका उठी—''देखने से यह पहुँचा हुआ विद्वान् लगता है। पर क्या यह इस सिंह से भिड़ पाएगा?''

विदग्ध ने अपनी धोती कस ली। ओढ़े हुए उत्तरीय को ठीक किया। उसके ऊपरवाले शाल को ढंग से ओढ़ा। उसका एक छोर पृथ्वी को स्पर्श कर रहा था। विदग्ध अंगुलीयक धारण किए हुए हाथ से उसे थामे मदभरे हाथी सदृश पग धरते हुए वेदी की ओर बढ़े।

कृष्णाजिन से आच्छादित, कुश की बनी पवित्री उँगुली में धरे, पवित्रता की मूर्ति समान उद्‌भासित भगवान् वय में अपने से ज्येष्ठ विद्वान् को आते हुए देखकर आदर समर्पण भाव से उठ खड़े हुए।

विदग्ध ने आते हुए सोचा–'यह तो हमारा आगमन देखकर ही भयभीत हो गया।' इस सोच के कारण वे बड़े प्रसन्न थे। अपनी इस प्रसन्नता के प्रकटीकरण के रूप में अपनी ओर के विद्वानों की ओर देखकर थोड़ा मुस्काए और आगे बढ़े। वेदी पर आकर उन्होंने कहा–

''याज्ञवल्क्य जी के लिए हमारे प्रति इतना आदर दिखाना नहीं चाहिए। यह तो वादक्षेत्र है। अब हम दोनों समस्तरी हैं। विद्वानों को चाहिए कि वे विनय न तजें। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि आप इस भाँति विनम्र हो जाएँ। पलभर बाद सर्वज्ञ–पीठ पर अभिषक्त होने जा रहे आप इस भाँति अवनत हो जाएँ तो कैसे?''

भगवान् ने उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त किए बिना ही दोनों हाथों से उनके आसन की ओर संकेत करते हुए केवल इतना ही कहा–''पधारें, सर्ववृद्ध शकल जी के सुपुत्र को तो उनके योग्य आदर मिलना ही चाहिए।'' विदग्ध के बैठने के उपरांत ही भगवान् बैठे।

विदग्ध ऐंठ दिखाते हुए पद्मासन में ठनकर बैठे। चारों ओर दृष्टि फेरी, पुनः राजा की ओर देखा, हँसकर संवाद प्रारंभ किया–

'' याज्ञवल्क्य, देवता कितने होते हैं ?''

भगवान् ने भी हँसमुख होकर कहा–''वैश्वदेव निविद के अनुसार तीन सौ तीन या तीन सहस्र और तीन। किंतु इन सबमें तैंतीस देवताओं का प्रभाव ही व्याप्त है।

''हाँ, उन आठ प्रकार के पुरुषों, आठ कार्यों, आठ करणों एवं आठ देवताओं को मैं जानता हूँ। किंतु वही विद्वत्ता नहीं होती शाकल्य। आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं। इंद्र और प्रजापति हैं तो तैंतीस हुए। कर्म फल को अपने में सँजोए रखते हैं, इसलिए वे वसु हैं, शरीर में कर्मेंद्रिय एवं ज्ञानेंद्रिय एवं मनोरूप में रहकर शरीर के पतन के साथ उसे तजकर सभी संबंधों को मिटा देते हैं, इसीलिए

वे रुद्र हैं। प्रतिवर्ष के बारहों मास आदित्य होते हैं। चूँकि ये सभी जीवियों की आयु एवं कर्म फलों को अपने साथ ले जाते हैं ये आदित्य हैं। दामिनी एवं मेघगर्जन इंद्र हैं। पशु एवं यज्ञ प्रजापति हैं।''

''यदि इनका संक्षेपण किया जाए तो।''

''छह, तीन, दो, डेढ़, एवं एक बन जाते हैं। पृथ्वी, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्युलोक और आदित्य–ये हुए छह। लोक में देवताओं को सम्मिलित करने पर पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं द्युलोक बनते हैं तो तीन हुए। उसके संकोचन से अन्न–अन्नाद प्राण दो हुए। पुनः इनके संकोचन से आगे चलकर वृद्धि होनेवाला एक तथा उसका अद्धा वायु–डेढ़ हुए। अंततोगत्वा सबके संकोचन से केवल प्राण एक ही शेष रह जाता है।

''प्राण विभक्त होकर आठ प्रकारों में इस लोक में बसा हुआ है। जो उसका ज्ञान रखता है वह ज्ञानी होता है याज्ञवल्क्य।'' ''हाँ, मुझे उन आठ भाँति के पुरुषों का, आठ कार्यों का, आठ करणों का एवं आठ देवताओं का अभिज्ञान है। परंतु शाकल्य, यह अभिज्ञान सच्ची पंडिताई नहीं होता।''

विदग्ध को यह कथन बड़ा अजीब लगा। तैरने की कला से अनभिज्ञ को मानो पानी में ढकेल दिया गया हो। आगे प्रश्न करने के लिए कुछ भी नहीं सूझ रहा था। उठकर जाना भी नहीं हो रहा था, क्योंकि लग रहा था कि वह आसन से बँधा हुआ है।

पलभर का समय व्यतीत हो गया। सभा उस असहनीय मौन को सह न पाई; अशांत हो गई। तथापि शाकल्य ने अपना मौन नहीं तोड़ा।

भगवान् ने करुणापूर्ण हो उनकी ओर देखकर कहा–''शाकल्य, आप निष्ठ हैं, उपासक हैं, किंतु इससे क्या? अतः, कुरु–पांचाल के विद्वानों ने आपको दहकते अंगारे को निकालनेवाला चिमटा बना दिया। आपको अग्नि में झोंक दिया।''

विदग्ध इस उलाहने को सह नहीं सके। ताव में आ गए–''अपना मुँह बंद रखो। तेरी 'महाब्रह्म' की जानकारी ही क्या है, जो तू कुरु–पांचाल के विद्वानों की निंदा कर रहा है!'' उनको इसका भी ध्यान नहीं रहा कि वे याज्ञवल्क्य का संबोधन एक वचन में कर रहे हैं।

भगवान् उस भर्त्सना से कुछ भी खिन्न नहीं हुए–''शाकल्य, आपने जिन प्राण–पुरुषों के बारे में उल्लेख किया केवल उतना ही नहीं उस प्राण की पाँच दिशाएँ बनने, फिर उनका विश्व बनकर, विश्व के देवता बनकर अध्यात्म में प्रतिष्ठित होने की बात भी जानता हूँ।''

''ऐसा है तो एक-एक करके बता।''

''अस्तु, सावधान होकर सुनिएगा। प्राची दिशा में आदित्य देव बनकर चक्षुरूप में प्रतिष्ठित हैं तथा हृदय में प्रतिष्ठित हुए हैं। दक्षिण दिशा में यमदेव बनकर, यज्ञ-दक्षिणा एवं श्रद्धाओं में समाविष्ट हैं, वही सब कुछ हृदय में प्रतिष्ठित हुए। पश्चिम दिशा में वरुण देव बनकर, बाह्य में जल रूप में, अंतर में रेतो रूप में वही सब हृदय में प्रतिष्ठित हुए हैं। उत्तर दिशा में सोमदेव बनकर, बाह्य में दीक्षा रूप में, भीतर सत्य रूप में वह सर्वस्व हृदय में प्रतिष्ठित हुए हैं। ऊर्ध्व भाग में ध्रुवदिशा में अग्नि देवता हैं, वह वाक् के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित हुए हैं। शाकल्य मैं, पुन: बता रहा हूँ, सुनिए। पूर्व दिशा रूपात्मक होती है, दक्षिण केवल कर्मात्मक, पश्चिम दिशा पुत्रोत्पादन रूप में कर्मात्मक होती है, उत्तर दिशा विद्या सहित कर्मात्मक होती है, ऊर्ध्व नामात्मक होती है। यों रूपकर्म नामात्मक– ये ही सब कुछ हृदय में प्रतिष्ठित हुए हैं।''

''वह हृदय कहाँ होता है ?''

''यह क्या, आप इस प्रकार के कथनों पर अवतीर्ण हो गए ? शाकल्य, हृदय तो शरीर में होता है। यद्यपि उस शरीर को सभी लोग 'मैं' मानते हैं तथापि वह 'मैं' जो है वह भिन्न होता है।''

''इस शरीर में 'मैं' कहाँ प्रतिष्ठित है ?''

भगवान् ने लंबी साँस छोड़ी। ब्रह्मवाद के लिए जो आए थे, वे अब विरोधी के प्रत्येक कथन पर पूछने लगे हैं कि वह कहाँ है ? वह कहाँ प्रतिष्ठित है? यह देखकर उन पर दया आई। यही नहीं, इस प्रकार उनको विभाजित करके देखते समय, इन सबको एकत्र कर धारण करने में समर्थ औपनिषिदीकर पुरुष की ओर उन्मुख होना पड़ा तो एक दीर्घ निश्वास लेकर उन्होंने उत्तर दिया–

''शरीर प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान में अवस्थित होता है। यदि एक-दूसरे को ग्रहणकर धारण कर नहीं पाते तो प्रत्येक विभाजित हो विभिन्न दिशाओं में चला जाता है। ये सब कार्य होते हैं। आत्मा जो करणरूपी हृदय से प्रवहित हो, जागद्रूप कार्य में परिणत होकर, वहाँ से प्रत्यावर्तित होकर पुन: हृदय में प्रतिष्ठित होती है। उसको केवल नेतिवाद से जाना जाता है, शाकल्य। इसके सिवाय उसे अन्य किसी मार्ग से जाना नहीं जाता। जो स्वयं कार्य-कारण दोनों है, उस करण को और किसी भाँति से जाना जा सकता है क्या ? जो खंड-खंड हैं वे सारे के सारे इसी स्थान पर अखंड बनते हैं। उसको केवल उपनिषद् द्वारा जाना

जाता है, अन्य किसी से नहीं। इसको बिना जाने जो सोचता है कि वह जानता है, उसकी दशा अग्नि में गिरे शुष्क पत्र के समान होगी। इस मूर्त विश्व-भर में व्याप कर जो वहाँ से भी बाहर प्रसरित है, उसे पुरुष कहा जाता है।''

शाकल्य खंड के अखंड होने के बारे में अनभिज्ञ-से सकपका गए। उन्होंने आवाज़ में कहा-''मुझे इसकी अवगति नहीं।'' किंतु तत्पुरुषोपासन में रत भगवान् की उस उक्ति ने उस तत्त्व को अग्नि-सदृश भड़का दिया। विदग्ध उसका बलि बन गए। ब्रह्मवाद में विदग्ध (श्रेष्ठ विद्वान्) विदग्ध (भस्मीभूत) विदग्ध ही हो गया।

भगवान् की वाणी जहाँ-जहाँ प्रसरित हुई वहाँ उपस्थित सबको उस वाणी के श्रवण तक अर्थात् पलक झपकते अखंड का ज्ञान हुआ। वे सब ज्ञान-गंगा में स्नात हुए। सभा में उपस्थित सभी यंत्रवत्, प्रेषितवत्, तिलभर की स्वतंत्रता विहीनों की तरह उठे, काया-वाचा-मनसा भगवान् को प्रणाम समर्पित किया। 'जय भगवते याज्ञवल्काय नमः' वाला उद्गार मंडप-भर को उड़ा देने के प्रमाण में गूँज उठा।

भगवान् तब तक समाधिस्थ रहे।

राजा जनक आगे बढ़े। उन्होंने सर्वज्ञाभिषेक के लिए सभा की अनुज्ञा प्राप्त की। उन्होंने भगवान् को पांडित्य मुकुट समर्पित कर प्रणाम किया। वहाँ उपस्थित सभी जनों ने उन्हें यथोचित भेंट समर्पित कर प्रणाम किया।

उन्हें भी सद्गति मिली

भगवान् को सभा ने जो भेंट समर्पित की वह राशि दस लाख से भी अधिक थी। राजा ने अनुशासन दिया कि वह सारा धन राज-भंडार में संरक्षित करें तथा उसका विनियोग भगवान् के आदेश के अनुसार हो।

भगवान् माता-पिता एवं पत्नी तथा शिष्यों के साथ अपने घर लौट आए। राजा, अन्य देशों के अधिपति एवं विद्वान् भगवान् का अनुसरण करते हुए उनके घर तक आए। उन्हें घर पहुँचाया तथा उनकी अनुज्ञा पाकर लौट पड़े। सभी उत्सव-सा आनंद का अनुभव कर रहे थे। किंतु गार्गी आग में झुलसे कदलीपत्र की भाँति

अटपटाते हुए, मुख पर उदासी धारण कर भगवान् के पीछे-पीछे उनके घर में प्रविष्ट हुईं।

मैत्रेयी, कात्यायनी एवं आलबिनी ने बड़े स्नेह के साथ उनकी अगवानी की। भगवान् को देखते ही जैसे बाँध टूट गया हो, वे रो पड़ीं। वह फफक-फफककर शिशु की भाँति रोईं। सभी के आश्चर्य की सीमा न रही। गार्गी को रोते हुए ही क्यों, निस्तेज होते हुए भी किसी ने नहीं देखा था। इसके अतिरिक्त भरी सभा में भगवान् ने उसे सादर भगवती उपाधि से संबोधित किया था। ऐसे में उसके दुख का कारण क्या हो सकता है?

घर के सभी लोगों ने उसे सांत्वना दी। देवरात ने बड़े स्नेह से पूछा-''क्यों बेटी, क्या हुआ ?'' भगवान् बिना कुछ कहे मौन ही रहे। कुछ समय तक रोकर वे भगवान् के चरणों पर गिरीं। रुदन के बीच में ही कुछ बड़बड़ाती रहीं। इस प्रकार कुछ समय बीत गया।

अंत में भगवान् ने पूछा-''भगवती जी किस कारण से यों दुखी हैं?'' उनकी आवाज़ सुनकर भगवती का रुदन बंद हो गया, मानो बादलों के छँट जाने पर सूर्य प्रकाशमान हुआ है।

गार्गी ने कात्यायनी द्वारा दिए गए जल से हाथ-मुँह एवं चरण धो लिए, शुद्धाचमन कर उपविष्ट हुईं।

इस व्यवधान का लाभ उठाकर सभी हाथ मुँह-धोकर शुद्धाचमन कर आए। देवरात के आसीन होने पर भगवान् भी बैठ गए तथा भगवती से बातें कीं।

भगवती जी का रोना बंद हो चुका था। किंतु अभी शोक का आवेग नहीं थमा था। उन्होंने पूछा-

''विदग्ध जी की क्या परिणति हुई ?''

भगवान् ने गहरी साँस लेकर कहा-''जब वे वेदी पर पधारे तब मैंने उन्हें जो आदर-प्रणाम दिया; उसका उन्होंने अर्थ निकाला और मान लिया कि मैं उनसे भय खाकर यह सब कुछ कर रहा हूँ। तभी आदित्य; वायु एवं अग्नि क्रोधित हुए। मैंने उन्हें रोका। उसके उपरांत उन्होंने देवताओं के बारे में ही प्रश्न उठाया। भगवती, चूँकि देवता हमारी आँखों के सामने प्रकट नहीं होते, हम मान बैठते हैं कि देवता हैं ही नहीं। किंतु वे परोक्षप्रिय होते हैं। वे अपने गुप्त हाथों से हमारे द्वारा सारे कर्म संपन्न करवाते हैं। ज्यों-ज्यों वे देवता-विभूति संकोचों के बारे में प्रश्न करते गए त्यों-त्यों देवताओं का तेज संभृत होता गया। जब प्राणों के विकास के बारे में

विवरण देता गया तब उनमें जो प्राण था वह विदुष्ट (विदुत्त) हो गया। इस आशय से कि वे प्राण को प्रत्यावर्तित कर लें, मैंने दिक्-विचार उठाया। उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। अंत में सबको समाहित करनेवाले औषनिषदिक पुरुष के बारे में बात उठाई। तब भी वे सावधान नहीं हुए तो तब तक जो तेजस् संभृत हो चुका था, वह प्रकट हो गई। वे उसमें होम हो गए।''

तब तक गार्गी शांत हो चुकी थीं। उन्होंने कहा–''भगवान्, वह तो पार्थिव था, जरा-जीर्ण भी, उसको कभी न कभी गिरना ही था,मैं उस पर व्यथित नहीं। परंतु मुझे चिंता है कि उन्हें सद्‌गति प्राप्त हुई कि नहीं।''

''आपकी चिंता सर्वथा उचित ही है। किंतु आपने उनकी सद्‌गति की याचना क्यों नहीं की? जो देवताओं के कोप-भाजन होते हैं उन्हें सद्‌गति कैसे?''

यह सुनकर भगवती की व्यथा बढ़ी–''भगवान् उनकी रक्षा करें! विदग्धजी की दुर्गति नहीं होनी है। रक्षा करें। यदि आप आदेश दें तो मैंने आज तक जो भी पुण्य अर्जित किया है, वह सब समर्पित कर दूँगी। ब्रह्मज्ञ को प्राप्त होनेवाली सद्‌गति उन्हें मिले।''

भगवान् जी का हृदय शिशु-सा कोमल था। वह तो सर्वदा आनंद-भरा रसार्द्र ही रहता है। ऐसे में भगवती के दुख पर वह न पिघले–ऐसा कैसे होगा! उन्होंने कहा–''भगवती, उन्हें अब जो दुर्गति प्राप्त है, वह दीर्घकाल तक नहीं रहेगी। आप जानती हैं कि अब उन्हें जो दुर्गति प्राप्त है, उसका स्वरूप क्या है? शरीर को ही मैं समझकर शरीर को होनेवाले सुख-दुखानुभवों में रहना होगा। दुखानुभव के लिए दूसरा ही लोक है, वह नरक है। इन सबसे आप अवगत हैं। चाहें तो आप यहीं रहकर वह सब देख पाएँगी। उनको वहाँ कुछ समय तक रहना है। किंतु आपने अनुरोध किया। आप चाहती हैं कि उन्हें सद्‌गति मिले। ऐसा ही होगा। यदि हम मानते हैं कि आत्मा एक ही होती है तथा उसे हम जानते हैं तो हमारी ही आत्मा विदग्ध की भी है, अनावश्यक भ्रम में फँसकर क्यों छटपटाएँ? ब्रह्मलोक तो वह लोक है जहाँ आत्मदर्शन होता है। वे अब वहीं जाएँगे। वहीं स्थाई रूप में निवास करेंगे तथा आत्मदर्शन से ब्रह्मानंद को भोगते हुए रह जाएँगे। अंत में ब्रह्म में एक होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करेंगे। अब प्रसन्न हैं न?''

भगवती ने भगवान् के अभिवचन सुने। उन्हें हर्ष हुआ। विदग्ध जी का नरकवास टल गया, उन्हें स्थाई ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ–इस पर प्रसन्न होकर भगवती ने भगवान् को प्रणाम किया–''बस, इतना सब होगा तो पर्याप्त है। वे हमारे गुरुवर्य

है। इसलिए इस भाँति हठ किया। क्षमा करें।'' भगवान् ने कहा–''इस प्रकार का संवाद हमारे लिए अप्रिय नहीं है।''

भगवती बड़ी व्यथित-हृदय होकर आई थीं, पर अब वे निश्चिंत होकर चलीं। भगवान् ने उन्हें रोकते हुए कहा–''जिन्होंने वरदान माँग लिया उन्हें चाहिए कि उसके एवज़ में हमें भी एक वरदान अनुग्रहीत करें।'' जाने को उद्यत भगवती ने कहा–''परिपूर्ण ब्रह्म बन जो आप्तकाम बने हैं यदि वे वरदान की कांक्षा करें तो जो मिला था उसी का प्रतिदान देने जैसे होगा। 'इस हाथ लें उस हाथ दें' वाली बात होगी; तथास्तु।''

भगवान् गंभीर होकर बोले–''आज के बाद भगवती सदा 'देहाहं' भ्रांति को तजकर 'आत्मोहं' मति से आचरण करें। हमें यही वरदान मिले।''

भगवती की आँखें आनंद से सजल हो गईं। उन्होंने कहा–''यह आपका दिया वरदान है या माँगा हुआ वर ? देवता जो कुछ देते हैं उससे सुख की प्राप्ति हो सकती है तो दुख भी बाधित हो सकता है। किंतु सुना था कि साधु पुरुषों द्वारा जो दिया जाता है, उससे केवल सुख ही होता है, अब वह भी सत्य सिद्ध हुआ। यथार्थ में यह तो वरदान ही सिद्ध हुआ। आप अनुग्रह करें कि सदा यह इसी भाँति अवस्थित रहे।'' यों कहकर उन्होंने प्रणाम किया।

यदि खंड अखंड हो जाए तो ?

गार्गी के चले जाने के बाद सभी स्त्रियाँ एक-एक करके वहाँ से चलीं। समस्त जन समूह ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप में मान्य किया था, इससे कात्यायनी प्रसन्न थी। मैत्रेयी को प्रसन्नता थी कि भगवान् का सर्वज्ञत्व सब के सम्मुख विदित होने का अवसर आ गया था। आलंबिनी प्रसन्नता का सीमोल्लंघन कर चुकी थी, क्योंकि पुत्र लोकोत्तर हो चुका था। न जाने प्रसन्नता के कारण उनकी आँखें कितनी बार पनिया गईं।

दो शिष्यों ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। भगवान् ने पूछा–''क्यों, कोई विशेष विचार है।'' उन शिष्यों ने निवेदन किया–''ज्ञानसत्र में जो हुआ वह उपनिषद् था। उसको लिपिबद्ध करने की अनुमति मिले।'' भगवान् ने सोचा–''हाँ,

यह एक अध्याय भर है। इसे लिपिबद्ध करें। अभी दो अध्याय शेष हैं। वे भी समय पर उपलब्ध होंगे। आतुरता न दिखाएँ।''

देवरात अपने पुत्र के सर्वज्ञाभिषेक पर सर्वाधिक प्रसन्न थे। घर आने पर उसे गाढालिंगन में लेकर उनपर अपना संपूर्ण वात्सल्य उड़ेलना चाहते थे। किंतु गार्गी का अवसादभाव विघ्न बना। भगवान् ने गार्गी से जो कुछ कहा, वह सब उन्हें लगा कि वे स्वयं उनके अपने प्रति व्यक्त की गई बातें थीं। उनका मन पुत्र से बात करने में भी अधीर था। शाकल्य जैसा स्वयं भी उन्होंने देवताओं को प्रत्येक मानकर ही उनकी उपासना की थी। यद्यपि शास्त्रों का अनुवाक्य था कि एक रूप अखंड भी है, उन्होंने उस ओर ध्यान न देकर वे खंड-खंड की उपासना करते रहे। अब अखंडोपासक पुत्र से क्या बात करें? बात करते समय यदि कुछ व्यतिक्रम होगा तो शाकल्य की-सी दुर्गति उनके साथ हो जाए तो? शाकल्य की सद्गति के लिए प्रार्थना करने के लिए गार्गी थी। पर अपने लिए कौन होगा?

देवरात के भ्रम का कोई अंत नहीं रहा। उसके मन में भाँति-भाँति के भ्रम उठने लगे। अंत में जब सब विदा हुए, केवल पिता और पुत्र रह गए, तब मन से भीत रहने पर भी उन्होंने बात उठाई-''क्यों बेटे, तुम्हारा विचार है कि खंडोपासना से कोई लाभ नहीं होता?''

भगवान् ने विनय को बनाए रखते हुए गुरु के सम्मुख अपनी सीखी बातों का निवेदन करनेवाले शिष्य की भाँति कहा-''खंडोपासना सकाम हो तो शुभ नहीं होती। पर निष्काम रहकर उस वस्तु की उपासना की जाए तो उसका काम्य क्या होगा? ''

''तो क्या ये जितने यज्ञ-यागादि हैं, वे सब काम्य होते हैं ?''

''और नहीं तो क्या! यदि ब्राह्मण यज्ञ करते हैं तो चाहेंगे कि उनकी धरोहर दैवानुग्रह जो है बना रहे, जो भी आशीर्वाद दें, सफल हो जाएँ। ब्राह्मणेतर जन सीधे फल की कामना से यज्ञ करवाते हैं। ऐसी स्थिति में परार्थ एवं स्वार्थ- दोनों से रहित यज्ञ-यागादि करनेवाले होंगे कहाँ ? काम्यरहित यज्ञ! यागादि करेंगे ही क्यों!''

''परंतु देवता एवं मानव दोनों आपसी संबंधों को पर्यवेक्षित करते हुए सुखी बने रहना चाहते हैं न?''

''हाँ, सत्य है, किंतु आपने सुख की बात उठाई। वहीं निहित है उसका रहस्य। सुखी रहने का संबंध इंद्रिय वर्ग से ही तो होता है न? यह तो ऐसा हुआ कि

हम राजकर्मचारियों को भेंट चढ़ाकर उन्हें महत्त्व दें तथा उनके द्वारा हम भी बड़े बनें। हमारे चाहे-अनचाहे एक न एक प्रकार से इस संसार में यह क्रम चल ही रहा है।''

''तो लोकोद्धार का तात्पर्य क्या है ?''

''वह तो अच्छी वर्षा के समान है। खंडोपासना की तुलना हमारे द्वारा अपने बग़ीचे को सींचने की क्रिया से की जाए तो लोकोद्धार की तुलना अच्छी वर्षा से की जा सकती है। जो समस्त देश को ही नहीं सींचती, अपितु तालतलैया को जल से भर देती है।''

''तो हम खंड से अखंड की ओर कैसे जा पाएँगे?''

''आप एक अज्ञ के समान प्रश्न करते हैं तो मैं क्या उत्तर दूँ ? मन सकाम होकर अखंडोपासना करे तो परिणाम में वह खंडोपासना ही होगी। निष्काम होकर किसी भी प्रकार की उपासना की जाए तो वह अखंडोपासना ही होगी। यदि मैं आपके प्रश्न का सीधा उत्तर देना चाहूँ तो कहना पड़ता है कि स्वार्थ ही काम होता है। वह अपने तक सीमित भी रह सकता है। अपना परिवार, अपना देश, अपने लोक तक भी वर्धित हो सकता है। पर यथार्थ में काम तो काम ही होता है। जब तक काम अवस्थित है तब तक जो कुछ देखते हैं वह भिन्न-भिन्न ही लगता है। तब सब कुछ खंड-ही-खंड बन जाता है। यदि उसको तज दें, आवास का सर्जन करनेवाली (निवास) भित्तियों को गिरा दें, तब सब कुछ निर्वलय होकर एकाकार हो जाता है। उस अवस्था में प्रवाह के कारण सर्वत्र जल ही जल जैसा होगा। खंड अखंड बन जाता है।''

देवरात को आज तक ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ था। उनको अनुभूति होने लगी कि वे स्वयं मिसरी की डली बन पानी में डूबे हैं। वह डली पल-पल घुलती जा रही है। उन्हें आतंक था कि कई वर्षों से जो संपदा अर्जित की थी, वह आज वर्षा में बहती कच्ची ईंट के समान गली जा रही है। साथ-साथ यह धारणा भी कि चलो, घुलती है तो घुलने से मिट्टी में मिट्टी मिल जाती है तो क्या हानि है? किंतु यह आतंक एवं यह धारणा किसी समुद्र में उठ रही तरंगों के समान भान हो रही थी। प्रतीत हो रहा था कि स्वयं उस समुद्र तल में ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, चारों ओर जल ही जल बनकर गति से विरत घनीभूत हो गए हैं।

सहसा उनके मन में एक विचार आया-'लगता है कि इसके सान्निध्य में रहने से ही यह सब कुछ हुआ। इसकी परख होनी चाहिए। यदि यह अनुभव इसके

सान्निध्य में रहने के कारण हुआ है तो मुझे भी उसके आश्रम में साथ रह जाना होगा।' जब उनके मन में यह मंथन चल रहा था, तब भगवान् वहीं थे।

देवरात को स्पृहा हो आई। अबतक जो कुछ देखा, वह स्वप्न तो नहीं था। जागृतावस्था तो सर्वथा नहीं। यह भी ज्ञात नहीं था कि उनके नेत्र उन्मीलित थे या बंद। हाँ, इस बात का स्मरण तो था कि एक विचित्र अनुभूति हुई थी। वह अनुभूति प्रिय थी, अप्रिय कहलानेवाली कदापि नहीं।

जब आचार्यपूर्ण रूप से बहिर्मुख हुए, तब उन्होंने पुत्र से पूछा–''क्यों बेटे, संध्या-स्नान का समय आसन्न है ? चलें ?'' भगवान् ने सम्मति दी। दोनों उठे।

''हाँ, भूल गए। हम कल स्वयं ही राजभवन जाएँ या उनके आने की प्रतीक्षा करें ?'' उत्तर मिला–

''यदि वे आएँ और बुलाएँ तो चलें। जल्दी क्यों ? जो वे करेंगे उसी को सही मानकर हम तटस्थ रह लें।''

राजसभा में

अगले दिन भगवान् प्रातःकर्मों से निवृत्त होकर कुटिया में चले गए। कात्यायनी जलपान लेकर वहाँ आई।

भगवान् ने उसे ग्रहण करते हुए कहा–''कात्यायनी, आज मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं आज एकांत में रहना चाहता हूँ।'' कात्यायनी ने कहा–''देव, वह तो आपकी इच्छा है। पर जैसा आप कहा करते हैं परेच्छा का प्रारब्ध क्या होगा, कौन जाने ?''

''तो, क्या आज हमारे लिए करणीय कुछ अवशिष्ट रह गया है ?''

''मैं क्या जानूँ!''

''पर तुमने वही तो कहा ?''

''आपको कहते हुए सुना था, वही मैंने दुहराया। आज न जाने कौन गार्गी आएँगी! हो सकता है कि स्वयं राजा ही दर्शनाकांक्षी होकर उपस्थित हो जाएँ। यह भी संभव है कि पिताजी ही आ पहुँचें ? मुझे लगा कि आपके पिताजी कुछ विचार मग्न रहे। किंतु कैसे पूछें कि उनके मन में क्या हो रहा है?''

''अस्तु, जो होना है सो होकर रहेगा। मेरा विचार है कि आज मैं एकांत करूँ? किंतु तुम्हारा कथन भी सही है। जो शरीरधारी होता है, उसे सुख-दुख छोड़ते नहीं। हमारी इच्छा के अनुकूल जो घटता है, वह सुख होता है। उसके विपरीत जो घटे वही दुख है। यही है न ?''

''आपके लिए सुख-दुख कहाँ! अभिनेता जैसे औरों को सुख-दुखानुभव कराते हैं।''

''अरी दुष्टा कात्यायनी, सच्ची बात कर दी न? पर यही तो रहस्य है। यद्यपि हमारे लिए सुख-दुख नहीं होते, तथापि सुखी को देखकर हमें भी सुखी होना पड़ेगा; दुखी को देखकर दुखी। अन्यथा यह क्षरपुरुष, मेरी यह देह, मुझे शाप देंगी।''

''ऐसा ?''

इनमें वार्तालाप चल रहा था तो बीच में आलंबिनी आ गई–''क्यों बेटे, क्या हो रहा है ?'' कात्यायनी सास को देखकर खड़ी हो गई। सास ने बहू को देखकर कहा–''ठहरो, तुम कहाँ जाओगी ? इस साँड़ को बाँधे रखने के लिए तुम्हीं सही रस्सी हो।'' यों कह पुत्र की ओर देखा। पुत्र भी उठ खड़ा हुआ–''क्यों माँ ? क्या बात है ?''

माता ने कहा–''तुम तो सर्वज्ञ हो। तुमसे अज्ञात कोई बात है ? तथापि कह रही हूँ। तुम्हारे पिता ने कहा है–तुम्हें राजमहल में लिवा ले जाने के लिए राजपुरुष आ रहे हैं ?''

पुत्र हँसा–''माँ, मैंने मन में संकल्प किया था कि आज इस कुटिया में एकांत करूँगा। वही बात इससे भी कह रहा था। तभी तुम आ गई। राजभवन इसी पहनावे में चला जाऊँ?''

''सुनो बेटे, कल ही तुम्हारा सर्वज्ञाभिषेक हुआ है। अतएव वह मुकुट तथा उस अवसर पर दिए गए वस्त्र धारण कर लो। उसमें शोभा होगी। मैं सच कहती हूँ, तुम्हें उसी वेष में देखते रहने को मेरा मन करता है।''

''ऐसा ? तुम्हारी तुष्टि के लिए मैं कुछ भी करूँगा माँ। यदि तुम्हें आनंद मिलता है तो जब तक इस नगर में रहूँ तब तक उसी वेश में रह लूँ? कात्यायनी, जाओ न, वे सब वस्तुएँ ले आओ।''

कात्यायनी ने हामी भरी तथा लाने के लिए चली। आलंबिनी ने कहा-''और एक बात भी है, बेटे।''

''कहो ना!''

''तुम्हारे पिता भी आज राजसभा में उपस्थित रहना चाहते हैं। उन्हें भी साथ ले चलोगे न?''

''यह भी कहने की बात है! यह देह तो आप माता-पिताओं की दी हुई है। उसको जो आदर-सत्कार मिलता है वह सब आपके कारण ही तो है। वे अकेले नहीं जाएँगे, तुम भी साथ चलोगी। हाँ, एक बात है, आप दोनों को पालकी में साथ बैठना होगा। मैं आप लोगों के सामने बैठूँगा।''

इतने में कात्यायनी सर्वज्ञ–वस्तु एवं अलंकरण ले आई और कहा–''लगता है, राजपुरुष आए हुए हैं।'' जब तक भगवान् ने वस्त्र आदि धारण कर लिए तब तक स्वयं देवरात ही राजपुरुष को भीतर लिवा लाए।

राजपुरुष ने आकर प्रणाम किया– ''शेष अधीशों एवं विद्वानों के संग बैठे महाराजा सर्वज्ञजी की प्रतीक्षा में हैं। दो पालकियाँ भेजी जा चुकी हैं।''

''अच्छा, माँ! तुम अपनी बहुओं के साथ प्रस्तुत हो जाओ। कात्यायनी, तुम कण्व एवं मध्यंदिन से कहो कि वे भी हमारे साथ चलें।''अन्य अधीशों एवं विद्वानों को संग लिए महाराजा ने मुख्य द्वार पर सर्वज्ञ का स्वागत किया और भीतर ले गए। सर्वज्ञ के लिए उचित आदर–सत्कार समर्पित कर सबको अपने–अपने स्थानों पर बिठाकर महाराजा ने हाथ जोड़ विनीत होकर निवेदन किया–''भगवान् हमें कुछ उपदेश दें। हम सब सुनकर कृतकृत्य बनेंगे।''

भगवान् ने हँसते हुए कहा–''आज हमने विचार किया था कि सब कुछ भुलाकर एकांत वास करें। किंतु महाराजा के आदेश की अवज्ञा न कर पाए, अतएव आ गए। अब आप सबको देखकर मन अत्यंत प्रसन्न है। अतएव आप ही कुछ पूछें। उत्तर में हम कुछ कहेंगे।''

भगवान् ने ज़रदार वस्त्र धारण किए हैं। अपने कृष्णाजिनोत्तरीय पर ज़रदार उत्तरीय डाले हुए हैं। शीर्ष पर रत्न–जटित विद्वन्मुकुट है। कलाई में रत्नमय कड़ा है। उँगलियों में तीन अनर्घ्य अंगुलीयक हैं। ज़रदार वस्त्रों पर रत्नमय मेखला है। पैरों में रत्नमय 'गंडापिंडि' (पाँव में पहनाया जानेवाला विद्वत सूचक कड़ा) है। रत्नजटित पादुकाएँ हैं। उन रत्नों की कांति से मुख उद्‌भासित है। परंतु वास्तव में उनके स्वयं के तेज से ये सारी वस्तुएँ उद्‌भासित हैं। सभी के लिए आश्चर्य की बात तो है कि यद्यपि महानदी महाप्रवाह बनकर समुद्र में समा चुकी है, तथापि

समुद्र अपने-आप जिस प्रकार तटस्थ रह जाता है उसी प्रकार भगवान् भी यथावत् हैं। सर्वज्ञाभिषेक उनमें तिलभर का भी अंतर नहीं ला पाया है।

सभी ने गार्गी से कहा कि आप ही कुछ पूछें। उन्होंने सविनय निवेदन किया-''हमारा सारा दंभ कभी का समाप्त हो चुका है। अब हम केवल सुनने को प्रस्तुत हैं। हमारे महाराजा अन्यों की भाँति नहीं, स्वयं विद्वान् हैं, वेदोपनिषद् के ज्ञाता हैं। वे पूछें तथा भगवान् उत्तर दें-यही उचित होगा।''

सभी ने इस परामर्श पर हामी भरी। महाराजा उठे, उन्होंने पूछा-''मनुष्य किस ज्योति के कारण अपने कार्य करेगा ? भगवान् प्रसन्न होकर हमारे इस प्रश्न का उत्तर दें।''

''प्रश्न अत्युत्तम है, मनुष्य किस ज्योति से अपना कार्य संपन्न करेगा? महाराजा, मनुष्य ही क्यों, सभी जीवराशि आदित्य रूपी तेज से प्रचोदित होकर अपना-अपना कार्य किया करती हैं। आदित्य अपनी किरणों द्वारा सर्वस्व का सृजन करता है। सामान्य स्थिति में सभी की रक्षा करता है। अंत में सभी का लय कर अपने में समा लेता है। सुखनिद्रा में रहते पुरुष को उसी की किरणें जागृति में लाती हैं। वह पुरुष के हृदय में प्रविष्ट होकर विविध व्यापारों का कारण बनता है। अपने एक रूप से तापता है, दूसरे रूप से वर्षा से सींचता है तथा अन्न के लिए कारण बनता है। पुनः अन्नादि बनकर देह में निवसित होता है तथा सभी को पचा देता है। अतएव इस सृष्टि में आए सकल भूतजात अपने कर्मों के लिए आदित्य के ऋणी हैं। आदित्य न हो तो कोई क्या कर पाएगा!''

''परंतु रात को आदित्य नहीं होता है न?''

''हाँ, श्रुति कहती है कि तब वह देशांतर में होता है। उसके अदृष्ट होने पर भी उसकी किरणें हुआ करती हैं। अन्यथा हमें ऊष्मा का अनुभव कैसे होगा? अतएव आदित्य सदा रहता ही है। किंतु लोक में यह बात प्रचलित है कि रात में वह नहीं होता। तब वह चंद्र ज्योति बनकर सबके द्वारा कार्य कराता है।''

''भगवान् जब चंद्र नहीं होता तब कौन-सी ज्योति होती है?''

''चंद्र रात के समय में होता ही है। शुक्ल पक्ष में सूर्य से दूर होते-होते उसकी कला में वृद्धि होती है। कृष्णपक्ष में वह अपनी कलाओं में प्रतिदिन एक कला की गणना से देवताओं को देता जाता है। जब एक ही कला बची रहती है तब वह सूर्य में प्रविष्ट होता है। तब से प्रत्येक दिन एक-एक कला को प्राप्त करते हुए

उसमें वृद्धि कर लेता है। किंतु लोक के अनुसार ऐसा भी समय है जब वह होता नहीं। यों जब सूर्य और चंद्र दोनों नहीं होते, तब अग्नि ही ज्योति बनती है।''

''जब ये तीनों नहीं होते, तब कौन-सी ज्योति होती है?''

''ये तीनों बाह्य ज्योतियाँ हैं। जब इनमें से कोई नहीं होती, तब पुरुष अपने करणों को ही ज्योति बना लेता है। अंधकार में वाणी ही इसकी ज्योति बनती है। जहाँ वाणी सुनाई देती है वहाँ वह जाया करता है। वह वाणी का आसरा लेकर सभी व्यापार निबाहता है। अतएव तब वाणी ही ज्योति बनती है।''

''जब वाणी भी नहीं होती?''

''वाणी तो करण है। करण जड़ होता है। जब हम करण को ज्योति कहते हैं तो वह केवल औपचारिक होगा। ब्राह्मण दंपति का पुत्र यदि ब्रह्मकर्म न भी करे तो उसे ब्राह्मण कहने की औपचारिकता निभाते हैं न? यह भी ऐसा ही है। जागृति में यह अन्य प्रकार की ज्योति से प्रकाशित होती है। उस प्रकाश की उपस्थिति में भी यदि वह कहीं प्रकाशित नहीं हो पाती तो वह स्वप्न मात्र में। यों जागृति में करणों पर प्रकाश डालनेवाली वह ज्योति स्वप्न में सर्वत्र व्याप जाती है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तब करणों से भिन्न है। किंतु क्या आप जानते हैं कि वह ज्योति कौन-सी है? वही तो हममें और आपमें अवस्थित आत्म-ज्योति है। वह कार्यरूपी शरीर करणरूपी वाणी से विलक्षण है। और है उनसे भिन्न जो उस आत्मा को जानते हैं, उसे निस्संगी नाम दिया गया है। जल में डाला गया पारस जैसा निस्संग रहती है। दूध में क्षिप्त मरकत जिस प्रकार दूध को हरा-भरा रंग दे देता है, तथापि उससे प्रभावित हुए बिना निस्संग है, उसी प्रकार इस आत्म-ज्योति के शरीर में अवस्थित रहने पर भी वह न तो शरीर से प्रभावित होती है, न करणों से। इसीलिए इसको निस्संग अभिदान है। श्रुति ने कहा है—उसे देखना हो तो स्वप्न में देखो; क्योंकि जागृति में बहिर्मुखी होकर करणों के व्यापार के विजृंभित नृत्य में बादलों की ओट में रहनेवाले सूर्य की भाँति आत्मा अदृष्ट ही रह जाती है। सुषुप्ति में उसी का राज्य है। किंतु अवगति प्रदान कर पानेवाली बुद्धि मौन धारण किए रह जाती है तो उसको जानने वाला कोई नहीं होता। इसीलिए श्रुति ने कहा है कि आत्मा को जानने के लिए संधिस्थान सुषुप्ति सटीक है। आत्मा तो ज्योतियों की ज्योति होती है। बाह्य में आदित्यादि के रूप में जो प्रकाशमान है वह भी वही है। इस प्रकार बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त उसको जो जान पाता है, वही कृतकृत्य होता है।''

राजा ने और कुछ पूछना चाहा। पर भगवान् ने उनको बरजते हुए कहा—''मध्याह्न का समय आसन्न हुआ है। कर्मठों को कर्म करने की ललक होती

है। यहाँ जो राजा एवं अधिपति बैठे हैं वैश्वानर आहार ग्रहण कर लें, उपासना सही समय पर कर लें। आज के लिए पर्याप्त है।''

सभी हड़बड़ाकर उठे। राजा ने उनसे निवेदन किया कि अभी बैठे रहें। पुनः भंडारी को बुलाकर उसे कुछ आदेश दिया। उसने जब विवरण दिया तो राजा ने हाथ जोड़कर कहा—''कल जो राशि भेंट में प्राप्त है, वह लगभग बारह लाख तक की है। यदि आदेश हो तो उसे आश्रम भेज दें।''

भगवान् ने कहा—''अभी इस मुँह से निकला—बाहर एवं भीतर सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। तो क्यों उसको असत्य प्रमाणित करूँ? जिन्होंने दिया वे तो देवता हैं। वे तो प्रत्येक शरीर में अवस्थित हैं। अतएव जिन्होंने दिया उनके संतोष के लिए उन्हीं को इन विद्वानों द्वारा समर्पित कीजिए। यदि आश्रमवासी को इसकी आवश्यकता है तो स्वयं देवता देंगे। आश्रमवासियों में सभी नहीं तो कुछ लोग ही सही, उस सर्वत्र व्याप्त आत्मा के दर्शन के विचारों के मनन एवं निध्यासन में व्यस्त रहें।''

सभी भगवान् को विदा करने के लिए द्वार तक आए। वहाँ पालकी में बैठते समय भगवान् ने राजा को बुलाकर कहा—''सुनिए, हम गाय को घास क्यों देते हैं? इसलिए न कि वह दूध देती है। दूर यात्रा पर निकलनेवाले यात्री स्वयं गाड़ी आदि की व्यवस्था कर लेते हैं न? अब आपने विद्वत् समूह को साथ लिए उनको पोषण देते हुए उनके द्वारा वेदोपनिषदों का संग्रह किया है। ऐसा क्यों किया? इतना सारा तामझाम क्यों ? आप स्वयं इस संबंध में विचार करें,'' इतना कहकर वे सब से विदा हुए।

पुरस्कार एवं सत्कार

अगले दिन अपराह्न के समय राजसभा बैठी। सभा में चर्चा का विषय था कि सर्वज्ञ–उपहार का क्या किया जाए?

एक अभिमत था—''भगवान् को जो कुछ समर्पित हुआ है; वह उन्हीं को दे दिया जाए।'' दूसरा मत था—''भगवान् ने मंतव्य प्रकट किया है कि आपको जैसा उचित लगे, वैसे उसका विनियोग किया जाए। अतएव हम सब बैठकर चर्चा कर निर्णय लें कि उसका विनियोग किस प्रकार से हो।'' लंबी चर्चा के बाद निर्णय

लिया गया–''उसमें अर्धांश गुरुकुल को भेंट कर दिया जाए, शेष अर्धांश बाहर से आए हुओं तथा राजसभा के विद्वानों में यथोचित ढंग से वितरित कर दिया जाए।''

इसका निर्णय तो हो गया। उसी क्षण वहाँ गृहाध्यक्ष आ उपस्थित हुए। उन्होंने बताया –''राजाज्ञा के अनुसार सवत्स सहस्र धेनुओं को सभी प्रकार की सुविधाओं के साथ आश्रम में बसाया जा चुका है।''

''कितने नौकर दिए हैं।''

''गौ सेवा के लिए चालीस परिवार नियत हुए हैं। उन सबका एक मुखिया सपरिवार वहाँ है। यों कुल इकतालीस परिवार वहाँ बसाए जा चुके हैं।''

''उन सबके लिए आवास की व्यवस्था की गई है न?''

''हाँ देव।''

''गायों के लिए गोशालाएँ?''

''आदेश हो तो सारा विवरण प्रस्तुत करूँ ?''

''कोई आवश्यकता नहीं । हमने आश्रम को गोधन दिया, बस इससे आश्रमवासियों के लिए कोई असुविधा न हो।''

''अस्तु, गाय, बछड़े, साँड़ सबके लिए व्यवस्था है। अनाज, घास, खली आदि के भंडारण की भी व्यवस्था है। गायों के चरने के लिए चरगाहे भी हैं। उन सब की रखवाली करनेवालों के लिए अनाज उपजाने के लिए योग्य कृषि भूमि दी जा चुकी है।''

''ठीक है, यह दान तो सभी को सुखदायक बने। जब तक भगवान् वहाँ न पधारें, तब तक हमारा कोई कर्मचारी वहाँ रहे। उनके वहाँ पहुँचने पर सब कुछ उनके वश में कर उनकी अनुज्ञा पाकर चले आएँ।''

''जैसी आज्ञा।''

''भगवान् कब तक आश्रम पधारेंगे?''

''अभी तक कोई निर्दिष्ट जानकारी प्राप्त नहीं।''

''भगवतीजी वहाँ के लिए पधारीं?''

''नहीं, देव, वे इधर ही पधार रही हैं। उनके संग राजपुरोहित अश्वल जी भी हैं।''

गृहाध्यक्ष भगवती एवं अश्वल जी के लिए पथ प्रशस्त कर स्वयं एक ओर हो गए। राजा ने उठकर उन दोनों की अगवानी की।

राजा ने ही बात आरंभ की–''ज्ञानसत्र जब से प्रारंभ हुआ तब से आज तक मैंने आप दोनों में से किसी के साथ अलग से बात नहीं की है। आप इस कारण अप्रसन्न तो नहीं ?''

अश्वल ने कहा–''देव ने जो ज्ञानसत्र चलाया उससे हमारी सोच में परिवर्तन आया है। ब्रह्मविषयक चर्चा तो किया करते, किंतु तत्संबंधी प्रतिमा मन में नहीं बनती थी। अतएव उसके सत्य-स्वरूप का बोध नहीं होता था। अब सब कुछ परिवर्तित हो चुका है।''

गार्गी ने भी कहा–''हम सब ब्रह्मवादी हैं। किंतु न जाने क्या हो गया था! मुँह से कहा करते थे कि ब्रह्म परिपूर्ण होता है, पर सदा हम बहिर्मुखी ही रह जाते। हमारी बात तो रहने दें। उद्दालक, आरुणि, उषस्थ, कहोल–ये सब बड़े नामी विद्वान् थे। ये सब उनके शरण में आ गए तो कल्पना कीजिए कि ये ब्रह्मज्ञ किस स्तर तक उठ चुके हैं। वास्तव में हम सब के पूर्वजन्मों के पुण्य का प्रताप था कि हम इस ज्ञानसत्र में भागीदार हुए।''

''चूँकि आप इस भाँति प्रशंसा कर रही हैं, हम भी कहना चाहेंगे कि हमें ज्ञानसत्र से किस मात्रा में लाभ हुआ। हमने आपसे अपने स्वप्न के बारे में कह सुनाया तो था। चूँकि स्वप्न में स्वयं देवगुरुजी ने आदेश दिया था, मैंने सर्वज्ञाभिषेक का आयोजन किया था। उन्होंने स्वयं कहा था कि इसमें सर्वज्ञ ही विजयी होंगे, हमने उसमें परिवर्तन कर कह दिया था कि इसमें जो विजयी होगा, वही सर्वज्ञ बनेगा। आपने जिस दिन गंगा-स्नान के बारे में उल्लेख किया था, तभी से मेरे मन में एक शंका थी कि भगवान् सर्वज्ञ पीठ ग्रहण करेंगे कि नहीं। अब वह शंका टली और उस संबंध में निर्णय हो गया।''

''सर्वप्रथम मैंने ही प्रश्न किया था। जानते हैं कि तब क्या हुआ? वहाँ जो बैठे थे वे हमारे परिचित देवरात के पुत्र याज्ञवल्क्य नहीं थे। एक तेजोराशि थे, जिन्हें देखकर बात नहीं निकल रही थी। जबतक घर पहुँचकर स्नान कर अग्निहोत्र नहीं किया, तबतक मैं अपने होश में नहीं था।''

''आप सही कह रही हैं। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। विदग्ध जी तो हमारे गुरुवर्य थे। हमने उनके चरणों में बैठकर शिक्षा पाई थी। ऐसा अनर्थ हो गया। हम क्या कर सकते थे ?''

''देव, आप जो चाहें कह लें, मुझे इस कारण से जो दुख हुआ, मैं सीधे भगवान् के पास गई और रो पड़ी। मैंने निवेदन किया कि विदग्ध जी को सद्गति

मिले। उन्होंने बड़ी कृपा की। हामी भर दी।'' पिछली संध्या को इस संबंध में भगवान् के संग जो बातें हुई, वह सब कह सुनाया।

अश्वल ने कहा–''तो वह अनर्थ देवताकोप के कारण हो गया। मैंने सोचा था कि भगवान् ने स्वयं क्रोध कर वैसा किया था।''

गार्गी ने कहा–''हाँ, अनर्थ हो गया। अब महाराजा के हाथ में सब कुछ है। देव कुछ ऐसा उपाय करें कि उनके आश्रमवासियों तथा परिवारवालों को उनकी अनुपस्थिति के दुख से उद्धार हो जाए।''

राजा ने व्यथित हृदय से कहा–''उस विचार में हम समान दुखी हैं। इस कारण से उसके दायित्व का निर्वाह करेंगे। आपने कहा कि सर्वज्ञ को भेंट में जो मिला उसमें से अर्धांश विद्वानों में वितरित किया जाए। वह सब मिल–मिलाकर उसमें से एक लाख आरक्षित करें। उसके दो भाग कर एक भाग उनके परिवार को दें और दूसरा भाग गुरुकुल को।''

''हाँ, और एक समाचार है। मैंने सुना कि कुरु–पांचाल देश का विद्वत्-समूह कल ही लौट पड़ा। उनमें से यहाँ कोई नहीं है।''

''बेचारे, उनकी दशा सींग खोए वृषभ–सी हो गई। वहाँ के सभी विद्वानों ने मिलकर ही तो विदग्ध को आगे किया था। किंतु उन्हें क्या मालूम था कि इसका ऐसा परिणाम होगा। अब वे कौन मुँह रखकर यहाँ टिकते ! कुछ भी हो, हमें जानकारी है कि कौन–कौन आए हुए थे। यदि देव की सम्मति हो तो उन्हें भी उदारता से उपहार अवश्य दें।''

''यह सर्वथा उचित परामर्श है। ऐसे तो कुरु–पांचालों के समान विद्या-संपन्न पृथ्वी पर ढूँढ़े भी नहीं मिलते। अतएव उनके लिए ऐसी व्यवस्था करना उचित होगा।''

महाराजा ने कहा–''हमने यह भी निर्णय लिया है कि सभा के संवाद में जो विद्वान् प्रभागी हुए उन्हें विशेष उपहार दिए जाएँ।''

''हम दोनों भी उस संवाद में भागी बने थे। अतएव इस संबंध में हमारा परामर्श देना उचित नहीं होगा। किंतु इतना अवश्य कहेंगे कि आपका विचार अत्यंत औचित्यपूर्ण है।''

''अस्तु, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपने हमारे प्रस्ताव का स्वागत किया। सर्वज्ञ भेंट के रूप में जो भी प्राप्त हुआ है उसके साथ और कुछ जोड़कर वितरित करें।''

''हाँ, हाँ, यह सर्वथा उचित ही है।''

गार्गी ने कहा–''मेरे मन में एक शंका है। यदि अनुज्ञा मिले तो कहूँ। किंतु मेरे कथन पर ही यह बात समाप्त न हो। देव भी इस संबंध में अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।''

''हाँ, हाँ, ऐसा ही होगा। अब आप आज्ञा दें।''

''आपने पूर्व में कहा था। जब देव ने अपने-आपको शिष्य के रूप में भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत कर लिया था तब उनके द्वारा आदेश हुआ था कि गुरु-शिष्य परीक्षा के बाद ही यह संभव होगा। क्या आपने अब जो ज्ञानसत्र आयोजित किया वह इस गुरु-परीक्षा के लिए ही था ?''

महाराजा ने हँसकर कहा–''आपकी सोच सर्वथा सही है। विद्या तथा दान के लिए प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया है, उसके योग्य आचरण मैंने किया। सबसे बढ़कर दैव सहायता भी प्राप्त हुई। केवल विदग्ध की मृत्यु को छोड़, शेष सब बिना किसी अवरोध के संपन्न हो गया। यह तो मेरा मानना है। किंतु आप तो स्वयं इसके प्रत्यक्षदर्शी रहे। आप अपना मंतव्य प्रकट करें।''

अश्वल ने कहा–''पूर्व महाराजा की इच्छा पूर्ण हुई। उनका स्वप्न था कि हमारे देश में भी कुरु-पांचाल देशों के विद्वानों को मात देनेवाले विद्वान् जन्म लें। यदि वे इस सभा में उपस्थित रहते तथा इस ज्ञानसत्र में संपन्न सर्वज्ञाभिषेक को देखते तो न जाने उनको कितना अधिक आनंद मिलता! हाँ, एक बात है, देव ने जब अपने हाथों भगवान् के शीर्ष पर वह मुकुट धरा तब मुझे अनुभूति हो रही थी कि स्वर्गीय महाराज स्वयं देव पर आवाहित होकर यह गौरव प्रदान कर रहे हैं।''

''भगवान् असाधारण प्रभृति हैं। उनको उपविष्ट देख लगता था कि किसी दिव्यतेज को सँजोकर एक पुरुष-मूर्ति के रूप में ढाला जा चुका है। अहो, यदि उस दृश्य का स्मरण हो आता है तो देह-भर में रोमांच हो आता है!''

अश्वल ने कहा–''बुडिलजी कहा करते थे–अरे भाई, वे तो तपो-लोक से लोकोद्धार के लिए धरती पर अवतीर्ण पुण्यमूर्ति हैं। देखते जाओ, भविष्य में उनके द्वारा क्या-क्या होगा! वे अतिपिता हैं और अतिपितामह भी। किंतु हममें से किसी ने कल्पना नहीं की थी कि याज्ञवल्क्य यों भगवान् बनेंगे, सर्वज्ञ बनेंगे। अब उस महापुरुष का आश्रम गंगासागर जैसा तीर्थस्थान बना हुआ है।''

''यह तो देश-विदेश के अधिपों के समक्ष विद्वानों की उपस्थिति में संपन्न हुआ। बहुत अच्छा हुआ। गुरु-परीक्षा हो गई। अब देव आगे क्या करना चाहेंगे?''

''भगवती ने कुछ कहा न? क्या कहा?''

''हम तो किसी गहने को चमका देनेवाले भर होते हैं, गहना बनानेवाले नहीं। यदि देव अपने मन की बात हम पर प्रकट करें तो हम उसी के आधार पर कह पाएँगे कि आप ऐसा किया करें, या ऐसा न करें। अतएव सर्वप्रथम आप अपने मन की योजना हम पर प्रकट करने की कृपा करें।''

''हम भी उसी पर विचार कर रहे हैं। अभी तक कोई समाधान नहीं सूझ रहा। एक मन कहता है कि भगवान् को कुछ समय तक यहीं ठहरा लें। देश-विदेशों के अधिपों की उपस्थिति में विदेह राज्य सहित अपने को उनके वश में कर दें। पर दूसरा मन कहता है, नहीं, ब्रह्मविद्या का संबंध तो केवल गुरु-शिष्यों के बीच का होता है। अतएव भगवान् से एकांत में मिलकर उनसे उपदिष्ट हो लूँ।''

गार्गी ने कहा—''हाँ, अधीशों की उपस्थिति में राज्यदान करनेवाला विचार सही तो है। किंतु मेरा मानना है कि भगवान् इस पर सहमत नहीं होंगे। राज्य आपका नहीं होता है, वह कुल का धन है। जब तक आप हैं राज्य शासन रूपी मूल्य चुकाकर उसको भोगा जा सकता है। मुझे नहीं लगता कि उसको दान में देने का अधिकार आपको है। अतएव जिस बात की प्रतीति मुझे हो गई, क्या उससे भगवान् अवगत नहीं होंगे ? अतएव उस विचार को तज दें। अब आपके दूसरे विचार को लिया जाए। आप क्षत्रिय हैं, अतएव यह दूसरा मार्ग भी आपके लिए वर्ज्य है। क्षत्रिय बहिर्व्यापार में अपने धर्म को त्याग नहीं सकता। केवल आभ्यंतर आचरण में आप ब्रह्माराधना का पथ अपना सकते हैं। बाह्य एवं अभ्यंतर दोनों में ब्राह्मण जैसा ब्रह्मपरायण नहीं बन सकते। अंततोगत्वा आप जो अपने उद्धार की कांक्षा कर रहे हैं, आपको चाहिए कि आप भगवान् की खोज में जाएँ। अतएव प्रस्तुत आप सभी अधीशों के साथ भगवान् को उनके आश्रम पहुँचाकर लौटें। उसके बाद शुभतिथि, वार आदि का निर्णय कर शास्त्रों में उक्त क्रम से समित्राणी (समिधा धारण कर) बनकर उनके आश्रय में जाएँ, तो वे अवश्य आपको शिष्य के रूप में ग्रहण करेंगे।''

अब राजा ने अश्वल की ओर देखा। अश्वल ने कहा—''मेरा मंतव्य भी कुछ इसी प्रकार का है। भगवती ने बहुत ही औचित्यपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। शास्त्र की दृष्टि से भी यही आचरण श्रेय देनेवाला है। ब्रह्मबोध तो आत्मोद्धार का विषय है। किंतु राज्य का विचार निजी विचार कदापि नहीं। इसका दान नहीं किया जाता। तो धर्म और ब्रह्म दोनों में भगवती का मंतव्य सर्वथा स्वीकारणीय है।''

राजा भगवती के मंतव्य पर सहमत हुए। दो दिनों के बाद चलने का निश्चय हुआ; तिथि, नक्षत्र, वार, सबको शुभ पाया गया।

अगले दिन भूरि भोज, विद्वानों का समादरण तथा उसके अगले दिन प्रस्थान—यह कार्यक्रम तय हुआ।

राजभवन से एक राजकर्मचारी सपरिवार भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ। वह अन्य विद्वानों से भी मिला—यथायोग्य सभी को सभी बातों से अवगत कराया।

दर्शन (भेंट)

सामनेवाली पहाड़ी पर गायों को चरते देखने में भगवती जी को बड़ा आनंद मिलता था। रंगबिरंगी गायें हरियाली के बीच, हरे वृक्षों की छाया में चलते-फिरते चर रही हैं– इससे जो आनंद मिलता है, वह वर्णनातीत है। अपनी प्रसन्नता को अन्यों के साथ बाँट लेने में ही मानव स्वभाव को तुष्टि मिलती है। हमारे बुज़ुर्गों ने कहा है—मीठा भोजन जिस दिन बनता है, अकेले मत खाया करो। शास्त्र कहता है, अकेले कैसे रमोगे? बुज़ुर्गों एवं शास्त्रों की बात को रहने दीजिए। मानव स्वभाव जो चाहता है उसका क्या कहें? किंतु एक बात है, सुख-दुख दोनों बाँटें तो सुख दुगना होता है, दुख आधा। लगता है सुख—दुख गुणक एवं भाज्य विद्या को जानते हैं। एक तो गुणक बनता है, तो दूसरा भाज्य। इसीलिए तो मानव समाज-जीवी बना हुआ है।

भगवती अपने हर्ष को अपने में समा न सकी। मैत्रेयी को बुला लाई। आज तक उसने गायों को इस स्थिति में नहीं देखा था। पहाड़ी के परिप्रेक्ष्य में वृक्षों के बीचोंबीच हरियाली-भरे मैदान में उनको टहलते देख उसे अनिर्वचनीय संतोष मिला था। उसको उसी प्रकार देखती रही; फिर कहा—''गाय तो संपदा का संकेत है। हरे-भरे पहराव में शोभित वनस्थली के बीचोंबीच विचरती गायों को देखने से मन भी हरा-भरा हो जाता है। कैसा सौंदर्य है ? कैसी शांति है। बहन, तुम्हारा निवेदन कितना उचित था?''

इसी बीच उसके मन में विचार उठा—'हम प्रसन्न क्यों हैं ? इसलिए कि ये सब हमारे हैं। या इसलिए कि वे सब संपदा के प्रतीक हैं तथा सुंदरता की खान

हैं?' यों तो एक पीत-पत्र को देखने पर उसको हरे-भरे वृक्ष में देख सकने की कल्पना-शक्ति से संपन्न थी वह, तथापि उसने इस विचार को आगे नहीं बढ़ाया।

कात्यायनी चाहती थी कि वह भगवान् को लिवा लाकर यह दृश्य उन्हें दिखा दे। भगवान् उसकी इच्छा को पूर्ण करेंगे– इस विचार में उसके मन में कोई शंका नहीं थी। पर उसे संकोच हो रहा था। सास को बुला लाई और उन्हें दिखाया। वे भी प्रसन्न हुईं। उसने कहा–''जब से तुम्हारे आश्रम में आई हूँ, प्रतिदिन एक एक अजूबा दिखा रही हो। दो दिन पूर्व उस नहर की ओर ले गई। उस नहर द्वारा ताल में पानी का आ गिरना कितना मनुहारी दृश्य उपस्थित करता था। हाँ, सबसे बढ़कर आश्चर्य तब हुआ जब गो वत्स तुम्हें देखकर अपनी पूँछ उठाए तुम्हें सानंद घेर लेते थे और कुलाँचे भरने लगते। अरे ! तुमने तो इस अल्पावधि में उनपर मायाजाल बिछा दिया है। हमारे घर में भी गायें एवं गोवत्स हैं। किंतु वे इस भाँति घुले-मिले नहीं। तुम्हारे बुलाने पर ये बछड़े माँ का थन तजकर दौड़ लगाते हुए तुम्हारे पास पहुँच जाते हैं।''

सास से प्रशंसा के ये शब्द सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ। उसने सास से कहा–''माँ, किसी भी उपाय से उन्हें यहाँ लाकर यह दृश्य दिखाना होगा।'' उसके इस कथन में यह आशय अभिव्यक्त था कि मुझसे यह काम नहीं हो पाएगा। अतएव आप ही कुछ कीजिए।

आलंबिनी हँस पड़ी–''अरी बेटी, यदि तुम कहोगी तो तुम्हारे भगवान् न कहेंगे? मेरे कहने की क्या आवश्यकता है! तुम कहो तो वह अवश्य आएगा।'' कात्यायनी ने नहीं माना–''नहीं माँ, यह बात नहीं, वे तो आँखें बंद किए बैठेंगे और कहेंगे कि मैंने सबकुछ देख लिया है। हम तो खुली आँखों से देखकर आनंद उठानेवाली हैं। हमारी दृष्टि में बंद आँखों से देखने की अपेक्षा खुली आँखों से देखना कुछ ओछी-सी क्रिया होती है। अतएव यह आतंक है कि उन्हें हम जैसा देखने के लिए बुलाना अपराध होगा। किंतु आपकी बात भिन्न है। आप तो माँ हैं। वे आपकी बात नहीं टालेंगे। मेरी व्यथा देखिए। मैं जिसे देख प्रसन्न होती हूँ, चाहती हूँ कि वे भी उसे देखें और प्रसन्न हों। यदि वे उसके प्रति अपनी प्रशंसा व्यक्त न करें तो मुझे संतोष नहीं होगा। पर क्या करूँ, मैं स्वयं बुला नहीं पाती। इसीलिए आपसे निवेदन किया।''

आलंबिनी ने पुत्र को बुला लाने का वचन दिया। कात्यायनी ने कहा–''यदि ऐसा कुछ होता है तो वह दो-तीन दिनों के भीतर ही हो जाना चाहिए। महाराजा

की मासिक ब्रह्मचर्य–वृत्ति अब दो–तीन दिनों में समाप्त हो जाएगी। उसके उपरांत वे भगवान् को अवकाश ही नहीं देंगे, उनके संग व्यस्त हो जाएँगे।''

''हाँ, तुम ठीक कह रही हो। महाराजा ने एक महीने से पयोव्रत रखा है। पर कात्यायनी एक बात है। अन्यों के विषय में तुम्हारे भगवान् वर्ष तक का व्रत करवाते हैं, तो महाराजा के लिए एक ही महीने का नियमन कैसे ?''

''माँ, आप भी कैसी बातें करती हैं ! क्या आपको विदित नहीं ! अन्य माने आप ससुर जी की बात कर रही हैं। उन्हें ऐसी व्यस्तता कहाँ ! महाराजा तो क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणों जैसा सब कुछ तज बैठ नहीं सकते। राजकाज का दायित्व तो होता है। इसीलिए उनके लिए कम अवधि का नियमन है। इसके अतिरिक्त पयोव्रत है, एकांतवास है। ससुर जी तो स्वयं परिवार के एक सदस्य हैं।''

''हाँ, तुम्हारी बात सही है। तो कहो कि तुम्हारे भगवान् को कब लिवा लाऊँ।''

''जब आपको सुभीता हो।''

''आज अभी समय है। मध्याह्न के स्नान के लिए अभी समय आसन्न नहीं हुआ है। आज ही क्यों न बुला लाऊँ?''

आलंबिनी अपने पुत्र को देखने चली। कात्यायनी भी उनके पीछे–पीछे चली। भगवान् बैठक में सुखासीन थे। यद्यपि आँखें खुली रहीं, तथापि मानो आनेवालों को सावधान कर रही थीं कि कहीं कुछ देख तो नहीं रहे हैं।

सास–बहू जाकर उनके सामने खड़ी हुईं। थोड़ा समयानंतर भगवान् ने उन्हें देखा और कहा–''माते, आवाज़ दी होती ?'' वे उठ खड़े हुए। माँ ने हँसते हुए कहा–''न जाने तुम किस लोक में विचर रहे थे। इसीलिए तुम्हें नहीं पुकारा। हाँ, कात्यायनी कुछ पूछना चाहती है।''

भगवान् ने हँसते हुए कहा–''मैं कोई बाघ या भालू थोड़े ही हूँ ! स्वयं आकर कह सकती थी।''

''कुछ विशेष नहीं। आगे की पहाड़ी पर गायें चर रही थीं, कात्यायनी चाहती है कि तुम आकर एक बार देखो।''

''बस, इतनी–सी बात, चलो, अभी जाकर देख लें।'' भगवान् उसी क्षण चल पड़े। कात्यायनी ने यह सोचकर कि रसोई का काम हो गया है, निश्चिंत हो गई। सब साथ–साथ चले।

भगवान् ने पहाड़ी पर चर रही गायों को देखा। पहाड़ी की तलहटी में बह रही नहर को भी देखा। पहाड़ी के इस पार ताल था। सब कुछ देखकर उन्होंने कहा–''सुनो माते, यह सब इसी के कारण हुआ। इसने सहस्र गौ की कामना की थी। साथ-साथ यह भी कहा था कि उनसे हमें कुछ भी कष्ट ने पहुँचे। देवताओं ने तथास्तु कहा। देखो ना, गायें आ गई। उनके लिए गोशाला बनी। पीने के लिए पानी की नहर आई। पानी के संग्रह के लिए ताल बना। इसी को 'संसार' कहते हैं। बढ़ता ही जाता है। हाँ, अब भगवती स्वयं आकर मुझे बताएँ कि क्या-क्या देखना है। हमारी आँखें होने पर भी हम देखते नहीं।''

भगवान् गायें देखने आए–इस कारण से कात्यायनी अपने-आप को खो गई। वह स्वभाव से बोलती कम है। अब तो जब वह आनंद में डूबी हुई है, तब और क्या कहा जाए!

सामने आकर गायें दिखा दीं, वृक्ष एवं चरागाह की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। उसके बोलने का सिलसिला जारी रहा। वह कहने लगी कि इस ढलान में ये सब कितना सुंदर लगती हैं। भगवान् ने सब कुछ सुना। प्रशंसा में सिर हिलाया और कहा–''जानती हो कात्यायनी, इन सबके इतने सुंदर होने का कारण क्या है?''

''नहीं तो!''

''तुम्हारा प्रेम। अपने प्रेम के कारण तुम इन सबको अपना मानती हो। इस अपनेपन के कारण ही तुम्हारी प्रसन्नता दुगनी हुई। तुम इन्हें अपना कहती हो तो प्रसन्नता दुगनी होती है। ऐसे में तुम जब इन गायों, पहाड़ों, जल, आकाश सबको स्वयं के रूप में मानने लगोगी तब आनंद की मात्रा का क्या कहना?''

कात्यायनी इस भाव की अनुभूति करते हुए पलभर के लिए अभिभूत हो गई। आलंबिनी भी तन्मय हो गई, पर कात्यायनी वाली अनुभूति से नहीं।

भगवान् ने फिर पूछा–''उस दिन तुमने कहा था कि ज्ञाननगर की नहर को यहाँ तक लाए हैं। उसके अंत में ताल बना हुआ है। इसी के बारे में बताया था न? चलो, अच्छा हुआ कि मैंने आज इसे देख लिया।''

''आप क्यों कह रहे हैं आज देख लिया! यह तो आपका ही है, आज देखें या न देखें।''

''हाँ, हाँ, देखने पर आप ब्रह्म हैं, न देखने पर भी आप ब्रह्म हैं। किंतु देखेंगे तो आप मुक्त हैं। न देखें तो बद्ध हैं। यही तो अंतर है। अस्तु, आपने पूछा कि मैंने आज क्यों कहा। सुनो, यह तो ज्ञाननगर से यहाँ तक महाराजा द्वारा बनवाई गई

नहर है। यदि वे पूछते कि जल के संग्रह के लिए जो ताल बना हुआ है उसे आपने देखा है तो क्या कहता? नहीं कहता या हाँ कहता ? इसलिए यों कहना पड़ा।''

भगवान् दीर्घावधि तक गौ संपदा देखते रहे। कात्यायनी के गोवत्सों के साथ घुलमिल जाने की बात माता ने कह सुनाई। भगवान् हँसे और प्रतिक्रिया व्यक्त की–'' माँ तुम्हारी बहू के बारे में क्या कहूँ ! इसको हाथी जैसे साँड़ से भी भय नहीं। सुना कि उनके पास जा खड़ी होती है तो उनकी पीठ सहलाती है। तब वे अबोध गोवत्स जैसे इसके पास दौड़ लगाते आया करते हैं।''

''तुम्हें यह सब किसने बताया ?''

''गोपालकों के मुखिया ने मुझे बताया।'' यों गायों के बारे में बात करते हुए वे सब वहाँ थोड़ी देर रहे। बाद में सभी साथ लौट आए।

राजा के ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त हो गई। उनकी देह हलकी हुई है। एकांतवास के कारण मुख पर तेज दृष्ट है। मन अचंचल है। राजमहल में बीते समय की तुलना में वे आजकल यहाँ अधिक शांत हैं।

भगवान् ने महाराजा को बुला लिया। उन्हें मालूम था कि आज उपदेश होगा। उन्होंने राजा को पूर्व की ओर मुख कर बिठाया और स्वयं उत्तराभिमुखी हुए। अपने कमंडल से मंत्रजल राजा पर छिड़क दिया। राजा के अपनत्व का अहसास सांद्र हो गया । वे मूलाधार में अवतीर्ण हुए। पलकें झपकना भुलाकर भगवान् पर उनकी दृष्टि केंद्रित हुई। हथेली ऊर्ध्व दिशा में जाँघ पर स्थिर थी। सारी अंगयष्टि शिथिलता त्याग कर ठुकी हुई, सटी हुई थी।

भगवान् ने मंत्रोपदेश दिया–''प्रज्ञान घनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि।''

मंत्र के प्रत्येक अक्षर ने गोली की तरह कानों के द्वार से देह में प्रविष्ट होकर घर कर लिया।

भगवान् ने कहा–''आँखें बंदकर इस मंत्र का एक सौ आठ बार जाप करें और मुझे बताएँ कि क्या कुछ अनुभव हुआ?'' यों कहकर वे मौन हो बैठे रहे।

राजा ने मंत्र–जाप आरंभ किया। मेरु (मध्यमा एवं अनामिका उँगलियों के मध्य भाग को मेरु कहते हैं।) प्रदक्षिणा द्वारा जो गणना कर रहे थे वह क्रिया भंग हो गई। मुँह में मंत्राक्षरों का उच्चारण भी नहीं रहा। भीतर कहीं जाप चल रहा था।

उनके अंगांगों में किसी तेज के व्याप्त हो जाने का अहसास हो रहा था। जो व्याप गया था उसे तेजस् नाम देने से बेहतर होता कि उसको अन्य रीति से देखा जाए। यदि हम तेजस कहें तो वह चक्षु गोचर रूप बनेगा। किंतु न तो वह रूप है, न

श्रोतृ ग्राह्य शब्द है। न घ्राण से ग्रहण की जानेवाली गंध है। न त्वचा के ज्ञान से ज्ञात होनेवाला स्पर्श है। किंतु स्पष्ट जाना जा सकता है, वह अपने-आप में प्रत्येक है। न घाम है, न शीत, राजा ने आज तक उसे नहीं जाना है, किंतु यह भी कहा नहीं जा सकता कि महाराजा उसको पहचानने में असमर्थ हैं।

अंगांगों में व्याप्त वह तेज अब शनैः-शनैः प्रत्यावर्तित होता रहा। अब उसके अभाव के कारण प्रत्येक अंग चेतनाहीन हो त्रस्त हो चुका था। पर इससे यह भी निष्कर्ष निकाला नहीं जाता कि उसका पतन हो चुका है। बाँस की बनी दीवर में दीमक लग जाने से वह मिट्टी बन जाती है। पर ढाँचा या ठठरी खड़ी की खड़ी रहती है। उसी भाँति चेतना पसलियों के पास एकत्र हो मानो घनीभूत हो चुकी थी। पर उसका आवरण सरककर गिर रहा था। प्रतीत हो रहा था कि आवरण के गिर जाने से वह तेज अन्य सजातीय पिंड के साथ जुड़ गया है। यह जुड़ना स्त्री-पुरुष के आलिंगन-सदृश का योग है। वहाँ न स्मरण है, न विस्मरण। उस एक छोर में अहमिता है तो दूसरे छोर में अस्मिता भाव है। दोनों सूक्ष्म हैं। सूक्ष्माति-सूक्ष्म हैं। अब उन दोनों में योग हो चुका है।

अभी तक मंत्र जाप चल रहा है। अगले ही क्षण वह छोटा-सा पिंड जो था वह प्रत्येकित हो गया। न जाने वह गिरा हुआ आवरण कहाँ से आ गया। वह अब इस पिंड का आवरण बन रहा है। अब वह आवरण पूर्व जैसा तेजोमय नहीं रहा, पर तेजोमय-सा प्रतीत हो रहा है। अब वे सब हृदय के पास एकत्र हो गए हैं। वहाँ तेजोमंडल है और लगता है कि उसमें न जाने क्या कुछ आकर घुल-मिल गया है। धीरे-धीरे वह लघु आकृति धारण कर चुका है। वह चाहता है कि बीचवाला सीधा-सा मार्ग जो है उस पर चला जाए। तभी कोई कहता है–''ठहर जाओ, अभी उस मार्ग पर जाने का समय आसन्न नहीं है।''

''नहीं, मुझे वहीं से जाना होगा।''

''न, तुम हमारी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। जिस ओर हम आकृष्ट करेंगे तुम्हें उसी ओर अग्रसर होना पड़ेगा।''

''तो आप कौन हैं ?''

''हम तुम्हारी विद्या–वासना कर्म हैं। तुम्हारा यही एक जन्म नहीं, बहुत सारे जन्म बीत चुके हैं। उन सभी जन्मों में तुमने जो विद्या अर्जित की,जो कर्माचरण किए, जो वासनाएँ सँजोईं, वह सब हम ही तो हैं।''

''तो मैं कौन हूँ ?''

''उस संबंध में हम कुछ नहीं जानते। उसका निर्णय पितृलोक में होगा। तब तुम्हें नामरूपात्मक देह प्राप्त होगी। ऋषिजन तुम्हारे द्वारा किए जानेवाले कर्मों के लिए आवश्यक ज्ञान प्रदान करेंगे। तुम्हारे भोग के लिए आवश्यक संपदा देवताजन देंगे। तुम एक जीव बनकर जन्म लोगे।''

''तो क्या मेरे पास मेरा कहलानेवाली कोई वस्तु नहीं है?''

''उपचरित (सेवा रूप में)रूप में बहुत कुछ है, पर यथार्थ में कुछ नहीं ।''

''तो तुम हो कर्मवासना विद्या।''

''हम भी अपने समय पर निष्क्रमित होंगी ।''

''निष्क्रमित होने से क्या तात्पर्य है?''

''हम ज्ञान में समा जाएँगी, यों परिसमाप्त हो जाएँगी ।''

''वह कब होगा?''

''भगवान् जैसों की दया जब प्राप्त होगी तब ।''

तब तक वह चैतन्यकण किसी वायु-सागर में उतरता रहा। तभी लगा कि उसे नीचे की ओर खींच लिया गया। अब वह कण बड़ा होता गया। उसमें अंगांग दीखे पूर्व जैसा वह महाराजा बने। अब वे स्वयं रथ पर आसीन थे। वहाँ उसके संग कोई विद्या, कर्म-वासना नहीं थी। राजा जनक रथ में बैठ पथ पर जा रहे थे। अश्व तीव्रगति से आगे बढ़ रहे थे। वहाँ कोई नदी थी उसमें घुस रहे हैं। रथ उसमें प्रविष्ट हो गया। स्वयं रथी को जल के भीतर जाते रहने पर भी जल साँस लेने में अवरोध प्रस्तुत नहीं करता था। रथ जल से बाहर निकला। न जाने अब कहाँ खींच ले जाए। जनक उछल पड़े। तभी वह जागृत अवस्था में पहुँचे, मंत्रजाप चल रहा था।

''अस्तु, मंत्रजाप एक सौ आठ बार हो चुका। अब आप उठें।''

राजा ने आँखें खोलीं। जब उन्होंने आँखें बंद कर ली थीं तब वहाँ जो-जो दृष्ट था वह सब अब भी वहाँ था । भगवान् वहीं दर्भासन पर उनके पार्श्व में अविचलित बैठे थे। स्वयं भी पद्मासन में जाँघों पर हाथ रखे बैठे हुए थे। किंतु एक अंतर आया था।

जिस प्रकार नारियल भीतरवाले पानी के सूख जाने से गरी और कड़े छिलके से विलग हो शुष्क खोपर बन जाता है उसी प्रकार उन्हें अनुभूति हुई कि मैं देह नहीं, उससे भिन्न हूँ।

भगवान् ने अनजान होकर पूछा–''क्या हुआ ?'' राजा ने अपनी संपूर्ण आपबीती सुनाई। जब वे सब कह–सुना रहे थे तब उन्हें यही भान हुआ कि आप स्वयं विलग हैं तथा जो सुना रहा है वह अपने से भिन्न अन्य कोई है। भगवान् ने सुना तो प्रश्न किया–''यह सब क्या है ? कुछ समझ पाए?''

राजा ने विनम्र होकर धीमे से कहा–''नहीं।''

''जब जीव इस देह को तजकर चल पड़ता है तब करणादियों में अवस्थित समस्त चेतना को प्राणदेव आकर्षित कर लेते हैं। प्राणदेव मन के संग हो जाते हैं। विद्या, कर्म एवं वासना–ये तीनों साथ चलते हैं तथा हृदय से सीधे ब्रह्मरंध्र जाने के मार्ग को त्यागकर अन्यत्र कहीं से जीव को बाहर उठा ले जाते हैं। वही तो देहत्याग होता है। आपने वही सब देखा। तभी जीव सषुप्तावस्था को प्राप्त होता है। अब अपने लिए आवश्यक सभी वस्तुओं का सर्जन कर विहार कर जागृति को प्राप्त होता है। यह सब आपने देख लिया। जब देख लिया है तब उसके बारे में पूछते रहना होगा। जानकर उसी का स्मरण करते रहना होगा। उसे स्वयं वही बनना होगा। अस्तु, आज के लिए इतना पर्याप्त है। अभी आप यहाँ दो माह तक रहेंगे न ? तब आप पूछें,अनुभव करें, बस अब उठें।'' अब उन्होंने पूर्ववत् मंत्रजल का संप्रेक्षण किया। जब बाँध टूटता है तब आज तक अवरुद्ध रहा जल जिस प्रकार बढ़ आता है, उसी तरह पूर्व स्मृतियाँ प्रत्यावर्तित हो आईं। अब तक जो कुछ अनुभूत हुआ था, उसको विस्मृत करा दिया था।

शेष अवधि

देवरात के पयोव्रत धारण किए नौ मास व्यतीत हुए थे। वे अब दीक्षित हुए हैं। दाढ़ी एवं शिखा बढ़ी हुई हैं। किंतु उनके आकार में कोई भयावहता दृष्ट नहीं। मुख पर सौम्यता है। नेत्रों में दृष्टि प्रशांत है। किंतु वहाँ कोई अलौकिकता दृग्गोचर है। खोए हुए किसी रत्न की खोज में निरत–सी दृष्टि का एहसास उसमें है। भगवान् के संग रहते समय वे आँखें बंद किए मौन धारण कर बैठे होते हैं। जब वे एकांत में होते हैं तब आँखें खुली रहती हैं, किसी क्रिया–व्यापार में लगी–सी रहती हैं। वे साधारणतया एक हाथ आँखों पर ढाँपे किलकिल हँस पड़ते हैं और कहते हैं–''यों काम रुका

हुआ है। किंतु प्रवाह के आगे हाथ आड़े रखते हैं तो क्या प्रवाह रुकता है! खंड को अखंड बनाने में भी इसी प्रकार का अवरोध है काम। यदि खंड अखंड की ओर उन्मुख होता है तथा खंड यह संकल्प कर लेता है कि मैं अखंड बनूँगा, तब काम को वह साहस कहाँ जो उसमें अवरोध प्रस्तुत कर दे। पर खंड नहीं जानता कि वह भी स्वयं अखंड होता है। इसी से तो काम की मार है, काम का शासन है।''

आजकल उनके मन की धारणा रही कि आलंबिनी स्नान के लिए पानी की व्यवस्था करने हेतु ही आती है। जब भी वह आती है तब वे पूछ बैठते हैं कि क्या स्नान का समय हुआ ? स्नानोपरांत अभ्यास बल से नित्य-कर्म एवं अग्निहोत्र संपन्न कर देते हैं। किंतु आहार स्वीकार के बारे में वे कड़ा संयम बरतते हैं। दूध छोड़ और कुछ नहीं लेते। कभी-कभी कह देते हैं–''आलंबिनी जानती हो कि मैं केवल दूध क्यों लेता हूँ। जो दूध मैं लेता हूँ,उसके तीन भाग होते हैं। एक भाग तो देह के लिए अनावश्यक होकर 'मल' के रूप में बाहर निकल जाता है। दूसरा भाग सूक्ष्म रूप धारण कर रक्त बनता है तथा देह का गठन करता है। उससे भी सूक्ष्म भाग जो है वह मन में समा जाता है। अतएव आहार शुद्धि से सत्वशुद्धि है, फिर मन:शुद्धि। अतएव जो मन:शुद्धि चाहता है उसको चाहिए कि आहार शुद्धि की ओर पूर्ण ध्यान दे।''

एक और दिन की बात है, वे स्वयं आलंबिनी को बुलाकर कहते हैं–''आलंबिनी, तुम्हें हामी भरनी है। ये सारे कर्म हमें सर्वप्रकार के स्वर्गों की प्राप्ति कराएँगे। यह तो सच है। किंतु वे कैसे आएँगे? क्योंकि हमने जो कर्म किए वे पुण्यप्रद थे। यदि इसके विपरीत हम पाप-कर्म करते तो तब क्या होता? पाप-लोकों की प्राप्ति होती। हम जिस प्रकार का कर्म करते हैं क्या उसके विपरीतवाला फल प्राप्त होगा ? मार्ग पर चलने भर से पेट भरेगा? ऐसे में कर्म करने से ब्रह्म मिलेगा? क्या जौ बोने से गेहूँ उगेगा? पर हमसे यह तो नहीं होता कि हम कर्म-हीन रह जाएँ। कर्म न करेंगे तो देह चुप रहेगी ? अतएव कर्म करना ही होगा। यही न, आलंबिनी! हाँ, रहस्य मिल गया। कर्म तो आहार जैसा होता है। अब छोड़ो भी, देह की रक्षा के लिए जो आहार ग्रहण किया जाता है वह भिन्न होता है, तोंद बढ़ा लेने के लिए भैंस जैसा खाया जानेवाला खाद्य भिन्न होता है, यही न? कर्म भी कुछ ऐसा ही है।''

आलंबिनी सोचती है–'यह क्या है ? क्या ये मानसिक संतुलन खो रहे हैं ? या संतुलन खोने की पूर्व स्थिति की बड़बड़ाहट है?'

आलंबिनी के मन की सोच का पता किसी प्रकार उन्हें लग जाता है। वे हँसकर कहते हैं–''क्या तुम सोचती हो कि मैं पागल हो गया हूँ ? हाँ, बताओ पागल एवं चतुर में क्या अंतर है? अन्यों को जो प्रिय लगे ऐसी बातें करते हुए परिणाम की परवाह किए बिना उनको संतुष्ट करने के लिए आचरण करनेवाला चतुर होता है। वही अपने लिए अपने–आप अन्यों की परवाह किए बिना बात करते रहनेवाला पागल होता है। वास्तव में देखा जाए तो इस संसार में अन्यों के लिए अपनी बलि चढ़ाते हुए कुंठित होनेवाला पागल है या अन्यों की परवाह किए बिना अपने–आप होकर रह जानेवाला पागल है ? यदि मेरी बातें तुम्हारी समझ में नहीं आती हैं तो जाकर अपने पुत्र भगवान् से पूछ लो। क्या करूँ ? मैं जो चाहता हूँ, वह उसके पास है। वह अभी मुझे देने को तत्पर नहीं। पर वह दिए बिना भी नहीं रहेगा। अस्तु, जब देना चाहेगा तब दे दे। देना ही पड़ेगा।'' अब आलंबिनी कहती है–''हाँ, हाँ, आपको न कहकर और किसको देगा?'' देवरात ठठाकर हँसते हैं; कहते हैं–''आलंबिनी आश्रम में मैं इसी आशा से आया जो हूँ। कहते हैं कि गंगा–यमुना संगम पर प्राण त्याग करने से मुक्ति मिलती है। पर मेरे लिए इसकी सन्निधि ही, संगम स्थान है। क्यों तुम्हारा क्या विचार है ?''

धीरे–धीरे आलंबिनी पति के इस विचित्र आचरण की अभ्यस्त हो गई। किंतु उसे आश्चर्य भी है। दीर्घकाल से कर्म को ही सब कुछ मानते रहनेवाले आजकल मानने लगे हैं कि कर्म से परे भी कुछ है। कहते हैं कि इसका ज्ञान भगवान् को है, अगर मन करे तो सब दे सकते हैं। तो वह सोचती है–'वे जिसका उल्लेख कर रहे हैं, उसे मैं भी क्यों न पा लूँ?'

आजकल वह भी पति की तरह पयोव्रत पर है। उसके मन में एक इच्छा थी कि उसके एक पोता हो। अब वह भी छूट गया है। वह न जाने कैसे बुझ गई थी, तपती धरती पर गिरी वर्षा की बूँदों की भाँति लुप्त हो चुकी थी। जब पति की चिंता ही उस पर हावी हो गई है; तब और इच्छाओं के लिए अवसर कहाँ?

एक दिन स्वयं भगवान् उनके पास उपस्थित हुए–''माँ, देवताओं ने तुम्हें वरदान दिया है।'' अब आलंबिनी को पति की बात स्मरण हो आई–''वह चाहे तो दे पाएगा।'' तो उसने आँचल पसारकर माँग की। ''अच्छा, दे देना।''

''देवताओं ने तुम्हें स्वेच्छा–मरण का वर दिया है।''

''अर्थात्...''

''माँ, मृत्यु कालकर्म के संयोग से प्राप्त होती है। अब उसके बदले तुम्हें वह तुम्हारी इच्छा से प्राप्त होगी।''

''तब क्या होगा?''

''सुनो माँ, समय आसन्न होने पर शरीर में अवस्थित देव इस शरीर को तज देंगे। यदि उस वक्त वह निष्काम होगा तो मुक्त होगा। सकाम होगा तो इच्छित लोकों को प्राप्त करेगा।''

''तो तुम्हारे पिता जो कहते थे, वह यही है क्या? वे बार-बार कहते रहते हैं–'यदि तुम्हारा भगवान् चाहेगा तो वह दे पाएगा, देगा।' तो उनकी यही आशा है क्या ?''

भगवान् ने हँसते हुए कहा–''हो सकता है। तुम उन सब के बारे में सोचो नहीं। तुमने अपनी कोख से मुझे जन्म दिया। अतएव तुम्हें वांछित लोक मिलेंगे। तुम जो चाहो, कहो। तुम्हारे कहने से पूर्व ही देवता अपनी स्वीकृति देंगे।''

''सुनो बेटे, तुम देख रहे हो कि अब उनकी देह कृश होती जा रही है। मैं अपने मन के आतंक का क्या कहूँ ! इसके बारे में मैं किसी के साथ चर्चा नहीं कर सकती। अगर कहूँ भी तो वे हमारे भाग्य को बदल नहीं सकते। इसीलिए चुप रही। आज निश्चय किया कि तुम्हारे पास आकर बात कर लूँ। अभी तुमने आकर कहा कि देवताओं ने स्वेच्छा-मरण का वरदान दिया है। मेरे मन में दो इच्छाएँ हैं। मैं सुहागिनी रहकर मरना चाहती हूँ। तो मैं उनके पहले जाना चाहती हूँ। किंतु उन्हें औरों के वश में छोड़कर मरना नहीं चाहती। अतएव मेरे लिए स्वेच्छा-मरण ठीक रहेगा। अर्थात् उनकी मृत्यु से एक मुहूर्त पूर्व ही मेरी मृत्यु हो, यह एक इच्छा है।''

''वही होगा। पर दूसरी इच्छा क्या है?''

''अहो, मेरे हृदय में चुभ रहे शूल से मुझे मुक्ति मिले। तुम्हारे आश्वासन से मेरा हृदय हलका हुआ है। अब प्रसन्न हो, तुमसे माँगती हूँ। तुम देवताओं से पूछो वे जब अस्तु कहेंगे, तब वे मेरे द्वारा कहलाएँ।''

''अस्तु, देवता तुम्हारी दूसरी इच्छा जो भी हो पूर्ण करेंगे।''

''सुनो पुत्र ! तुम प्राय: सोचोगे कि पति के प्रति इसके मन में कितना बड़ा मोह है। किंतु मेरी इच्छा है कि मृत्योपरांत भी मैं उन्हीं के संग रहूँ।''

''बस, इतना ही है? माँ तुम्हारे लिए वह क्यों नहीं होगा? तुम दंपति ने बिना विघ्न के अग्निहोत्र किया हुआ है। अतएव तुम दोनों को एक ही प्रकार का फल

मिलेगा। अस्तु, देवताओं ने हाँ कहा है। मेरे आने तक आप दोनों ब्रह्मलोक में होंगे। अपने देहांत के बाद मैं भी वहीं आऊँगा। पुनः हम सब मुक्ति प्राप्त करेंगे।''

''मुक्ति का तात्पर्य क्या है पुत्र?''

''उस स्थिति में मैं और तुम वाला अंतर समाप्त हो जाएगा। जैसे जल में जल समा जाता है वैसे चेतना चेतना में समा जाती है।''

''तुम चाहे कुछ भी कह लो। पर मुझे तो माता, पुत्र, पति-पत्नी वाला नाटक ही अच्छा लगता है। क्या यह भी समाप्त हो जाएगा?''

''यह तो समाप्त नहीं होता। किंतु यदि हम कह दें कि अब बहुत हुआ, तब समाप्त हो जाएगा।''

''मैं क्या जानूँ, यह तुम पिता-पुत्र पर निर्भर करता है। तुम जैसा कहोगे, मैं वैसा करूँगी।''

पक्व फल

कण्व तथा मध्यंदिन भगवान् से मिले। उन्होंने निवेदन किया-''उपनिषद् तैयार है।'' भगवान् ने परिवीक्षण के लिए उसे हाथ में लिया।

''कैसे लिखा गया?''

''आपके आदेश के अनुसार हमने आदित्यदेव की उपासना कर इसको प्राप्त किया।''

''बहुत अच्छा हुआ। जब आदित्य के आदेश पर यह लिखित है, तब हमारे परिवीक्षण का प्रश्न नहीं उठता।''

''वहाँ आपके नाम का उल्लेख है।''

''हाँ, मैत्रेयी एवं मेरे मध्य जो संवाद हुआ उसको उल्लिखित किया गया है। अभी उसमें जो कुछ होना है वह भविष्य का विषय है। हम भी उसी के बारे में विचार कर रहे हैं।''

''हम दो-तीन विषयों का उल्लेख कर नहीं पाए।''

''वे क्या हैं?''

''पहली बात है, यदि कोई अपने को हीन मान बैठा है तो उसको महान् कैसे बनाया जाए?''

''उसमें क्या है! मंत्र-विद्या की सहायता से वह साधित हो सकता है। उसकी शिक्षा आपको मिली है न?''

''हाँ, शिक्षा तो हुई है, पर प्रयोग द्वारा वह सिद्धांत नहीं बना है। इसीलिए मुझे उसके विषय में संदेह हुआ।''

''इस प्रकार के संदेह को श्रद्धा द्वारा नकारा जा सकता है। पर स्मरण रहे, संसार में जो कुछ है वे दो प्रकार के होते हैं—श्रेय और प्रेय। जो संसार के प्रति आकर्षण में बढ़ोतरी करता है वह प्रेय होता है। वही आत्मा के प्रति अभिरुचि बढ़ानेवाला श्रेय होता है। मन की दुर्बलता के कारण तथा श्रद्धा के अभाव के कारण मानव प्रेय को ग्रहण करता है। मन की दृढ़ता एवं श्रद्धा के बलवती होने से श्रेय के मार्ग पर अग्रसर होता है। प्रेयोमार्ग में भविष्य की प्रधानता होती है, वही श्रेयोमार्ग में पूर्वातीत प्रधान होता है। अतएव अन्यों में श्रद्धा पैदा करने के लिए जिस प्रकार मधु-विद्या में वंश का उल्लेख होता है, वैसे ही श्रद्धावानों के लिए इस मंत्र-विद्या के लिए भी वंश लिखिए। तब सब ठीक होगा। जब तक मानव महान नहीं बनेगा, तब तक आत्मविद्या को ग्रहण नहीं कर पाएगा। जो आत्मविद्या को ग्रहण करता है, वह महान् बनता है। अस्तु, दूसरी बात क्या है?''

''हमसे भी श्रेष्ठ पुत्र को पाना हो तो क्या करना होगा?''

''प्रश्न बहुत सार्थक है। किंतु वेदपुरुष ने इसके बारे में निर्णय दिया हुआ है। उसको नातमौद्गल्य, कुमार हारीश एवं उद्दालक अरुणि जानते हैं। उनका अनुसंधान कर उनसे जान लो। अंततोगत्वा उसका तात्पर्य केवल वही है। पति पत्नी द्वारा पुत्र को प्राप्त करता है। अतएव पति पत्नी के साथ कैसा आचरण करता है, इसका महत्त्व होता है। यदि उसके साथ दासी जैसा आचरण करेगा तो दासी-पुत्र बनेगा। इसके विपरीत अपने को वीर मानते हुए पत्नी के मन में वीर-पत्नी होने का अभिमान जागृत करेगा तो उसके द्वारा प्राप्त पुत्र वीरपुत्र बनता है। उपनिषद् का सर्जन होना है तो वह प्रयोग सिद्ध-पुरुषों को देखकर पाई हुई विद्या होनी चाहिए। और कुछ कहना रह गया है?''

कण्व एवं मध्यंदिन ने नमस्कार किया। अनुज्ञा पाकर चले गए।

देवरात दंपति के देहत्याग के बाद एक वर्ष व्यतीत हो चुका था। अब की बार भी धनी व्यक्तियों के घरों में संपन्न होनेवाले विवाह सदृश वैभव के साथ पितृ-

यज्ञ संपन्न हो गया। मासिक श्राद्ध के दिनों में रजत पात्रों में देवताओं को, सुवर्णमय पात्रों में पितरों को, हव्य-कव्य (हव्य—देवताओं के लिए समर्पित वस्तुएँ, कव्य—पितरों के लिए समर्पित वस्तुएँ) दान किया जाता। जब उनकी इच्छा होती तब पितरों को आवाहित कर लेते। उनके लिए बस वह एक क्रीडा मात्र थी।

आजकल भगवान् 'अलं' भाव (अब बस करूँ) में आ गए हैं। अब सब कुछ हो गया, और कुछ नहीं चाहिए वाला भाव दिन-प्रतिदिन हावी हो रहा है। वे प्रारंभ से ही सबके प्रति तटस्थ तथा उदासीन रहे। यदि मन लगाकर श्रद्धा सहित कोई कार्य वे किया करते तो वह केवल अध्ययन एवं अध्यापन ही था। आज भी उसमें श्रद्धा में कमी नहीं आई है। पर पूर्व जैसा उत्साह नहीं रहा। मन में कोई विचार उठे तो 'किं तेन कर्म' (उससे क्या होगा) प्रश्न उठता है। काष्ठ के संपूर्ण जल जाने पर वैश्वानर को चाहिए कि वह राख में तिरोहित हो जाए। किंतु भगवान् के विचार में ऐसा नहीं हुआ है। इसके विपरीत उनका व्यक्त के प्रति वैराग्य में वृद्धि होते-होते उनके तेज में विवर्द्धन हो रहा है। क्या आत्मज्ञान के प्रभाव की परिणति इसी प्रकार की होती है? हम न करते हैं तो वह बढ़ता है। जब हम चाहते होते हैं तब क्या घटता जाता है? प्रायः यह ऐसा ही है। शास्त्र सही बात कहते हैं, अनुभवी भी उसे झुठलाते नहीं। महत्त्व की महनीयता तभी घटती है जब हम कहते हैं चाहिए। चाह के कारण ही अशरीरी शरीरी हो जाता है। शरीर की प्राप्ति के उपरांत जब अकेला रह नहीं पाया तभी उसने 'दूसरे' को अपना साथी बना लिया। फिर ये ही दो आगे चलकर तीन बने,तीन बने तीस; इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते यह अंतहीन विश्व बन गया। ऐसी स्थिति से जो प्रत्यावर्तित हो पाएगा, वह डाल के आश्रय को न काटते हुए तने की ओर बढ़ेगा। उसके तेज में यदि वृद्धि होती है तो इसमें विशेषता क्या!

भगवान् में अब वही अलंभाव बढ़ता गया। एकबारगी उन्हें लगा कि यह बंदरिया नाच कब तक होता रहे! जो फल पक जाता है, वह वृक्ष के लिए भारवत् हो जाता है। उनके मन में अपनत्व मुक्त संन्यास को स्वीकार करने का विचार उठा। किंतु दो सहधर्मिणियाँ हैं—एक ब्रह्मवादिनी है तो दूसरी धर्माचारिणी। बिना दोनों को बताए कैसे जाया जाए?

भगवान् ने सोचा—'अब मेरे लिए करणीय कुछ भी शेष नहीं रहा है। दैव ने मेरे द्वारा एक संहिता, एक ब्राह्मण एवं एक उपनिषद् प्रदान किया है, कभी न बुझते नंदादीप की ज्योति प्रज्वलित की है। उद्दालक जी के गुरुकुल को अर्द्धशताब्दी

तक चलाकर शिष्य-संपदा बढ़ाई है। कण्व एवं मध्यंदिन बड़े विद्वान् बन गए हैं। हाँ, एक कार्य शेष रह गया है, उन्हें कुलपति बनाना होगा। यह तो कोई बहुत बड़ा कार्य नहीं। कावेरी तीर पर एक गुरुकुल की स्थापना करने का आदेश देकर कण्व को दक्षिण की ओर भेजना है। वह समर्थ है,तपस्वी है, विद्या का ज्ञाता है। वह अवश्य गुरुकुल बना पाएगा। मध्यंदिन तो कण्व का अनुवर्ती है। उसे यह आश्रम दे दूँगा। अब दोनों पत्नियों की बात रह जाती है। अरे, मैं किस भ्रम में पड़ा हूँ। जो अंकुर उग आता है, वह अपना आहार स्वयं अपने शीर्ष में धारण किए होता है। ऐसे में मैं उन दोनों का भार वहन करूँ ? यह धारणा कि उन दोनों ने अपना भार मुझ पर डाला है तथा मुझे उसको वहन करना होगा—यही तो संसार है। अस्तु, हे संसार तुम्हें भी संतोष मिले। जब सब कुछ तज रहा हूँ तब किसी को पीड़ा क्यों दूँ?' ये ही सारे विचार उनके मन में उठते रहे।

सदा से नेत्र बंदकर ध्यानासक्त बैठ जानेवाली मैत्रेयी को भगवान् में हुए परिवर्तन का एहसास नहीं हो पाया। किंतु उनकी छाया बनकर सदा उनके साथ रह रही कात्यायनी ने उनमें आ रहे इस प्रकार के परिवर्तन को महसूस किया। किंतु वह भी नहीं जानती थी कि यह परिवर्तन उन्हें कहाँ ले जाएगा। यद्यपि होनी को होने देने का धैर्य उसने धारण कर लिया था, तथापि वह उस बारे में सदा सावधान रहने लगी।

भगवान् ने निर्णय किया कि अब मैं संन्यासी बन निष्क्रमण करूँगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयास भी करना नहीं था। पर पत्नियों से अनुज्ञा तो लेनी होगी। पर दोनों में से किसको सर्वप्रथम यह बात बता दें । आज तक जो था वह था धर्म, सब कुछ संपन्न होने पर ही ब्रह्म है। अतएव सर्वप्रथम कात्यायनी को यह बात बता देनी होगी। बाद में मैत्रेयी को अवगत करा दिया जाए—यही निर्णय था।

''कात्यायनी ऐसा करो। तुम्हारी दृष्टि में हमें जो खाद्य प्रिय हैं, कल उन सब का पाक कर दो।''

कात्यायनी ने पूछा—''कल ही क्यों?''

''हमने संन्यासी बनकर चले जाने का निर्णय लिया है।''

''क्यों, हमसे कोई अपराध घट चुका है ?''

''नहीं, नहीं, तुम सब मेरे लिए अनुकूल रहीं, इसी से हमारा वैराग्य पक्व हो गया। आज हम परम संतुष्ट हैं। इस संतुष्टि का परिचायक है हमारा संन्यास।''

''तो इसीलिए कल वांछित पक्वान्न बनाने की बात हो रही है न?''

''हाँ, यही कि इससे तुम लोगों के स्नेह को तुष्टि मिले।''

''तो आप चाहते हैं कि हमारा स्नेह तुष्ट हो।''

''हाँ, आप दोनों की अनुज्ञा के बिना हमें संन्यास कैसे मिलेगा?''

''तो शिष्यों की सहमति भी चाहिए न ?''

''शिष्य तो हमारे आज्ञाधारक होते हैं। परंतु हमें तुम लोगों का आज्ञाकारी होना होगा।''

कात्यायनी पलक झपकने तक मौन रही। बाद में उसने कहा–''सभी बातों में वह मेरी दीदी है, मैं हूँ उसकी अनुजा। अतएव यह प्रस्ताव सर्वप्रथम आप उनसे किया करें। हमारा क्या है !'' यों कहकर वह वहाँ से चली गई। भगवान् सोचने लगे कि उसके भीतर क्या विचार चल रहा होगा। सब कुछ छोड़कर जाने को उद्यत उन्हें कात्यायनी के मन की बात समझ में नहीं आई।

''अस्तु, उसके कथनानुसार ही आचरण करूँ ? सर्वप्रथम मैत्रेयी के सम्मुख यह बात उठाऊँ? वह तो ब्रह्मवादिनी है। वह स्वीकृति अवश्य देगी। उसके बाद कोई बात ही नहीं रहेगी। कात्यायनी लोकवासना–वासी है। संभव है, उसको पति से बढ़कर संपदा के प्रति मोह हो।'' यों विचारकर भगवान् मैत्रेयी से मिलने चले।

आत्मानां कामाय

मैत्रेयी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि स्वयं भगवान् उसको खोजते हुए आ रहे हैं। वह उठ खड़ी हुई। भगवान् का स्वागत किया। भगवान् ने बात आरंभ की–''मैत्रेयी, मैं अंतिम आश्रम को स्वीकारने जा रहा हूँ। तुम्हारी अनुज्ञा चाहता हूँ। यदि तुम कहो तो तुम्हारे एवं कात्यायनी के बीच किसी प्रकार के आर्थिक पेंच रहने न देकर सारी व्यवस्था कर दूँ।''

मैत्रेयी ने बिना किसी उद्वेग के पूछा–''भगवान् इस प्रकार क्यों विचार करने लगे हैं?''

''बस यही है मैत्रेयी, मैं अमृतत्व की प्राप्ति हेतु संन्यास ग्रहण कर रहा हूँ।''

''अच्छा, आपने आर्थिक पेंच की बात उठाई। यदि मुझे अर्थ मिले तो क्या मुझे भी अमृतत्व की प्राप्ति होगी।''

''वह कैसे संभव होगा, मैत्रेयी ? यदि तुम्हारे पास अर्थ हो तो अन्य अर्थ प्राप्त व्यक्तियों की भाँति देहसुख भोग सकती हो। अमृतत्व आत्मा से संबंधित अवस्था है, उसको अर्थ से प्राप्त नहीं कर सकते।''

''देव, मुझे अमृतत्व के सिवाय और कुछ नहीं चाहिए। आपने मुझे अभिवचन दिया हुआ है। मुझे अमृतत्व दिए बिना आप उसे कैसे प्राप्त करेंगे ? आपने कहा था कि सर्वप्रथम तुम्हें, बाद में मुझे- यही तो आपका वचन-दान था?''

''हाँ, मैत्रेयी, यह तो सत्य है। आजतक मैंने तुम्हें जो कुछ ज्ञान दिया था, उसी को आज संग्रहरूप में पुनरुक्त कर रहा हूँ। सुनो, आत्मा अमृत है। आत्मा ही अमृत है। उसके मार्ग में अवरोध बननेवाली सोच है- यह मानना कि आत्मा विलग है, मैं विलग हूँ। जो यह मानता है कि मैं विलग हूँ और आत्मा विलग है, वह अज्ञ होता है। यों सोचनेवाला जो भी उद्योग करता है वह भस्म में होम करने जैसे होता है। यों अपने को विलग मानने के मूल में कामना ही होती है। काम और मैं इन दोनों को विलग समझ न पाने से ही मोह जन्म लेता है। मैत्रेयी मैंने तुम्हें पत्नी रूप में और तुमने मुझे पति रूप में जो माना है, वह इसी कामना से ही तो है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने से विलग किसी पात्र को पाना चाहता है, तो उसके पीछे यही कामना निहित होती है। यही क्यों, वह सोचता है कि वह विलग रह रहा है। अपूर्ण ही रहा है। उस अपूर्णता से मुक्त होने के लिए साधना के रूप में अन्य किसी की कामना करता है। जब अपने पूर्णत्व की दशा को भुलाकर अनुभव करता है कि स्वयं अपूर्ण है तो किसी और की कामना करेगा। किंतु जब सर्वत्र स्वयं को ही पाएगा तब उसे और क्या चाहिए! और क्या नहीं चाहिए? अब तुम इसी का अनुसंधान करो। यही पूर्णत्व है, यही अमृतत्व है। यही महादर्शन है। जो इसको प्राप्त नहीं कर पाता, उसे बड़ी हानि होती है। उसका जन्म व्यर्थ हो जाता है। जिसको इसकी प्राप्ति होती है, उसे सर्वत्र लाभ ही लाभ है। उसका जन्म सार्थक हो जाता है। वही कृतकृत्य है। वही ब्राह्मण होता है।''

मैत्रेयी ने न केवल इसमें निहित अर्थ को ग्रहण किया, बल्कि अनुभूत किया। अंत में उठकर नमस्कार किया और कहा–''ये ही बातें भगवान् द्वारा कई बार सुनी हैं। किंतु आज की भाँति कभी ग्रहण नहीं किया था।''

''ठीक है मैत्रेयी, एक समय वह होता है जब कि हम उसकी खोज में भटका करते हैं, परंतु वह ही हमारे शोध में निकले वह भी समय होता है। यह दूसरा जो है, वह तो तभी होगा जब हमारे काल एवं कर्म परिपक्व हुए होते हैं। अब वह समय सन्निहित है, इसीलिए यह संन्यास है।''

''आपने जो वरदान दिया था, पुनः उसी की याचना करती हूँ।''

''अर्थात् ।''

''आप तो कहा करते थे कि सर्वप्रथम तुम्हारी बारी होगी, बाद में मेरी। अब आप कह रहे है कि आप संन्यास लेंगे। तब तो संन्यास में आप प्रथम हो जाएँगे।''

''परंतु स्त्री के लिए संन्यास तो नहीं होता।''

''तब वह आपको कैसे साधित होगा?''

भगवान् अब दुविधा में पड़ गए। क्या किया जाए? संन्यास से जो कुछ प्राप्त होना चाहिए वह अभी से प्राप्त है तो ऐसे में संन्यास लेने की क्या आवश्यकता है ? तो विचार किया और अंत में कहा–''मैत्रेयी, अब तुम तो मुक्तिभाजन हो। यदि तुम मुक्त हो जाओ तो मैं भी वांछित आचरण कर पाऊँगा।''

''मेरी समझ में नहीं आया।''

''यह देह तो पंचभूतों से बनी है। तन्मात्रों से अंतःकरण बनता है तो स्थूलभूतों से शरीर। यदि ये तन्मात्राएँ तथा पंचभूत तुम्हें अनुज्ञा देंगे और तुम अशरीर आत्मा में समा जाओगी तो ?''

''तब आपकी अनुज्ञा की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। क्योंकि तब आप अनुज्ञा किससे लेंगे?''

''अस्तु।''

अंतिम उत्सव

आज आश्रम में भगवती की निगरानी में भाँति–भाँति के पक्वान्न एवं भोज्य पदार्थ बन रहे हैं। भगवान् के वैश्वदेव के लिए आने से पूर्व ये सब बनकर तैयार हो जाएँ, अतएव सब कुछ सत्वर हो रहा है।

वैश्वदेव संपन्न हुआ। आज बैठक में पत्रावली बिछी है। केले के अग्रपत्र–बीचोंबीच एक पत्र है, उसके दक्षिण पार्श्व में तीन, वामपार्श्व में दो–हर

पत्रावली में पक्वान्न, पंचान्न, पायस, ससूप-व्यंजन एवं अन्य स्वादिष्ट खाद्य परसे हुए हैं। उनके सामने केले के पत्र से बने बड़े दोनों में सद्योघृत धरा हुआ है।

राजधानी से गार्गी एवं जनक जी पधारे हैं, उनके साथ उनका सीमित परिवार भी आया हुआ है।

भगवान् बैठक में आए। देखा,उन्होंने नहीं सोचा था कि इतना बढ़िया आयोजन उनकी प्रतीक्षा में है। उन्होंने पूछा-''कात्यायनी, यह किसके लिए है?''

''मध्यभाग में जो है वह आपके लिए है। दक्षिण पार्श्व का तो आपके तीनों शिष्यों के लिए है, वाम पार्श्व में दोनों ब्रह्मवादिनियाँ बैठेंगी।''

गार्गी ने बीच में टोकते हुए कहा-''अरी बहिना, कह दो न कि दक्षिण में शिष्य होंगे तो वाम पार्श्व में शिष्याएँ होंगी।''

भगवती ने साथ-साथ उत्तर दिया-''एक तो शिष्या होने पर भी पत्नी है, पर आप कब शिष्या बनीं?''

''जिस दिन भगवान् का सर्वज्ञाभिषेक हुआ, उसी दिन समस्त संसार उनका शिष्य बन गया।''

भगवान् ने अब अपनी बात जोड़ दी-''हाँ, हमने कभी जगद्गुरु का पद मान्य नहीं किया।''

''क्षमा हो तो कहूँ? आपको किसी की कांक्षा नहीं है। जो कुछ कांक्षाएँ हैं, वे सब हमारे लिए हैं। जिस प्रकार अभिषिक्त गजराज का अलंकरण किया जाता है; उसी भाँति हमें भी एक सर्वज्ञ की आवश्यकता थी। इसीलिए महाराजा ने हमें एक सर्वज्ञ जगद्गुरु देने की कृपा की।'' मैत्रेयी ने अपने-आपसे कहा-''हाँ आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति। अपने लिए सब कुछ चाहिए।''

भगवान् ने कहा-''चूँकि मैं महादर्शन के लिए निकल रहा हूँ, इसीलिए ये सारे आयोजन हैं।'' उन्होंने परसे हुए पत्रावली की ओर संकेत किया।

महाराजा सकपका गए और पूछा-''अर्थात्?''

भगवती जी ने कहा-''सुनिए, मैं स्पष्ट कर दूँ। ये आज परिव्राजक बनकर जानेवाले हैं। इसीलिए मुझे आदेश दिया-तुम मुझे जो भी भोज खिलाना चाहती हो बना देना, तुम्हारे स्नेह के लिए संतुष्टि हो जाए। शिष्य कण्व को बुलाकर आदेश दिया-कण्व, तुम दक्षिण देश में कावेरी तट पर एक गुरुकुल की स्थापना करो।

मध्यंदिन को इस आश्रम का दायित्व दे दिया। अब हमारी अनुज्ञा चाही है। उसके मिलते ही 'जै शंकर' उद्गार निकालते हुए निष्क्रमित होंगे।''

गार्गी ने कहा—''हम इन सब बातों से अवगत नहीं।'' महाराजा ने कहा—''हमें जो पत्र मिला था उसमें बस यही लिखा था कि आज बिना चूके भोज में उपस्थित रहें। मैं गार्गी को साथ लिए हाथी पर सवार हो चला आया। परिवार तो आ जाएगा।''

गार्गी उठीं, नमस्कार किया और कहा—''मुझे एक वरदान चाहिए।''

महाराजा, कण्व, मध्यंदिन भी उठे, नमस्कार किया तथा वरदान माँगा।

भगवान् ने भगवती की ओर देखा और पूछा—''तुम?''

वह तो हँसी और बोली—''वे सब आपके लिए बाहरवाले हैं। वरदान माँग रहे हैं। आप मुझसे पूछ रहे हैं। सर्वप्रथम उन सबकी इच्छाएँ पूर्ण करें।''

भगवान् ने कहा—''ठीक है, आप माँग सकते हैं।''

गार्गी ने अमृतत्व की माँग की। भगवान् ने 'तथास्तु' कहा। महाराजा ने इच्छा प्रकट की कि भगवान् अंत तक उन्हीं के देश में निवसित रहें।

कण्व ने कहा—''मेरे गुरुकुल में सपत्नीक पधारें; हमारा आतिथ्य कुछ समय तक ग्रहण करें तथा हमें कृतकृत्य बनाएँ।''

मध्यंदिन ने कहा—''इस आश्रम में और कुछ समय तक रहें तथा मेरे अनुशासन के संबंध में मुझे परामर्श दें। यदि सही ढंग से चलता है तो सम्मति दें, अन्यथा आप ही को पुनः आश्रम का भार वहन करना होगा।''

भगवान् ने कहा—''भगवती क्या कहती हैं?'' वे हँसकर बोलीं—''यदि इन सब को वरदान मिल जाए तो हम मौन ही रह लेंगी। मैंने आज प्रातः यज्ञेश्वर से निवेदन किया था—'मेरे पति को यहीं पर रोक लेना। इतना अनुग्रह कर दें।' उन्होंने कृपाकर इनके मुँह से वरदानों की याचना करवाई है।''

भगवान् पलभर चुप रहे, फिर कहा—''हम जहाँ भी रहेंगे ब्रह्मानुसंधान में निरत रहेंगे। तो कोई भी देश क्यों न हो, कोई अंतर नहीं पड़ता। कात्यायनी अब तुम इन सबको वांछित वरदान प्रदान करना।'' अब सभी प्रसन्न होकर भोजन करने बैठे।

भद्रं शुभं मंगलं।

❖❖❖

देवुडु नरसिंह शास्त्री कन्नड के प्रख्यात लेखक एवं विद्वान हैं। आपने साठ से अधिक कृतियाँ रची हैं। आपने समूचे *योगवासिष्ठ* का कन्नड अनुवाद किया है, जो बाईस भागों में प्रकाशित हैं।

वेद को आधार बनाकर आपने तीन उपन्यासों की रचना की है— *महाब्राह्मण, महाक्षत्रिय* और *महादर्शन*। *महाब्राह्मण* में ब्राह्मणत्व के अर्जन के लिए विश्वामित्र द्वारा किए गए प्रयासों का सजीव चित्रण है। *महाक्षत्रिय* उपन्यास के नायक चक्रवर्ती नहुष हैं जो देवराज इंद्र की अनुपस्थिति के कारण देवताओं के निवेदन पर इंद्र बने और मानवकुल की महत्ता को स्वर्ग में भी प्रतिष्ठापित किया।

प्रस्तुत उपन्यास *महादर्शन* शास्त्री जी की अंतिम कृति है। इसमें भारत के दर्शन क्षेत्र को एक वेद, एक ब्राह्मण और एक उपनिषद के दाता ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य की महान साधना का भव्य संसार दर्शाया गया है। अपने-आप में यह ज्ञान का सागर है। उपन्यास की विधा में इतने गहन विषय का निर्वाह आपके रचना-कौशल को प्रतिभासित करता है।

इस उपन्यास के अनुवादक ***एच.वी. रामचंद्रराव*** कन्नड से हिंदी के महत्त्वपूर्ण अनुवादक हैं। आपने देवुडुजी के तीनों उपन्यासों *महाब्राह्मण, महाक्षत्रिय* और *महादर्शन* का हिंदी में अनुवाद किया है तथा हिंदी से कन्नड में *कबीर वचनावली, श्रीरामचरितमानस* और प्रेमचंद की कहानियों का भी अनुवाद किया है। आपको कन्नड उपन्यास *ग्रामायण* के अनुवाद के लिए मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत किया गया। आपको हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, द्वितीय हिंदी भाषा कुंभ एवं अन्य कई साहित्यिक संस्थाओं ने भी सम्मानित किया है।

आकाशवाणी और दूरदर्शन केंद्रों में वरिष्ठ केंद्र निदेशक के रूप में कार्य करने के बाद सेवा निवृत्त।

आवरण : **जगमोहन सिंह रावत**

अकादेमी द्वारा हिंदी में प्रकाशित कन्नड साहित्य

उपन्यास	लेखक/संपादक	मूल्य
अवधेश्वरी	शंकर मोकाशी पुणेकर अनु. : सी. आंजनेय	160/-
ओ णमो	शांतिनाथ देसाई अनु. : धरणेन्द्र कुरकुरी	150/-
कानूरु हेग्गडिति	के.वी. पुटप्पा 'कुवेम्पु' अनु. : गुरुनाथ जोशी	अप्राप्य
दुर्ग का पतन	टी.आर. सुब्बाराव अनु. : बी.आर. नारायण	200/-
शांतला	के.वी. अय्यर अनु. : हिरण्मय	अप्राप्य
कहानी-संग्रह		
कन्नड लघु-कथाएँ	एल.एस. शेषगिरि राव अनु. : गुरुनाथ जोशी	25/-
पत्थर पिघलने की घड़ी	पी. लंकेश अनु. : धरणेन्द्र कुरकुरी	60/-
नाटक		
सिरि संपिगे	चन्द्रशेखर कम्बार अनु. : बी.आर. नारायण	45/-
विविध		
वड्डाराधना (प्राचीन गद्य कृति)	शिवकोटी आचार्य अनु. : टी.पी. प्रभाशंकर 'प्रेमी' जयललिता	150/-
काव्यार्थ चिंतन (आलोचना)	जी.एस. शिवरुद्रप्पा अनु. : भालचन्द्र जयशेट्टी	125/-
कन्नड लोक-कथाएँ	सिंपी लिंगण्णा, जी.एस. परमशिवय्या अनु. : बी.आर. नारायण	अप्राप्य

ISBN 978-81-260-3233-4

₹ 225

साहित्य अकादेमी